

रचना, आलोचना, शोध, संस्कृति, समाज एवं नए विमर्शों की त्रैमासिक पत्रिका

ISSN 2348-8425

Satraachee

सत्राची

अंक 9

दिसम्बर 2015

प्रधान संपादक : * डॉ. रूपम

संपादक : * आनन्द बिहारी

सत्राची

सलाहकार समिति

- प्रो० शशि शर्मा,
प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, राजनीतिविज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना
E-mail: prof.shashisharma@gmail.com, Mob. 09470609888.
- प्रो० मुक्तेश्वर नाथ तिवारी,
प्राध्यापक, हिंदी विभाग, विश्व भारती, शांति निकेतन। संपादक, विश्वभारती पत्रिका।
Mob No. 09474765831
- डॉ० आशुतोष पार्थेश्वर,
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, ओरिएंटल कॉलेज, पटना सिटी, पटना।
E-mail: parthdot@gmail.com, Mob No. 09934260232
- डॉ० कमलेश वर्मा,
अध्यक्ष, हिंदी विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी,
E-mail: kamleshvermajnu@gmail.co Mob No. 09415256226
- डॉ० राजू रंजन प्रसाद,
अध्यापक एवं आलोचक (इतिहास, हिंदी साहित्य), पटना।
E-mail: rajooranjan@gmail.com, Mob. 08294307626
- डॉ० सुधा ओझा,
अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, जे. डी. वीमेन्स कॉलेज, पटना।
- डॉ० पुष्पलता कुमारी,
अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, मगध महिला महाविद्यालय, पटना।
E-mail : drpushpalatammc@gmail.com, Mob. 09431402736

अंक 9

दिसम्बर 2015

संपादन : रूपम * आनन्द बिहारी

संपादन / प्रकाशन : अचैतनिक / अब्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक :

रूपम एवं आनन्द बिहारी

सालिमपुर अहरा, कदमकुआँ, पटना - 800003.

मुद्रण :

पाकिजा ऑफसेट, शाहगंज, दरगाह रोड, पटना-6.

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

मूल्य : एक प्रति 150 रुपए

सदस्यता शुल्क (लेखकों के लिए) :

पंचवार्षिक	: 3000 रुपए
	: 4000 रुपए (विशेषांक सहित)
आजीवन	: 5000 रुपए
	: 7000 रुपए (विशेषांक सहित)

संपादकीय संपर्क :

डॉ. रूपम / आनन्द बिहारी

C/o - केशव गुप्ता,

केशव कुंज, बॉलिया चॉक, सालिमपुर अहरा, कदमकुआँ, पटना-800003,

website : www.satraachee.weebly.com

E-mail : satraachee@gmail.com

Mob No. : 09470738162, 09661792414

इस अंक के लेखक :

- कमलेश वर्मा, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी।
- आशुतोष पार्थेश्वर, सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, ओरिएंटल कॉलेज, पटना सिटी, पटना।
- भैरव सिंह, प्राध्यापक, हिंदी भवन, शांतिनिकेतन, विश्वभारती, बोलपुर, वीरभूमि, पश्चिम बंगाल।
- एस. एन. वर्मा, एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी।
- पल्लवी प्रसाद, कथाकार एवं अनुवादक, लुधियाना, पंजाब ।
- जगमोहन सिंह, शोधप्रज्ञ, हिंदी भवन, शांतिनिकेतन, विश्वभारती, बोलपुर, वीरभूमि, पश्चिम बंगाल।
- आशुतोष मिश्र, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, बी.डी. पब्लिक स्कूल, बुद्ध कॉलोनी, पटना।
- अर्चना चंदेल, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, नेताजी सुभाषचंद्र बोस, शास. कन्या महाविद्यालय, सिवनी।
- दिलीप राम, सहायक निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
- आर्य सिंधु, शोधप्रज्ञ, हिंदी विभाग, बी. एन. यू., मधेपुरा।
- कृष्णा सिंह, शोधप्रज्ञ, हिंदी भवन, शांतिनिकेतन, विश्वभारती, बोलपुर, वीरभूमि, पश्चिम बंगाल।
- विजय कुमार चौबे, अध्यापक, पाण्डेश्वर कॉलेज, पाण्डेश्वर, वर्द्धमान, पश्चिम बंगाल।
- सुनीता कुमारी साव, शोधप्रज्ञ, हिंदी भवन, शांतिनिकेतन, विश्वभारती, बोलपुर, वीरभूमि, पश्चिम बंगाल।
- हरदीप कौर, सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, श्री गुरुनानक देव खालसा कॉलेज, दिल्ली।
- सुषमा चौबे, पटना।
- मंजरी, अध्यापिका, संस्कृत विभाग, पटना वीमेंस कॉलेज, पटना।
- मनमीत कौर, शोधप्रज्ञ, हिंदी भवन, शांतिनिकेतन, विश्वभारती, बोलपुर, वीरभूमि, पश्चिम बंगाल।
- जितेन्द्र कुमार, प्रखंड शिक्षक, उ. क्र. म. वि., मछबखड़ा, मधेपुरा।
- अर्चना कुमारी, शोधप्रज्ञ, राजनीति विज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना
- संगीता कुमारी, शोधप्रज्ञ, समाजशास्त्र विभाग, मगध महिला महाविद्यालय, बोध गया।
- ज्योतिर्मय, अध्यापिका, हिंदी, वाणिज्य विभाग, मगध महिला महाविद्यालय, पटना।
- शाहीद परवेज़, सहायक प्राध्यापक, रामाबाई गवर्नमेंट वीमेंस पी.जी. कॉलेज, अकबरपुर, आबेडकर नगर, 2241422, उ. प्र.
- पुष्पलता कुमारी, अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, मगध महिला महाविद्यालय, पटना।
- अर्चना जायसवाल, अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, मगध महिला महाविद्यालय, पटना।
- नमिता सिंहा, शोधप्रज्ञ, मनोविज्ञान विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया।
- आलोक रंजन, शोधप्रज्ञ, मनोविज्ञान विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया।
- सुमन मोहन, डी.डी.यू. गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज, वाराणसी, उ. प्र.।
- सुनील कुमार सिंह, शोधप्रज्ञ, मनोविज्ञान विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया।



अनुक्रम

संपादकीय	07
मीमांसा	
1. कविता की चिंता और मैनेजर पाण्डेय कमलेश वर्मा	09
2. अनुग्रह नारायण सिंह का हिंदी लेखन आशुतोष पार्थेश्वर	40
3. 'दुनिया के दुख-द्वंद्व विसारे, मैं घूमूंगा केन किनारे भैरव सिंह	50
4. इतिहास के आइने में हिंदू धर्म एस० एन० वर्मा	57
कहानी	
5. बीबी की कोठरी पल्लवी प्रसाद	64
साक्षात्कार	
6. पी० मणिक्यांबा : स्त्री विमर्श की पड़ताल जगमोहन सिंह	74
पुस्तक समीक्षा	
7. महादेवी के साहित्य का गद्य पर्व	79
8. हिंदी भाषा और संप्रेषण	81
विचार मंच	
9. वृद्धोपसेविनः आशुतोष मिश्र	82
शोधालेख	
10. जबलपुर के स्वातंत्र्योत्तर पत्रकारों का साहित्य एवं समाज में योगदान अर्चना चंदेल	88
11. प्रवासी कवियों की काव्य संवेदना : एक सर्वेक्षण दिलीप राम	93
12. गोपाल सिंह नेपाली की राष्ट्रीय चेतना : स्वरूप और वैशिष्ट्य आर्य सिंधु	100
13. 'महुआ चरित' : एक बीता हुआ कल कृष्णा सिंह	108
14. मार्कण्डेय की कहानियों में चित्रित ग्रामीण समाज विजय कुमार चौबे	112

15. मार्कण्डेय की कहानी : हंसा जाई अकेला सुनीता कुमारी साव	116
16. प्रेमचंद के साहित्य में दलित स्त्री-विमर्श हरदीप कौर	120
17. मृणाल पाण्डेय की कहानियों में पारिवारिक उदारता : एक नई खोज सुषमा चौबे	123
18. मनुस्मृतिकालीन सामाजिक अनुशासन एवं राजदर्शन मंजरी	126
19. भारतीय दर्शन में पारिस्थितिक चेतना मनमीत कौर	130
20. 1857 के विद्रोह की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म का सच जितेन्द्र कुमार	134
21. बिहार का गठन और राजनीतिक लामबंदी अर्चना कुमारी	139
22. भारत में प्रजनन की स्थिति : दशा और गति संगीता कुमारी	143
23. शिवानी के उपन्यासों के प्रमुख नारी चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ज्योतिर्मय	146

English

Research Paper

24. The Making of Hindustani University Shahid Perwez	153
25. Role of Value Education and Spirituality in Gender Equality and Women Empowerment Pushpalata Kumari	156
26. Reading and Writing : Two Skills of Language Learning Archana Jaiswal	162
27. Need Patterns of Drug Abusers and Non-Abusers Among Youths Namita Sinha	167
28. Study of Job Satisfaction Among Industrial Workers Alok Ranjan	173
29. Feminine Perspective in The Plays of John Osborne Suman Mohan	177
30. Work Silence and Job Involvement Among Bank Employees	181



ओबीसी साहित्य की आवश्यकता

उत्तर-आधुनिक दौर की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, जिनमें सर्वप्रमुख है हाशिए पर पड़ी जनता के लिए विमर्शों की स्थापना। हिंदी जगत में इस काम को प्रसिद्ध कहानीकार, उपन्यासकार एवं हंस के संपादक राजेन्द्र यादव ने बखूबी किया है। दलित विमर्श और स्त्री विमर्श को स्थापित करने एवं उसे दिशा देने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। बाद के दिनों में इन विमर्शों ने एक व्यापक सामाजिक व साहित्यिक आंदोलन का रूप अख्तियार कर लिया। स्त्री विमर्श और दलित विमर्श की व्यापकता और बढ़ते प्रभाव ने साहित्य जगत में इसकी अवधारणा को लेकर गंभीर बहस को जन्म दिया, साथ ही इस पर कब्जे की कोशिश भी की जाती रही। लेकिन स्वानुभूति और विचारधारा के तर्क ने सवर्ण और ओबीसी के लेखकों को इस विमर्श में जगह नहीं बनने दी। स्वानुभूति की कोई काट नहीं थी, उसपर आम्बेडकरवाद एवं फूलेवाद की लेप की अनिवार्यता ने दलित विमर्श को दलितों के लिए आरक्षित कर दिया। दूसरी तरफ स्त्री विमर्श ने भी कुछ ऐसी ही दिशा में चलने का प्रयास किया। हालाँकि, इस विमर्श ने स्त्री संबंधी समस्याओं को वैश्विक स्तर पर स्वीकार किया तथा विचारधारा की विविधता ने इसे धार दी, तथापि दलित विमर्श केवल दलितों का और स्त्री विमर्श केवल स्त्री-समस्याओं का साहित्य के रूप में रूढ़ हो गया है।

हिंदी साहित्य की परंपरा को देखें तो स्पष्ट होगा कि इसमें दलितों एवं स्त्रियों की समस्याओं को स्थान नहीं दिया गया। द्विवेदी युग में आकर इस तरफ ध्यानाकर्षण का काम हुआ। इक्का-दुक्का साहित्य भी लिखे गए। लेकिन वह सहानुभूति के स्तर का ही रहा, उसमें स्वानुभूति की धार नहीं थी। आगे चलकर इस तरफ विशेष रूप से ध्यान दिया गया। परिणामतः दलित साहित्य और स्त्री साहित्य के लिए एक नए सौंदर्यशास्त्र की जरूरत पड़ी। इस जरूरत को पूरा करते हुए विमर्शकारों ने इस बात का पूरा खयाल रखा कि इस नई साहित्यिक शैली में भोक्ताओं के अलावा किसी अन्य को स्थान न मिले। और, वे अपनी कोशिश में कामयाब रहे। इसका सबसे बड़ा फायदा यह हुआ कि अन्य तबके (सवर्ण एवं ओबीसी) लोगों ने भी विचार के स्तर पर इसके सौंदर्यशास्त्र की आलोचना की जिससे इसका व्यापक प्रचार प्रसार हुआ। आलोचना का स्वर अमूमन विरोधी एवं आक्रोशपूर्ण रहा। इस संदर्भ में दलित साहित्य पर ही ज्यादा हमले हुए। यहाँ तक कहा गया कि दलित साहित्य किसी की 'बपौती' नहीं है। दलित साहित्य को बपौती न बनने दिया जाय, इस बात को लेकर सवर्ण और ओबीसी के लेखकों ने इस क्षेत्र में काफी काम किया। परंतु, तमाम कोशिशों के बावजूद वे शोध एवं आलोचना के अलावा रचनात्मक स्तर पर दलित साहित्य की सीमा रेखा के भीतर प्रवेश नहीं कर पाए। एक प्रकार से यह दलितों की जीत थी। लेकिन मामला यहीं समाप्त नहीं होने वाला था। साहित्य के क्षेत्र में सवर्णों की समृद्ध परंपरा तो पहले से मौजूद है, इसलिए उन्होंने अपनी परंपरा को पोषित करने का फैसला किया। लेकिन उस रूप में नहीं, जिस रूप में वह केवल तुलसी को आदर्श मानती रही है। इस बार उसने आम्बेडकरवाद और

नारीवाद को एक सोची समझी कूटनीति के तहत स्वीकार किया है। इस तरह सवर्णों ने अपने पारंपरिक साहित्य में आम्बेडकरवाद और स्त्रीवाद को समेटकर एक विस्तृत दायरा बना लिया है। अब वे इसी दिशा में आगे बढ़ रहे हैं।

मुख्य समस्या ओबीसी वर्ग के स्वतंत्र साहित्यिक पहचान की है। उनकी साहित्यिक सेवाएँ या तो सवर्ण परंपरा को पुष्ट करती हैं या फिर दलित परंपरा को। वे तुलसी की कसौटी को स्वीकारें, कबीरपंथी बनें या आम्बेडकरवादी साहित्य की रचना करें, उनके पास कोई खाता है नहीं। उनकी पहचान भाषिक एवं साहित्यिक स्तर पर लगभग गौण है। वे सिर्फ एक बड़ी संख्या हैं, जिनमें विविधता के विभिन्न स्तर हैं। खास बात यह है कि उनकी विविधता ही उनके पहचान की ताकत है। अतः यह विविधता ओबीसी की साहित्यिक पहचान का आधार बन सकती है; क्योंकि विविधता किसी भी जातीय साहित्य की जान होती है। हिंदी एक जातीय भाषा है और इसकी प्रकृति भाषिक एवं सांस्कृतिक विविधता से परिभाषित होती है। यही कारण है कि हिंदी साहित्य में एक साथ अनेक साहित्यिक शैलियाँ प्रचलित रही हैं। अतः इस परंपरा में ओबीसी वर्ग एक नई शैली को जन्म दे सके तो उसका स्वागत करने में कोई हर्ज नहीं है। शर्त यह है कि यह साहित्य दलित अथवा सवर्ण साहित्य की प्रतिक्रिया में न लाया जाय। ओबीसी साहित्य की रचना केवल इसलिए किया जाना चाहिए कि यह भारत का सबसे बड़ा तबका होने के साथ-साथ बहुभाषिकता और बहुसांस्कृतिकता को वहन करने वाला तबका है। वस्तुतः ओबीसी साहित्य भारतीय साहित्य की आत्मा को पकड़ कर चलने वाला साहित्य होगा; अतः इसके रचनाकारों के लिए बहुभाषिकता एक अनिवार्य कसौटी होनी चाहिए। इस बात को मैं कोरे अधार पर नहीं कह रहा। इस बात को कहने का मुख्य आधार मुझे एक विदेशी साहित्यसेवक (हिंदी) से मिला है। गत वर्ष मेरी मुलाकात आस्ट्रेलिया के ला ट्रोब विश्वविद्यालय में कार्यरत हिंदी के प्राध्यापक ईयन वुलफोर्ड से हुई थी, जो बिहार की अनेक भाषाओं को जानते हैं और लोकगीतों पर लंबे समय से शोध कर रहे हैं। वे विशेष रूप से रेणु के अध्येता हैं। बातचीत के क्रम में उन्होंने बताया कि 'हिंदुस्तान एक बहुभाषिक एवं बहुसांस्कृतिक देश है, यहाँ विविधता है जो इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। लेकिन इस सबसे बड़ी विशेषता का प्रतिनिधित्व करने वाला साहित्य गौण है।' उनके बातचीत का स्वर कुछ ऐसा था, जैसे वे कहना चाह रहे हों कि हिंदी साहित्य में सांप्रदायिक एवं जातिवादी स्वर हावी है। चूँकि रेणु का साहित्य ग्रामीण विविधताओं को गहराई से पकड़ता है। इसलिए वे रेणु को अधिक पसंद करते हैं।

रेणु को ओबीसी का साहित्यकार कहा जा सकता है, यह बात मुझे ईयन से बात करते हुए पहली बार महसूस हुआ। बहरहाल, ओबीसी साहित्य की अवधारणा को स्पष्ट करने की कोशिश चल रही है। सुना है कुछ लोग इस विषय पर स्वतंत्र पुस्तकें लिख रहे हैं। यह स्वागत योग्य है।

- संपादक

कविता की चिंता और मैनेजर पाण्डेय

□ कमलेश वर्मा

मैनेजर पाण्डेय ने कविता के स्वभाव पर अपने ढंग से विचार किया है। कविता के समकालीन रूपों से लेकर उसके पुराने तौर-तरीकों को ध्यान में रखकर उन्होंने अपनी कुछ पुस्तकों में जो कुछ लिखा है, उनके आधार पर कविता की एक समझ तक पहुँचा जा सकता है। आलोचना और साहित्य का समाजशास्त्र पाण्डेयजी के लेखन का मुख्य हिस्सा है, इसलिए वे जब कविता पर विचार करते हैं तो मूल आधारभूमि इन्हीं दोनों स्रोतों से लेते हैं। आचार्य शुक्ल के काव्य-चिंतन को 'लोक-मंगल' से खाद-पानी मिलता है तो रामविलास शर्मा को निराला की उदात्तता सर्वाधिक आकर्षित करती है; नामवर सिंह मुक्तिबोध की काव्यानुभूति और संवेदना को अपनी काव्यालोचना का आधार बनाते हैं।

समाज, इतिहास और राजनीति से साहित्य के रिश्ते की पड़ताल मैनेजर पाण्डेय के लेखन में अत्यंत व्यवस्थित रूप में प्रकट हुई है। बेतरतीब बातें लिखना या साक्षात्कारों में कहना उनके स्वभाव में नहीं है। उन्हें इस बात का सदैव ख्याल रहता है कि उनकी चिंता का मुख्य विषय साहित्य है। वे साहित्य की सार्थकता के मानदंडों की तलाश के लिए समाज, इतिहास और राजनीति तक की यात्रा करते हैं। इन तीनों पक्षों के बारे में सही दृष्टि न रखनेवाला साहित्य सार्थक नहीं हो सकता। इसी के साथ इस बात की सावधानी भी जरूरी है कि साहित्य की अपनी भाषिक संरचना की शर्तों को भी ध्यान में रखा जाए। भाषिक संरचना से ही रचना के साहित्यिक और साहित्येतर होने का प्रमाण मिलता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिन्दी कविता को एक विधा के तौर पर पुनर्व्याख्यायित करने का काम प्रभावशाली तरीके से नहीं हो सका। डॉ. नगेन्द्र और उस परंपरा के आलोचकों ने कविता के सैद्धांतिक पक्ष पर संस्कृत काव्यशास्त्र की समझ के अनुसार सोचा-विचारा जरूर, मगर वे उस विश्लेषण को इस लायक नहीं बना सके कि उनके आधार पर समकालीन कविता को तो छोड़ दीजिए, छायावादी कविता की भी व्याख्या ठीक से नहीं की जा सकती थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' को स्थापित तो किया, मगर कविता के बारे में वे कोई महत्त्वपूर्ण स्थापना नहीं दे सके। उनकी पुस्तक कबीर का व्यक्तित्व-विश्लेषण जोरदार तरीके से कर सकी, उनके परिवेश तथा आध्यात्मिक परंपरा-साधना के बारे में शोधपूर्ण पड़ताल कर सकी, लेकिन एक कवि पर लिखी गई यह पुस्तक 'कविता' के बारे में किसी सैद्धांतिक पक्ष को प्रकट नहीं कर सकी। यह पुस्तक कबीर की मान्यताओं को साहित्यिक स्वीकृति दिलाने का काम कर सकी। आचार्य शुक्ल ने कबीर के बारे में अपनी विभिन्न पुस्तकों में जितना कुछ लिखा था, उनसे एक ठीक-ठाक पुस्तक तैयार हो सकती थी। मगर, शुक्लजी कबीर को महत्त्वपूर्ण मानने के बावजूद साहित्यिक स्वीकृति देने के पक्ष में नहीं थे। कुछ ऐसी ही स्थिति रामविलास शर्मा की रही, उन्होंने निराला की कविताओं की भावपक्षीय और कलापक्षीय विशेषताओं का विस्तृत विश्लेषण किया।

रामविलासजी की पुस्तकें निराला को उच्चकोटि के विचारक और बौद्धिक के साथ प्रगतिशील रूप में पहचान बनाने में मदद पहुँचाती हैं। इनमें भी कविता के विधागत स्वरूप पर विचार-विमर्श नहीं मिलता। 'कविता के नए प्रतिमान' में पहला अध्याय है 'कविता क्या है?' पूरे अध्याय को पढ़ जाने के बाद भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता ! इसके 'प्रथम संस्करण की भूमिका' में घोषणा है कि यहाँ 'स्पष्ट प्रतिमान' देने की कोई योजना नहीं है, इसमें प्रतिमान के 'निर्माण' का दंभ नहीं है। नामवरजी की राय है कि 'काव्य-सिद्धांत' 'पाठक की दृष्टि को सीमित और निर्णय को पूर्वग्रह से दूषित करते प्रतीत होते हैं'। यह भी प्रतिज्ञा है कि इस पुस्तक के 'केंद्र में मुक्तिबोध हैं'। मगर इस पहले अध्याय की समाप्ति विजयदेव नारायण साही के कथन से है कि 'कविता के नए प्रतिमान की जरूरत है'। नामवरजी की यह पुस्तक उलझनों और भ्रमों से भरी हुई है। मनोयोगपूर्वक पढ़े जाने के बावजूद ये उलझनें दूर नहीं हो पाती हैं। 'विवाद' का परचम बुलंद है, मगर 'कविता' को एक विधा के तौर पर समझने-समझाने की स्थिति इसमें नहीं बन पायी है।

आचार्य द्विवेदी, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह की काव्यालोचना पर कुँवरनारायण की यह टिप्पणी सटीक बैठती है, "आज भी हिन्दी समीक्षा के सिद्धांत-पक्ष और व्यवहार-पक्ष में यह विषमता बनी हुई है। अधिकांश समीक्षा के पीछे बिल्कुल व्यक्तिगत रुचि और काव्यानुभव रहता है - समीक्षा के सुनिश्चित मानदंड या तो होते ही नहीं, या ऊल-जलूल होते हैं।"

छायावाद के बाद हिन्दी में कविताएँ खूब लिखी गईं, कविता में नवीनता और प्रयोग को लेकर अनेक रोचक दावे किए गए। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता के दौर में कविता के स्वरूप तथा विषय में अनेक विविधताएँ आईं। कवियों ने अपनी कविताओं के बारे में बताने-समझाने का भी प्रयास किया। नई कविता के बाद कविता की कोई भी प्रवृत्ति टिकाऊ नहीं रही, बल्कि कविता के भाव-बोध और रूप-शिल्प की अनिश्चितता बढ़ती गयी। स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श ने कविता के विषय में एक स्थिरता का सूत्रपात तो किया, मगर विधा के तौर पर कविता के बारे में कुछ कहने-करने का प्रयास नहीं कर सका। बड़े आलोचक भी मान कर चल रहे थे कि कविता के बुनियादी प्रश्नों पर विचार करने की जरूरत नहीं है। नामवरजी को तो शंका है कि, "कविता संबंधी बुनियादी सवाल की ओट में किसी पुराने सिद्धांत का सहारा" लेने की कोशिश की जाती है। कविता के बुनियादी सवालों को वे एक तरह से गैर-जरूरी मान लेते हैं। 'छायावाद' पुस्तक को छोड़ दें तो कहा जा सकता है कि उनकी प्रायः सभी पुस्तकों में बुनियादी सवालों को छोड़ने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

'कविता की जमीन और जमीन की कविता' (2010) में नामवरजी के 30 आलेख/भाषण हैं। इन सबका संबंध कविता से है, मगर कविता के विधागत रूप पर कोई विशेष बात इनमें नहीं मिलती। विभिन्न मौकों अथवा प्रसंगों से ये अध्याय जुड़े हैं, जो अंततः हिन्दी कविता के पक्ष हैं। लम्बे अंतराल के बाद नामवरजी की प्रकाशित पुस्तक से उम्मीद थी कि कविता के बारे में उनकी कोई स्पष्ट राय मिल सकेगी। मगर यह पुस्तक इस दृष्टि से निराश ही करती है। 1968 में जो सवाल 'कविता के नए प्रतिमान' में उठाया गया था कि 'कविता क्या है?', वह 2010 में सम्पादित पुस्तक तक अनुत्तरित ही रह गया। जिस सवाल को जरूरी समझ कर आचार्य शुक्ल ने लम्बे समय तक संशोधन कर-करके अपने निबंध 'कविता क्या है?' में उत्तर देने का सफल प्रयत्न किया, उसे नामवरजी 'बुनियादी सवाल' का नाम देकर, उत्तर देने लायक नहीं, सिद्ध करना चाहते हैं।

'रसमीमांसा' में एक उपअध्याय है 'काव्य की भाषा'। इसमें आचार्य शुक्ल ने साफ-सुथरे शब्दों

में कविता की भाषा पर विचार किया है। इसे पढ़कर कविता की भाषा के सम्बन्ध में एक समझ प्राप्त की जा सकती है। इससे यह भी पता चलता है कि कविता की भाषा सामान्य भाषा से कैसे उत्पन्न होती है तथा अन्य विधाओं की भाषा से वह कैसे भिन्न होती है? आचार्य शुक्ल की इन बातों को हिन्दी कविता की भाषा पर लागू करके हम जाँच सकते हैं और स्पष्ट राय बना सकते हैं कि दी गई कविता की भाषा किस दर्जे की है! 'कविता के नए प्रतिमान' में एक अध्याय है 'काव्य-भाषा और सृजनशीलता'। इसमें भी नामवरजी के स्वभाव के अनुसार अन्य लेखकों के विचारों से टकराव की प्रस्तुति है, मगर 'काव्य-भाषा' का सवाल अनुत्तरित ही रह गया है। संभवतः इस सवाल को भी 'बुनियादी सवाल' मानकर नामवरजी ने इस पर बात करना जरूरी न समझा हो!!

'कविता के नए प्रतिमान'(1968) के कुछ वर्षों के बाद रामविलास शर्मा की पुस्तक 'निराला की साहित्य-साधना-2' (1972) प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में रामविलासजी ने मुद्दों पर आधारित कई अध्याय बनाए हैं, जिनकी पुष्टि, उन्होंने निराला के साहित्य से सन्दर्भ लेकर, की है। निराला के विराट साहित्यिक व्यक्तित्व को सामने लाने में इस पुस्तक की भूमिका ऐतिहासिक है। 'कला' शीर्षक से इसमें लगभग पौने दो सौ पृष्ठों का एक खंड है जिसमें 24 अध्याय हैं, जिनका सम्बन्ध प्रायः काव्य-भाषा से ही है।

उदाहरण के तौर पर यहाँ 'अलंकरण' नामक उपअध्याय का उल्लेख किया जा रहा है। अलंकार की सीधी-सादी अवधारणा यही है कि इससे कविता की शोभा में वृद्धि होती है। मगर अलंकारप्रियता या अलंकारों की अतिशयता से कविता के मूल उद्देश्य की हानि होने की संभावना रहती है, इसलिए एक उच्चकोटि का रचनाकार इनका प्रयोग सावधानी से करता है। रीतिबद्ध अलंकृति का विरोध हिन्दी आलोचना में लम्बे समय से होता भी आ रहा है। मगर काव्य-भाषा का एक अनिवार्य-पक्ष है अप्रस्तुत-विधान या अन्योक्ति या रूपकात्मकता। इन सबकी सृष्टि अलंकर-विधान से होती है। अलंकारों का प्रयोग तकनीक के रूप में करने से सफलता संदिग्ध रहती है। 'रसमीमांसा' में आचार्य शुक्ल ने 'भाव या भावना के उत्कर्षसाधन' के रूप में अलंकर की पहचान बताई है। अलंकृति वही सफल है जो कविता में 'भावना' या 'भाव' के 'उत्कर्ष' का 'साधन' बने। कालिदास के बारे में प्रसिद्ध कथन है - 'उपमा कालिदासस्य'। कालिदास की उपमाएँ सटीक होती हैं। वे व्यर्थ की उपमाएँ नहीं देते। उनकी उपमाएँ कविता के भाव को उत्कर्ष प्रदान करती हैं। आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त मान्यता उनके शब्दों में, "अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तुयोजना के रूप में हो (जैसे, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में), चाहे वाक्यवक्रता के रूप में (जैसे, अप्रस्तुत प्रशंसा, परिसंख्या, व्याजस्तुति, विरोध इत्यादि में), चाहे वर्णविन्यास के रूप में (जैसे, अनुप्रास में), लाए जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष साधन के लिए ही।"³

मगर रामविलासजी की मान्यता इसके विपरीत है। 'अलंकरण' नामक उस उपअध्याय में में वे लिखते हैं, "अलंकारों का काम कविता को सजाना है, भावोत्कर्ष में सहायक होना नहीं।"⁴

शुक्लजी और रामविलासजी की अलंकार-संबंधी मान्यता में जब अंतर दिखाई पड़े तो भरोसा शुक्लजी पर ही करना होगा! 'शोभा' को रामविलासजी 'सजाना' तक सीमित कर देते हैं! अलंकार को 'शोभासाधक धर्म' भी कहा गया है! अपनी मान्यता को वे निराला में भी मौजूद बताते हैं, 'यह धारणा निराला में भी है'। पुनः लिखते हैं, 'निराला का अलंकार-प्रेम स्पष्ट है....' इसका अर्थ यह हुआ कि निराला मानते थे कि अलंकारों का काम महज सजावट का है और वे 'भावोत्कर्ष' में सहायक नहीं होते, फिर भी वे अलंकारों से प्रेम करते थे। इसी उपअध्याय में रामविलासजी ने अलंकारहीन भाषा का जिक्क

किया है तथा निराला को इसका प्रशंसक बताया है। फिर, 'नीलिमा' या नीले रंग को निराला का प्रिय उपमान बताते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, "यहाँ वह अलंकार मात्र नहीं, कविता की भाव-संरचना का अभिन्न अंग है।"⁵ 'भाव-संरचना' शब्द पर ध्यान दिया जाना चाहिए! रामविलासजी कहना चाहते हैं कि 'नीलिमा' निराला की कविता में एक ऐसी उपमा है जो 'भाव-संरचना' को समृद्ध कर रही है अर्थात् यह 'भावोत्कर्ष में सहायक' है। रामविलासजी अपनी ही स्थापना का विरोध कर रहे हैं कि "अलंकारों का काम कविता को सजाना है, भावोत्कर्ष में सहायक होना नहीं।"

नामवरजी कविता के 'बुनियादी सवाल' उठाए जाने पर आशंकित हो जाते हैं और रामविलासजी काव्य-भाषा के एक पक्ष पर असंगत तरीके से विचार करते हैं। कुल मिलाकर, कविता के बदलते स्वरूप की स्वीकृति का प्रश्न इन दोनों आलोचकों के सामने है। नामवरजी 'नई कविता' के दौर में लिखी जा रही कविताओं को महत्त्वपूर्ण मानते थे, इसलिए उन्होंने इनकी स्वीकृति का पक्ष लेते हुए इनकी विशेषताओं को उद्घाटित करने का प्रयास किया। साथ ही उन्होंने इन कविताओं के प्रति विकसित गलत समझ को भी दुरुस्त किया। रामविलासजी ने निराला की कविताओं को महत्त्वपूर्ण मानते हुए उनकी विशेषताओं को उद्घाटित किया। मगर इन दोनों प्रयासों में यह कमी रह गयी कि कविता को एक विधा के तौर पर आज के दौर में किस तरह समझा जाए? आचार्य शुक्ल के बाद एक बड़ा कालखंड गुजर जाने के बाद भी यह सवाल बना हुआ है कि कविता के बारे में नई मान्यताएँ क्या हो सकती हैं! बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों तक की कविता के बारे में अपनी समझ दुरुस्त करने के कौन-से तरीके हो सकते हैं! 'कविता क्या है?' का जवाब बार-बार चाहिए। पुरानी परिभाषाएँ अपना बोध धीरे-धीरे खोती जाती हैं अथवा ऐतिहासिक सन्दर्भों में उनकी व्याख्या हो पाती है। 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' आज भी निरर्थक परिभाषा नहीं है, मगर इस परिभाषा की व्याख्या के लिए काव्य-सम्प्रदायों के जिस विस्तृत इतिहास में जाना पड़ता है, उसकी प्रासंगिकता आज नहीं बन पाती है; हालाँकि उस इतिहास का अपना स्थायी महत्त्व है। प्रत्येक पीढ़ी अपनी समझ को पक्का करने के लिए इतिहास-बोध तथा समकालीन-बोध को समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानती है। 'इतिहास के अंत' की घोषणा के भ्रम से अब बौद्धिक वर्ग उबर चुका है। अनेक समाजों ने तो अब जाकर अपने इतिहास को पहचानना और उस पर लिखना शुरू किया है। 'दास्तान मुगल महिलाओं की' नामक पुस्तक में हेरम्ब चतुर्वेदी ने यही दिखाना चाहा है कि मुगलकालीन दौर को ठीक से समझने के लिए उनकी महिलाओं की भूमिकाओं को भी इतिहास का हिस्सा बनाना पड़ेगा। इससे यही पता चलता है कि स्त्रियों का इतिहास तो अब पहचाना जा रहा है ! 'अंत' की बात छोड़िए, अभी तो इस इतिहास की ठीक से शुरुआत भी नहीं हुई है!

आचार्य शुक्ल तक कविता का इतिहास-बोध और समकालीन-बोध अपने संतुलन के साथ प्रायः विकसित होता रहा। कविता के स्वरूपगत विकास का इतिहास-बोध शुक्लजी के लेखन में पूरी चौकसी के साथ मौजूद है। उनके बाद की हिन्दी आलोचना कविता के स्वरूप पर जो भी बात करती है उसमें समकालीन-बोध की मात्रा अधिक है। 'कविता के नए प्रतिमान में' नामवरजी का समकालीन-बोध ही उनकी बहस की ताकत है। मगर 'कविता क्या है?' पर विचार की जरूरत वे महसूस नहीं करते। एक तरह से ऐसे प्रश्नों के 'अंत' की मान्यता इस दौर की हिन्दी आलोचना में चलती हुई दिखाई पड़ती है। आचार्य शुक्ल के बाद मैनेजर पाण्डेय की चिंता इन प्रश्नों पर केन्द्रित होती है और अनेक अर्थों में वे कविता की समझ को दुरुस्त करते हैं। उनकी पुस्तकों में कविता-संबंधी मान्यताओं को देखने-समझने से यह विचार बन सकता है कि उन्होंने उपर्युक्त अभावों को काफी हद तक दूर करने

की कोशिश की है।

मनुष्यता की मातृभाषा

मैनेजर पाण्डेय ने कविता से जुड़ी चिंताओं को 'हिंदी कविता का अतीत और वर्तमान', 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', 'संवाद-परिसंवाद', 'मेरे साक्षात्कार', 'भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य' आदि पुस्तकों में व्यक्त किया है। इन पुस्तकों में फ़ैली कविता-संबंधी सामग्री को क्रमिक रूप से रखकर उपर्युक्त चिंताओं का समाधान निकाला जा सकता है। कविता के स्वरूप, विषय, संरचना, विधागत वैशिष्ट्य, विचारधारा या विमर्श के सन्दर्भ में कविता, छंद और कविता, कविता की समकालीन स्थिति-आदि हिस्सों में बाँटकर इन विचारों की जाँच-परख की जाए तो कविता की एक सार्थक तस्वीर बनने की संभावना हो सकती है।

आचार्य शुक्ल 'हृदय की मुक्तावस्था' को कविता से जोड़ते हैं तो उनके सामने 'आत्मा की मुक्तावस्था' की दार्शनिक कसौटी होती है। वे 'रसदशा' को 'ज्ञानदशा' की उच्च दार्शनिक भूमि से जोड़ते हैं। वे कविता को महज 'शब्द-विधान' नहीं मानते, बल्कि 'हृदय की मुक्ति की साधना' को कविता की भाषा के लिए शर्त के रूप में रख देते हैं। मैनेजर पाण्डेय कविता की कसौटी के लिए कार्ल मार्क्स⁶ जैसे महान दार्शनिक की समझ को अपनाते हैं कि 'कविता मनुष्यता की मातृभाषा है'। मार्क्स ने हैमन (Johann George Hamann, 1730-1788) की कविता-संबंधी मान्यता को अपने एक लेख में उल्लिखित किया था कि, "Poetry is the mother-tongue of the human race." हैमन के पूरे उद्धरण को ध्यान में रखा जाए तो हम पाएँगे कि उनका जोर कविता की प्राचीनता पर है। उनका आशय है कि भाषा के सुव्यवस्थित विकास से भी पहले मनुष्य जाति को अपनी मातृभाषा मिलती है। मानक भाषा से पुरानी होती है मातृभाषा। इस बात को उनके द्वारा दिए गए तुलनात्मक उदाहरणों से समझा जा सकता है, ('just as gardening is older than agriculture, painting than writing'.) जैसे, बागवानी कृषि से पुरानी है, रंगों की कला लेखन से पुरानी है। मार्क्स ने आत्महत्या के सन्दर्भ में इस परिभाषा को याद किया है और कविता को मनुष्य जाति की आत्मीय और भावप्रवण भाषा के रूप में रेखांकित किया है। पाण्डेयजी मार्क्स से इस परिभाषा का सन्दर्भ लेते हैं और उसे विस्तार देते हुए नयी सार्थकता प्रदान करते हैं। वे 'मनुष्य जाति' के बजाए 'मनुष्यता' की बात करते हैं। 'mother-tongue' से कविता की प्राचीनता का जो बोध इस परिभाषा में मौजूद था, पाण्डेयजी 'मातृभाषा' शब्द में आत्मीयता और भावप्रवणता के सन्दर्भ का विस्तार देते हैं। कविता मनुष्यता की पक्षधर होती है। यही उसकी विषय-वस्तु की दिशा होती है। उसका उपयोग मनुष्यता के खिलाफ नहीं किया जा सकता है। कविता की भाषा चाहे जिस स्तर की हो उसमें आत्मीयता की सच्चाई होनी चाहिए। 'बहलाती, फुसलाती आत्मीयता' (मुक्तिबोध) वाली भाषा से रचित कविता 'बर्दाश्त' नहीं होती। ऐसी भाषा में लिखी गई कविता काल की कसौटी पर खरी नहीं उतरती है।

पाण्डेयजी इस परिभाषा को अनेक बार याद करते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, "...कविता मातृभाषा की तरह सहज होती है। मनुष्य अत्यंत घनीभूत सुख या दुख के क्षणों में मातृभाषा की तरह ही कविता से जुड़ता है। मतलब यह है कि जब मनुष्य सुख या दुख के अत्यंत घनीभूत क्षणों में होता है तो उसकी अभिव्यक्ति मातृभाषा में होती है, उसी तरह कविता मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति का सबसे आत्मीय माध्यम है।"⁷

कविता और मनुष्यता के सम्बन्ध पर आचार्य शुक्ल ने पर्याप्त जोर दिया है। 'कविता क्या है?' शीर्षक उनके तीनों निबंधों में इस पक्ष का विश्लेषण अनेक प्रकार से किया गया है। पाण्डेयजी की मार्क्सवादी दृष्टि से कही गई बातों की तुलना आचार्य शुक्ल के इस कथन से की जा सकती है, "मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी से अंतःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं।"⁸

कविता का इतिहास, समाज के इतिहास के अलावा राजनीति के इतिहास से भी जुड़ा है। आचार्य शुक्ल के विश्लेषण की परंपरा में पाण्डेयजी राजनीति को भी जोड़ते हैं। कविता दर्शन से बनती है, मगर समाज के सापेक्ष रची जाती है और राजनीति के सामने एक पक्ष बनकर खड़ी होती है। इतिहास, समाज और राजनीति के तालमेल को समझते हुए मातृभाषा की आत्मीयता से रची गई कविता ही मनुष्यता की रक्षा में सक्षम होती है। कमजोर इतिहास-बोध के साथ रची गई कविताएँ भुला दी गई हैं, "अब तक के इतिहास में वही कविता समाज के लिए जरूरी साबित हुई है, जो अपने समय और समाज के हाशिए पर रहने वाले पराधीन तथा पीड़ित जनसमुदाय की यातना के अनुभवों की आवाज बनी है और उसके संघर्ष की शक्ति भी। आज हम जिस संसार में जीने-मरने के लिए मजबूर हैं, उस पर शासन करने वाली व्यवस्था असामाजिक मनुष्य और अमानवीय समाज पैदा करती है। इसलिए उसके खिलाफ खड़ा होना कविता का धर्म है, क्योंकि वह मनुष्यता की मातृभाषा है। यही कविता की जिंदगी और जरूरत की बुनियादी शर्त है।"⁹

सारांश यह कि कविता मनुष्यता के पक्ष में ही लिखी जाकर सार्थक होती है। उसकी भाषा सहज और आत्मीय होगी, तभी ग्राह्य होगी। ऐसा नहीं होने पर उसमें व्यक्त किए गए कथ्य में कविता-जैसी अभिव्यक्ति नहीं बन पाएगी। कविता प्रायः पीड़ित के पक्ष से खड़ी होती है। पीड़ितों का तिरस्कार करनेवाली कविता स्वयं तिरस्कृत हो जाती है। कविता में यातना के अनुभवों को व्यक्त करते हुए संघर्ष की जिजिविषा प्रकट करने की प्रवृत्ति होती है। आज की कविता को यदि सार्थक होना है तो उसे उन तत्त्वों के खिलाफ खड़ा होना होगा जो आज के समय में मनुष्यता के विरुद्ध हैं। पाण्डेयजी पूँजीवाद के इस दौर के बारे में कहते हैं कि 'असामाजिक मनुष्य' और 'अमानवीय समाज' बनने की प्रवृत्ति तेज हो गई है। मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध और समाज के रूप में उसका अंतःसंबंध पूँजी के हस्तक्षेप से इस कदर संक्रामित हो गया है कि बाजार ने नियामक का रूप धारण कर लिया है। बाजार को मनुष्य की चिंता केवल एक ग्राहक के रूप में है। ग्राहक बनने की योग्यता का विकास ही आज के मनुष्य का कॅरियर है। जो अच्छा ग्राहक है, वही सफल है। ऐसी स्थिति में 'मनुष्यता की मातृभाषा' वैश्वीकरण की बाजारू भाषा के सामने एकबारगी निराश करती हुई मालूम पड़ने लगती है। बाजारू भाषा ग्राहक को लुभाती है, हमारी मनुष्यता को नहीं। बाजार का विस्तार छद्म मनुष्यता को भी रचता है। वह लोकतान्त्रिक सत्ता को बनाने-बिगाड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा है। आज का मनुष्य सत्ता से भी ज्यादा बाजार से प्रभावित होने को मजबूर है। बाजार की शक्तियों से लड़ पाना लोकतान्त्रिक सत्ताओं के भी वश में नहीं रह गया है। यह विकास मनुष्यता के पक्ष में न होकर 'मुनाफे की संस्कृति' के पक्ष में है। इसलिए जरूरी है कि कविता का रचाव इन सबके खिलाफ हो। मनुष्य की आत्मीयता को प्रकट करने वाली यह सबसे पुरानी विधा है। दुनिया की तमाम भाषाओं में कविताएँ रची गईं, ऐसी भाषाओं में भी जिनका लिखित रूप विकसित नहीं हो पाया हो। गद्य की विधाएँ भले ही इनमें न मिलती हों, मगर कविता रचने

की अनिवार्यता मानो मनुष्यता के प्रति मनुष्य की स्वाभाविक पक्षधरता के कारण संभव हुआ हो।

कविता का मूल स्वरूप यही है। यदि अपने मूल स्वभाव को छोड़कर वह कुछ और करने लगती है तो हस्तक्षेप की उसकी ताकत कमजोर होने लगती है इसलिए कविता का इतिहास मनुष्यता का इतिहास है। आदिम जमाने से लेकर आज तक की कविता के सामने ऐतिहासिक शक्तियों के अनेक दौर आए और गए। कविता इन तमाम उत्थान-पतन में अपनी भूमिका निभाती रही और मनुष्यता के पक्ष में खड़ी होकर स्वयं को सार्थक बनाती रही, “मैं मनुष्यता को सम्पूर्णता में जानने के लिए कविता की ओर जाता हूँ। कविता में मनुष्य की मनुष्यता प्रकट और पुष्ट होती है। विभिन्न युगों और देशों के मनुष्य के सुख-दुःख, विजय-पराजय, संघर्ष और विकास को जानने के लिए मैं कविता पढ़ता हूँ। दुनिया भर में कविता का इतिहास मनुष्य की मनुष्यता का इतिहास है। मानव जीवन के रूप और अर्थ के विभिन्न स्तरों की अत्यंत प्रभावशाली अभिव्यक्ति कविता के माध्यम से होती है। किसी देश या काल के मनुष्य की आत्मीय छवि को जानने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन कविता है। किसी जाति की भावना, कल्पना, स्मृति और रचनाशीलता की क्षमता की पहचान उसकी कविता में ही हो सकती है। इसलिए मेरे लिए कविता से जुड़ने का प्रयोजन है ---व्यापक मानवता से जुड़ना।”¹⁰

मैनेजर पाण्डेय कविता की जो पहचान इन पंक्तियों में बता रहे हैं उन्हें किसी भी युग के महत्वपूर्ण कवि-कर्म में देखा जा सकता है। कबीर-तुलसी की कविता हो या ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता ---इन सबमें मनुष्यता के पक्ष से बहस की गई है। यहाँ तक कि परस्पर विरोधी दिखनेवाले कवियों के पास भी मनुष्यता की कसौटी के अपने-अपने तर्क हैं। वर्णाश्रम के विरोधी कबीर और समर्थक तुलसी अपने-अपने काव्यलोक में भिन्न सामाजिक दृष्टि से मनुष्यता के पक्ष की ही तलाश करते हैं। ऐतिहासिक संदर्भ बदलने पर तथ्यात्मक रूप से किसी कवि की वैचारिक सीमा को दिखाया जाता रहा है। मगर, कवि की आस्था मनुष्यता के प्रति सदैव बनी रही है। पाण्डेयजी अपनी बनाई कसौटी पर कवियों का मूल्यांकन भी करते हैं, “इस तरह कबीर ने मनुष्यता को पहले से प्रचलित धर्म, जाति और कुल के ऊँच-नीच के भेदभाव से मुक्त मनुष्य के रूप में देखने की दृष्टि विकसित की और उसे मूलगामी दृष्टि से हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों, उनके आधार-ग्रंथों, उन ग्रंथों से निकली सामाजिक व्यवस्थाओं और उन व्यवस्थाओं की रूढ़ियों की आलोचना की; क्योंकि इन सबसे मानव समाज में तरह-तरह के भेद पैदा होते हैं।”¹¹ कबीर की कविताओं से उदाहरण देते हुए वे ‘ऐसा भेद बिगूचन भारी’ पद उद्धृत करते हैं। कविता से प्रमाण देते हुए अपनी कसौटी की पुष्टि करना और पुनः कवि की सामाजिक-ऐतिहासिक भूमिका को रेखांकित करना कि “उनकी दृष्टि समाज में मनुष्यत्व की भावना विकसित करने के लक्ष्य पर रहती है।”¹² लोक और शास्त्र के द्वंद्व को पहली बार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने व्याख्यायित किया था। नामवर सिंह ने ‘दूसरी परंपरा की खोज’ में इस पक्ष को प्रमुखता से उठाया था। मैनेजर पाण्डेय ने कबीर की कविता के माध्यम से लोक के अंतर्विरोध को रेखांकित किया है। लोक के भीतर भी मनुष्य-विरोधी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, “‘दूसरी परंपरा की खोज’ में शास्त्र बनाम लोक के द्वंद्व की पहचान है, लेकिन लोक के अंतर्द्वंद्वों की चिंता और चर्चा नहीं है जो कबीर के काव्य में मौजूद है। कबीरदास ने बार-बार लोक के अंतर्विरोधों की बात की है और साथ ही लोकमत से शास्त्रमत के सम्बन्धों पर भी ध्यान दिया है।”¹³

मनुष्यता के लिए खतरा केवल ‘शास्त्रीय धर्म का भय’ नहीं होता, बल्कि ‘लोक धर्म का भ्रम’ भी होता है। ‘लोकामति के भोरा रे’ - जैसे पदों में कबीर ने लोकप्रचलित अंधविश्वासों का खंडन किया

है जो 'मनुष्य के आत्मविश्वास' का नाश करते हैं। पाण्डेयजी कबीर को 'द्रष्टा कवि' मानते हैं। 'द्रष्टा' होने का उनका मूल आधार है- 'प्रेम'। प्रेम 'मनुष्यता का पोषक' होता है। कविता और मनुष्यता के अनिवार्य संबंध की पुष्टि कबीर की कविता करती है। 'मनुष्यता की मातृभाषा' में रचे जाने के कारण वह शताब्दियों से, सत्ता के संरक्षण के बिना और विरोध के बावजूद; पढ़ी, समझी और अपनाई जा रही है, "कबीर की कविता की अपार लोकप्रियता का एक कारण उसकी बोलचाल और जीवन-व्यवहार की भाषा है। उसकी बनावट ऐसी है कि वह हिन्दू और मुसलमान, साधु और गृहस्थ, नागर और देहाती, पढ़े-लिखे और अनपढ़, स्त्री और पुरुष सबको अपनी भाषा लगती है। वह जितनी सहज है, उतनी ही अर्थपूर्ण।"¹⁴

पाण्डेयजी कविता की पहचान जिन शब्दों के द्वारा बनाते हैं, उनसे वे कबीर की ही नहीं बल्कि बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में रचनाशील कवि कुमार विकल की कविता का भी मूल्यांकन करते हैं। कवि के अनुसार बननेवाली अलग-अलग कसौटियों के बजाय कविता की कसौटी बनाने की यह कोशिश आचार्य शुक्ल के बाद दुर्लभ उपलब्धि है। व्यावहारिक आलोचना की बहुतायतता और सैद्धांतिक आलोचना की उपेक्षा ने हिन्दी आलोचना में अराजकता की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। सैद्धांतिक आलोचना की अनुपस्थिति आलोचक के मनमानेपन को बढ़ने के मौके देती है ऐसी प्रवृत्ति से आलोचना का विकास नहीं हो पाता है। 'मनुष्यता की मातृभाषा' की कसौटी पर जाँचते हुए कुमार विकल का यह मूल्यांकन उल्लेखनीय है, "कुमार विकल की कविताओं का पाठक यह अनुभव करता है हम एक ऐसी मनुष्य-विरोधी व्यवस्था में जी रहे हैं जो लगातार असामाजिक मनुष्य पैदा कर रही है और वे असामाजिक मनुष्य व्यवस्था और पूरे समाज को अधिकाधिक मनुष्य-विरोधी बनाने में लगे हुए हैं। इस दुश्चक्र में व्यक्ति की सामाजिकता और उसकी मानवीयता हमेशा खतरे में है। इस स्थिति का बोध कराती हुई कुमार विकल की कविता पाठक को एक ओर बेचैन करती है तो दूसरी ओर उसे सामाजिक रूप से संवेदनशील बनाती है। आज के समय में किसी कवि और कविता की सामाजिक सार्थकता इससे अधिक और क्या होगी!"¹⁵

'असामाजिक मनुष्य' और 'अमानवीय समाज' की मौजूदा परिस्थितियों में कुमार विकल का उपर्युक्त मूल्यांकन पाण्डेयजी की व्यवस्थित आलोचना का परिचायक है। सिद्धांत-निर्माण से लेकर व्यावहारिक आलोचना में व्यवस्था बनाए रखना मैनेजर पाण्डेय की स्वाभाविक विशेषता है। व्यावहारिक आलोचना लिखते हुए वे कभी भी प्रवाहपतित नहीं होते। वे ऐसा कुछ नहीं कह जाते जिसकी पुष्टि सैद्धांतिक भाषा में करना उन्हें नहीं आता हो। एक कवि के बारे में कुछ कहते हुए वे सदैव ध्यान में रखते हैं कि साहित्य के इतिहास और आलोचना के विकास के साथ उस बात का तालमेल हो। कुमार विकल भी इसीलिए सार्थक हैं क्योंकि 'मनुष्य की मरती हुई मनुष्यता भी उन्हें बेचैन करती है'। कबीर से लेकर कुमार विकल तक मनुष्यता की चिंता करती कविता और उसकी पहचान करती मैनेजर पाण्डेय की आलोचना-दृष्टि !

नाथूराम शर्मा 'शंकर' की कविताओं पर विचार करने की आवश्यकता अब कम ही महसूस की जाती है। 'परंपरा और नयी चेतना की एकता' को 'शंकर' की कविताओं में विश्लेषित करते हुए वे पुनः अपनी कसौटी पर पहुँचते हैं। 'संवत् 1953-54' शीर्षक एक लंबी कविता 1894 में छपी थी। इस कविता में शंकर ने किसानों की दुर्दशा का चित्रण किया था। इस कविता की कुछ पंक्तियों को उद्धृत करने के बाद मैनेजर पाण्डेय 'मनुष्यता' की कसौटी पर मूल्यांकन का पक्ष लेते हैं, "जो लोग रसराज

शृंगार से कविता का दूर जाना उचित नहीं समझते या जो व्यंजना से नीचे की भूमि पर कविता का आना पसंद नहीं करते, संभव है, उन्हें यहाँ कविता दिखाई न दे। लेकिन जो कविता को मानवीयता से संपृक्त देखना चाहते हैं, उनकी मानवीयता को जगाने में यह कविता सक्षम है”¹⁶

पाण्डेयजी अपने प्रिय कवि नागार्जुन की ‘समग्रतावादी काव्य-दृष्टि’ के मूल में अपनी इसी कसौटी को देखते हैं, “नागार्जुन कविता को मनुष्यता की मातृभाषा मानते हैं, इसलिए उनकी कविता मनुष्यता की रक्षा के लिए लड़ने वाले मनुष्य की भाषा बोलने वाली कविता है।”¹⁷ मनुष्यता की रक्षा के लिए लड़ने वाले लोगों की पहचान का एक आधार आन्दोलनों का इतिहास भी है। आजादी के पहले भी और उसके बाद भी जनता को आंदोलनों की जरूरत रही है। पाण्डेयजी अनेक बार लिख और कह चुके हैं कि आजादी के बाद के भारत के आंदोलनों का इतिहास अगर जानना हो तो नागार्जुन की कविता उसका एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है, “नागार्जुन मुख्यतः राजनीतिक कवि माने जाते हैं। उन्होंने भारत और दुनिया के राजनीतिक व्यक्तियों पर जितनी कविताएँ लिखी हैं उतनी शायद ही किसी अन्य कवि ने लिखी हों। उन कविताओं के आधार पर आजादी के बाद की भारतीय राजनीति की वास्तविकताओं, विडम्बनाओं और विरूपताओं का इतिहास लिखा जा सकता है। नागार्जुन की वे राजनीतिक कविताएँ विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं जो जन आंदोलनों पर हैं”¹⁸

अपनी बात को विस्तार देते हुए वे लिखते हैं कि नागार्जुन केवल किसानों-मजदूरों की कविता नहीं लिखते बल्कि छात्र आंदोलनों का बारीक चित्रण करते हैं। नवादा जैसी छोटी जगह पर 1955 में हुए इस आन्दोलन का शिकार ‘महेन्द्र’ और ‘वासुदेव’ जैसे विद्यार्थी हुए थे। नागार्जुन ने इस घटना पर कविता लिखी। पटना के बी.एन. कॉलेज में दीनानाथ को पुलिस ने गोली मार दी थी। इन शहादतों का इतिहास खत्म हो जाता यदि नागार्जुन जैसे सचेत कवि हमारे समाज में नहीं होते। ये सारे संघर्ष मनुष्यता के पक्ष से किए गए जनवादी संघर्ष थे। नागार्जुन की इन कविताओं को अच्छी कविता की श्रेणी में स्वीकृति प्राप्त करने के लिए जो संघर्ष करना पड़ा उसे समझने के लिए भी इन आंदोलनों के ऐतिहासिक क्रम और महत्त्व को समझना पड़ेगा। नागार्जुन की सामाजिक चेतना मूलगामी है। वे भारतीय समाज के तीन निम्न वर्गीय समुदायों को अपनी कविता का विषय बनाते हैं-आदिवासी, दलित और स्त्रियाँ। इन तीनों वर्गों के शोषण और पीड़ा को नई शब्दावली में नागार्जुन की कविताएँ व्यक्त करती हैं। पाण्डेयजी विस्तार से ‘नागार्जुन की कविता की दुनिया’ नामक आलेख में इन प्रसंगों पर विचार करते हैं।

कविता के मूल्यांकन का एक आधार ‘मनुष्यता’ को बनाए रखने की कोशिश का ही नतीजा है कि वे नागार्जुन की उन कविताओं की सार्थकता को स्थापित कर पाते हैं जिनके बारे में प्रायः यही राय मिलती थी कि इनमें कविता कहाँ है, ये तो बस ऐसे ही लिख दी गई हैं, इनमें कवि ने कोई गंभीर बात कहाँ कही है? ‘यह तुम थी’, ‘लच्छो की अम्मा’, ‘मेरी नवजात सखी’, ‘हमारा यह प्रतिनिधि’, ‘चौथी पीढ़ी का प्रतिनिधि’, ‘गुलाबी चूड़ियाँ’ आदि अन्य कुछ कविताओं का हवाला देते हुए पाण्डेयजी अपने मानदंड को पुनः आधार बनाते हैं, “नागार्जुन के काव्य संसार का एक बड़ा भाग मानवीय सम्बन्धों की अनुभूतियों को व्यक्त करने वाली कविताओं से भरा हुआ है”¹⁹

कविता को मनुष्यता से जोड़ने पर जोर देने की बात मैनेजर पाण्डेय ने पहली बार की है। कविता और मनुष्यता के सम्बन्ध पर विचार उनके पहले भी हुए हैं। आचार्य शुक्ल ‘रसमीमांसा’ में जब लिखते हैं कि कविता की जरूरत जानवरों को नहीं होती, तब वे प्रकारांतर से मनुष्यता और कविता के अनिवार्य रिश्ते की ही बात कर रहे होते हैं। पाण्डेयजी की उपलब्धि है कि उन्होंने इसे सैद्धांतिक रूप दिया और

व्यावहारिक आलोचना प्रस्तुत करके इसकी पुष्टि भी की।

त्रिलोचन की किसान-दृष्टि की विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए वे मनुष्यताविरोधी ग्रामीण-परिस्थितियों को भी रेखांकित करते हैं। लोक की रूढ़ियों को कबीर के सन्दर्भ में पाण्डेयजी ने ही पहली बार ध्यान आकृष्ट कराया है - 'लोका मति के भोर रे'। लोक में सब कुछ सही नहीं होता, उसके प्रगतिशील तत्त्वों का ही समर्थन किया जा सकता है। त्रिलोचन की कविता के पास यही नजरिया है, "उनकी दृष्टि एक सजग किसान की दृष्टि है जो उस जीवन को जीते, देखते-सुनते और समझते हुए कवि को मिली है, इसलिए उसमें किसान-जीवन से आत्मीयता और तादात्म्य है, लेकिन उस जीवन में मौजूद रूढ़ियों की आलोचना भी है। उनकी दृष्टि किसान-जीवन की समग्रता को देखती है। वह उस जीवन की शक्ति के स्रोतों की खोज करती है तो जड़ता की जड़ों प्रहार भी करती है। त्रिलोचन इसी सजग किसान-दृष्टि से प्रकृति, समाज और विश्व को देखते हैं। मानवीय सम्बन्धों और भावों के उनके बोध में भी वही दृष्टि सक्रिय रहती है।"²⁰

मनुष्यता के प्रश्न को रघुवीर सहाय की कविता के सन्दर्भ में तलाशते हुए पाण्डेयजी लिखते हैं कि वे पत्रकारिता के पेशे से जुड़े रहने के कारण ब्यौरों के महत्त्व पर जोर देते हैं। मगर अखबार अनेकशः 'अमानवीय दिलचस्पी' लेते हुए दिखाई पड़ते हैं। इन खबरों में खोई हुई चीख की खोज करके रघुवीर सहाय कविता रचते हैं, "रघुवीर सहाय की कविता में मनुष्य और मानवीय अनुभव कई दूसरे कवियों की तरह कविता के लिए केवल बहाना नहीं होते। उनकी कविता मानवीय अनुभव और मानवीय रिश्तों को हर तरह के हमलों से बचाती है, हमला चाहे अखबार का हो या झूठी कविता का। जैसे अखबार में मानवीय सच्चाई खो जाती है, वैसे ही काल्पनिक दर्द की कविताओं में मानवीय संवेदना झुठलाई जाती है"²¹ मनुष्यता का पक्ष लेती और टेलीविजन के तौर-तरीके पर व्यंग्य करती यह कविता देखने योग्य है

:

"कभी-कभी वह दिखला देता है भूखा-नंगा इनसान।

उसके ऊपर बजा दिया करता है सारंगी की तान।"²²

अदम गोंडवी की गजलों और नज़्मों पर विचार करते हुए पाण्डेयजी लिखते हैं, "अदम गोंडवी की कविता आज की हिंदी कविता की दुनिया में अचरज की तरह है। आज की हिन्दी कविता के रूप, रंग, दिशा, दृष्टि, बनावट, सजावट और पहुँच की इच्छा से एकदम अलग और बेपरवाह। वह उनकी कविता है जिनके लिए अब कोई कविता नहीं लिखता। वह गाँव के गरीबों, दलितों, असहायों, मजदूरों, किसानों और सतायी जाती औरतों की कविता है। ऐसी ही कविता को कार्ल मार्क्स ने मनुष्यता की मातृभाषा कहा था"²³ और इसकी असली पहचान होती है दर्द को समझने से। दर्द देनेवाला मनुष्यता को भला क्या समझेगा, अन्याय के पक्ष में होकर कविता लिखने का छद्म तो किया जा सकता है मगर उसे कविता की कसौटी पर खरा नहीं उतारा जा सकता है। ऐसी कविता भुला दी जाती है, क्योंकि संवेदना को भ्रमित तो किया जा सकता है मगर उसे अन्यायी का पक्षधर नहीं बनाया जा सकता है। कविता संवेदना के अनुसार लिखी गयी हो या विचार के अनुसार, उसे मनुष्यता की तरफ से बोलना ही पड़ेगा। कविता की भाषा यदि अर्थ-संबंधी भ्रम पैदा करती है तो उसकी व्याख्या को मनुष्यता के अनुकूल होना पड़ेगा। अदम लिखते हैं -

"मानवता का दर्द लिखेंगे ।

माटी की बू बास लिखेंगे"²⁴

और

“भूख के अहसास को शोरो सुखन तक ले चलो।
या अदब को मुफलिसों की अन्जुमन तक ले चलो।”²⁵

पूरन चंद्र जोशी (पी.सी.जोशी) समाज, संस्कृति और साहित्य के चिन्तक के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। उनके काव्य-संग्रह ‘इत्यादि जन’ की कविताएँ ‘अखिल भारतीय कविता’ कही जा सकती हैं। हिन्दी और उसके अलावा अन्य क्षेत्रों के इत्यादि जनों की चिंता करती ये कविताएँ मनुष्यता को पूँजीवाद के चक्रों की काट के रूप में प्रस्तुत करती हैं। आर्थिक शोषण के ज्ञात-अज्ञात यंत्रों-तंत्रों के बीच इत्यादि जनों के यथार्थ को समझना बहुत कठिन काम है। शोषक अब शुभचिन्तक बन कर सामने आता है। मार्क्स ने पूँजीवाद के जिस अथाह पाखंड की बात की थी वह ‘माया महाठगिनी’ की तरह हमसे जब प्रत्यक्ष होती है तब उसकी चालाकियों को समझना और उनसे बचना आसान नहीं होता है। कबीर की भाषा में समझना चाहें तो कह सकते हैं कि वह ‘तिरगुन फाँस’ लिए रहती है और ‘बोलै मधुरै बानी’। इन सबके बीच एक कवि मनुष्यता के सूत्रों को पकड़ता है और पर्दाफाश करता है कि इतिहास और संस्कृति के क्रम और पैमाने भी कृत्रिम रूप से रचे जाते हैं, इनसे सावधान रहने की जरूरत है - “उसे ही कहते हैं इतिहास

जो लिखा जाता है समर्थों के हित में
समर्थों के हक में”²⁶

समाज और संस्कृति के विद्वान् पी.सी.जोशी की कविताएँ ‘ज्ञानात्मक संवेदना से उपजी’ हैं। उन्हें भारत की अर्थव्यवस्था की बारीकियों की समझ है और समाज-संस्कृति की बुनावट पर गहरी पकड़। तेजी से बढ़ती जा रही करोड़पतियों की सूची भारत की प्रगति का नहीं विनाश का सूचक है। किसानों की आत्महत्याओं की सूची से करोड़पतियों की सूची का मिलान किया जा सकता है। इनसे भी लंबी सूची उन किसानों की है जिन्होंने किसानी छोड़ दी है, “अब भारत के अनेक अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री यह मानने, लिखने और कहने लगे हैं कि आज के भारत में दो भारत हैं। एक अमीरों का भारत और दूसरा गरीबों का भारत। पहले भारत के निवासी भूमंडलीकरण के रथ पर सवार होकर विश्व नागरिक और उत्तर-आधुनिक बन रहे हैं जबकि दूसरे भारत के इत्यादि जन मध्ययुगीनता और आधुनिकता के बीच में फँसकर कराह रहे हैं।”²⁷ ‘पहला भारत’ में पी.सी.जोशी धनाढ्यों के बारे में लिखते हैं-

“यह
पहला भारत
भोग-लोलुप
नव धनाढ्य का
भारत ---

ये हैं
नव धनाढ्य
आजाद भारत के
जो यहाँ रह कर भी

मन से हैं
एन.आर.आई. ²⁸

जाहिर-सी बात है कि 'पहला भारत' और दूसरे भारत के बीच अनेक असंगत बातें होंगी। साहित्य के बारे में इन दोनों के बीच मतभेद होंगे, 'पहला भारत' दूसरे भारत का शोषण तो करेगा (क्योंकि उसके वजूद का यही आधार है) मगर उस शोषण के पक्ष से कविता नहीं रच पाएगा। यदि वह कविता रचना चाहेगा तो उसे किसी मानवीय विषय की तलाश करनी होगी। 'सीस उतारै भुईं धरै' की प्रक्रिया को अपनाए बिना कविता के 'घर' में कोई पैठ नहीं बना सकता। जी.शंकर कुरूप ने भी 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक कविता 40 के दशक में मलयालम में लिखी थी। यह 'ओटक्कुषल' ('बाँसुरी' शीर्षक से अनूदित) नामक काव्य-संग्रह में संगृहीत है। इसमें 'कुकुरमुत्ता' सामंती दंभ और अहंकार का प्रतीक है। 'किसान के श्रम और कृषि से मानव संस्कृति के अन्तरंग सम्बन्ध' को रूपायित करने वाले कुरूप ने मजदूरों की भी कविता लिखी है। 'नाय्क्कन' मजदूरों का एक वर्ग है जो मिट्टी खोदकर जीवन निर्वाह करते हैं -

“उसके चेहरे पर केवल दाँत हैं, जो पिचके नहीं,
लम्बी-लम्बी भुजाएँ हड्डी-चमड़ी मात्र बन गयी हैं
एक फटा पुराना भीगा चिथड़ा है तन पर
भीषण हवा का, और
मूसलाधार वर्षा का सामना करने के लिए”²⁹

मैनेजर पाण्डेय मलयालम के इस प्रसिद्ध कवि की अनूदित कविताओं पर विषय-वस्तु की दृष्टि से विचार करते हुए पीड़ित मानवता की पक्षधरता को ही रेखांकित करते हैं, “जी.शंकर कुरूप की काव्य-संवेदना में एक गहरी बेचैनी है, जो समाज में व्याप्त विषमता और किसानों, मजदूरों तथा दलितों की दुर्दशा के बोध से पैदा हुई है। वही बेचैनी उन्हें विषमता को मिटाकर समता की स्थापना के बारे में सोचने की प्रेरणा देती है, इसीलिए वे कुकुरमुत्ता और नाय्क्कन आदि कविताओं में सामाजिक क्रांति की संभावना की बात करते हैं।”³⁰

कविता मनुष्यता के खिलाफ नहीं हो सकती। अन्याय और दमन से मुँह फेरकर कलावादी कविताओं के दौर भी आते रहे हैं। मगर कलावादी कविताएँ भी मनुष्यता के खिलाफ बयान नहीं देती हैं। वे अन्याय के विरुद्ध बोलती भले नहीं हैं, मगर अन्याय का पक्ष भी नहीं लेती हैं। मनुष्यता की मातृभाषा के रूप में कविता की पहचान आद्यंत दिखाई पड़ती है। मैनेजर पाण्डेय सिद्धांत और व्यवहार की एकता को कविता की आलोचना में आचार्य शुक्ल की तरह कायम रखते हैं। उन्होंने कबीर से लेकर आज तक के एक दर्जन से अधिक कवियों के बारे में लिखा है, मगर कवि के अनुसार मानक बदलते हुए आलोचना के असंगत उपकरण तैयार करने की भूल वे नहीं करते हैं।

पाठ की विधा

मैनेजर पाण्डेय कविता को मूलतः पाठ की विधा मानते हैं। काव्य-पाठ से कविता का अर्थ खुलता है। लिखित रूप प्राप्त करने के बाद कविता में अनेक परिवर्तन आए। इन परिवर्तनों की अच्छाइयाँ-बुराइयाँ अपनी जगह हैं, मगर बुनियादी रूप से सुनने-सुनाने की विधा होने के कारण कविता

में सामूहिकता-सामाजिकता का भाषिक-विन्यास बना रहता था। कविता से एक उम्मीद होती थी कि उसमें कुछ ऐसा होगा जिसे सामूहिक रूप से आस्वादित किया जा सके। उसकी भाषा में वह अपील होगी कि समूह तक पहुँच सके। वह रहस्य-गर्भित होकर भी ऐसी होगी कि प्राथमिक बोध में बाधा नहीं पहुँचे। कविता ने अनेक बंधनों को तोड़ा। विषय-वस्तु और छंद के प्रति परिवर्तन का आग्रह कवियों में प्रायः देखा गया। इन पर बहसों हुईं और कविता क्रमशः शर्तों से मुक्त होती गयी। पांडेयजी की चिंता यह है कि आज के पूँजीवाद ने 'संस्कृति के उद्योग' का विस्तार पर्याप्त मात्रा में कर लिया है। कविता भी इस दोष का शिकार हुई है। कविता का सामाजिक जीवन प्रायः नष्ट हो चुका है। कविता पढ़ने वालों की संख्या कम हो गयी है और सुनने वालों की संख्या और भी कम,

“मौखिक कविता के काल में कवि का अपने श्रोताओं से जो आत्मीय संवाद था, वह लेखन का दौर आने पर खंडित हुआ, लेकिन मुद्रण के दौर में लेखक और पाठक के बीच बाजार के आ जाने के कारण दोनों के बीच का बचा हुआ संवाद भी टूट गया। ... आज की कविता के सामने एक बड़ा संकट संस्कृति के उद्योग का विस्तार है। इससे समाज में कविता की जरूरत खतरे में है और उसका अस्तित्व भी। उसकी सार्थकता के बारे में तरह-तरह के सवाल खड़े हो रहे हैं”³¹

आज कविता के लिए सबसे जरूरी पक्ष यह बन गया है कि वह अपनी अनिवार्यता को सिद्ध करे। कविताएँ लिखी भी जा रही हैं और छप भी रही हैं। मगर पठनीयता का संकट उसके साथ लग गया है। कहानी-उपन्यास तो छोड़िए, वह आलोचना से भी कम पढ़ी जा रही है। कविता के सन्दर्भ में मौखिक-लिखित-मुद्रित की प्रक्रिया पर पांडेयजी ने हिन्दी आलोचना में संभवतः पहली बार विचार किया है। उन्होंने कविता की स्वीकार्यता की प्रकृति की खोज मानो इन शब्दों में की है,

“कविता की जिन्दगी के लिए श्रव्य परंपरा के महत्व की पहचान आज भी कई जगह मिलती है। आज भी उर्दू का हर शायर गजल या शेर कहता है, लिखता नहीं, जैसा कि हिन्दी के कवि करते हैं। बांगला में आवृत्ति की परंपरा ने कविता की सामाजिकता की रक्षा की है और उसे नई जिंदगी दी है। हिन्दी कविता को संस्कृति के उद्योगों के खतरों से बचाने के लिए उसके श्रव्य रूप की चिंता जरूरी है”³²

कहा जा सकता है कि मैनेजर पाण्डेय कविता के विधागत स्वरूप पर विचार करते हुए दूसरी महत्वपूर्ण बात यही कहते हैं कि कविता के श्रव्य रूप की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। यही इसका मूल स्वरूप है। विकास की प्रक्रिया में यदि विधाएँ अपनी सार्थकता खोती हुई दिखाई पड़ें तो उसकी 'मूल सत्ता' (आचार्य शुक्ल) पर पुनर्विचार जरूर करना चाहिए। पूरी तरह पीछे लौटने का औचित्य तो कभी नहीं हो सकता, मगर आत्मालोचन में इससे मदद मिल सकती है। श्रव्य रूप की चिंता किसी पुनरुत्थान का आग्रह नहीं है, बल्कि साहित्य के समाजशास्त्री के रूप में इसकी सार्थकता पर विश्वास करने के कारण है,

“साहित्य की संस्कृति में मौखिक से लिखित के अलगाव का सर्वाधिक दूरगामी प्रभाव कविता पर पड़ा। उससे कविता का आंतरिक स्वरूप और बाहरी रूप तो बदला ही, काव्यानुभव की पूरी प्रक्रिया रूपान्तरित हो गयी। कविता श्रुति और स्मृति न रहकर पाठ बन गयी। वह सामूहिक संवाद की जीवंत प्रक्रिया के बदले व्यक्तिगत रूप से आस्वाद की वस्तु हो गयी। यही नहीं, वह व्यापक जनजीवन से अलग और उस जीवन की भाषा से दूर जाकर एक सीमित समुदाय के सांस्कृतिक शौक का सीमित साधन बन गयी। कविता जब लिखित रूप से पाठ बनी, तब उसमें रचनात्मक

प्रयोग की संभावनाएँ जरूर बढीं, लेकिन उसकी रचना से पाठ तक की पूरी प्रक्रिया विशिष्ट और व्यक्तिगत हो गयी। वह बहुसंख्यक जनसमुदाय के लिए सहज सुलभ नहीं रही, उसके आस्वाद के अधिकारी थोड़े से विशिष्ट, नागर, सहृदय, रसिक। विदग्ध और पंडित रहे। कविता जब मौखिक से लिखित अवस्था में आयी तो वह पूरे समाज की संजीवनी शक्ति नहीं, बल्कि एक सीमित समुदाय के लिए मकरध्वज बन गयी। अब तक के इतिहास में कविता इस स्थिति से तभी उबरी है, जब वह मौखिक से लिखित के विभाजन की सभी सीमाओं को तोड़कर विकसित हुई है, जैसे कि भक्तिकाल की कविता।”³³

कविता के व्यक्तिगत और सामाजिक रूप पर विचार करना आवश्यक है। कवि व्यक्तिगत अनुभूति के स्तर पर इसकी रचना करता है, मगर उसका लक्ष्य सामाजिक होता है। कविता को सामाजिक बनाने के लिए केवल आकांक्षा से काम नहीं चल सकता। समाज की सच्चाइयों को समझ-बूझ कर, अग्रगामी सोच के साथ संवेदनशील बन कर ही कवि सार्थक कविता की रचना कर सकता है। कविता मूलतः आत्मपरक होती है, इसलिए समाज के पक्षों से कटते ही इसके अबूझ होने का खतरा पैदा होने लगता है। ‘साधारणीकरण’ की अवधारणा मानो आत्मपरकता को सामाजिक जिम्मेदारी से जोड़ने की ही प्रक्रिया है। न तो आत्मपरकता को छोड़ा जा सकता है और न ही सामाजिकता को। एक से कविता संवेदनशील बनती है तो दूसरे से सार्थक। कविता अपने मौखिक स्वरूप के कारण श्रोताओं के बोध की चिंता करती है। कवि की जिम्मेदारी है कि वह ऐसी कविता रचे जिसका आस्वाद सामूहिक रूप से लिया जा सके। यह समूह कैसा होगा ? यह प्रश्न जरूर खड़ा होता है। विशाल जनसभा के सामने सुनाई जानेवाली कविता और चुनिन्दा लोगों की गोष्ठी में सुनाई जानेवाली कविता की बोधगम्यता के स्तर में अंतर हो सकता है। श्रव्य परंपरा को छोड़ने के बाद भी श्रेष्ठ कविताएँ रची गयीं जिन्हें समझने के लिए उसके लिखित रूप को सामने रखना जरूरी होने लगा। निराला की कविता ‘राम की शक्ति-पूजा’ को समझने के लिए उसके लिखित रूप को सामने तो रखना ही पड़ता है, बल्कि जटिल विन्यास के कारण भाष्य और आलोचना का सहारा लेना पड़ता है। संतोष की बात यह होती है कि इतनी मेहनत करके हम एक कालजयी कृति को समझ रहे हैं। ऐसी कृति के योग्य रचनात्मक स्तर प्राप्त करने के लिए कवि को लम्बा काव्य-संघर्ष करना पड़ता है। बोधगम्यता और श्रव्य-परम्परा पर जोर देने का यह अर्थ नहीं है कि कविता के लिखित और प्रकाशित रूप की उपेक्षा की जा रही है,

“कविता की आत्मपरकता पर जोर देने का यह अर्थ नहीं है कि वह सामाजिक नहीं होती। कविता दूसरे साहित्य रूपों की तुलना में अधिक गहरे स्तर पर सामाजिक और ऐतिहासिक होती है। उसकी सामाजिकता और ऐतिहासिकता की पहचान के लिए कविता की आंतरिक बनावट के प्रति अधिक संवेदनशील अंतर्दृष्टि जरूरी है”³⁴

छन्द :

छन्द हिन्दी कविता से बाहर हो चुका है। छायावाद-युग में छन्द पर जो बहस चली उसका परिणाम यह निकला कि हिन्दी कविता मुक्तछंद के रास्ते छंदमुक्ति तक पहुँची। कविता के लिए लिए छन्द की जरूरत एक पुरानी बात मान ली गयी। निराला ने छन्द की मुक्ति को कविता की मुक्ति के प्रश्न से जोड़ा था और अपनी बात की पुष्टि के लिए वेदों की ऋचाओं की बनावट का हवाला दिया था। इसी के साथ उन्होंने मुक्तछंद के लिए ‘कवित्त’ छन्द को आधार बनाया था। मतलब यह कि छन्द के बारे निराला की राय दोनों तरह की मिलती है। वे छन्द को बंधन भी मानते थे और मुक्तछंद का आधार

भी। छन्द को तोड़ने के पीछे निराला सुविधा या आसानी की तलाश नहीं करते। छन्द के बंधन भाव पर बंधन लगाने लगे तो उपचार जरूरी है। इसका अर्थ यह नहीं कि कविता से छन्द के सम्बन्ध को गैर-जरूरी मान लिया जाए। कविता के इतिहास में छन्द की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। छन्द की सिद्धि ने निराला को वह कला दी थी कि मुक्तछंद के प्रयोग में उन्हें सफलता मिली। छंदों के बनने-बिगड़ने से कविता के स्वरूप पर क्या असर पड़ता है इसका अंदाज उन्हें था। कविता के मीटर को लेकर वे कभी बेपरवाह नहीं रहे। उनकी अंतिम कविता 'पत्रोत्कटित जीवन का विष बुझा हुआ है' छंदोबद्ध है। कविता छन्द को बंधन न माने, निराला का यही पक्ष था। वह दोनों तरह से लिखी जा सकती है।

पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में छन्द-प्रयोग को लेकर अनेक दावे प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने स्वयं को इस मामले में पुरस्कर्ता बताया है। निराला ने 'पंतजी और पल्लव' नामक अपने लेख में पन्त के कई दावों को खारिज किया तथा इन प्रयोगों का श्रेय स्वयं को दिया। प्रगतिवादियों ने प्रायः छन्द का रास्ता अपनाया, मगर प्रयोगवाद में छंदों को क्रमशः छोड़ने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी। नयी कविता के बाद छन्द प्रायः छोड़ दिए गए। आज की स्थिति है कि कविता से छन्द का नाता पूरी तरह टूट चुका है। मैनेजर पाण्डेय इस प्रक्रिया पर अपने विचार रखते हुए, कविता को पाठकों की स्मृति से लुप्त होने की चिंता व्यक्त करते हैं। वे मानते हैं कि छन्द से मुक्ति का आग्रह आज रूढ़ि का रूप ले चुका है। कविता की निर्मित में छन्द की भूमिका को भुला दिया गया है। काव्य-भाषा की एक पहचान लय भी है। कविता की बुनावट से लय को समाप्त नहीं किया जा सकता है। ऐसा करने पर कविता के अस्तित्व को खतरा हो सकता है,

“मुक्त छन्द की भी रीति या रूढ़ि बन जाती है और आज की हिन्दी कविता बहुत कुछ इसी रीति और रूढ़ि का शिकार दिखाई दे रही है। इसलिए अब इस कविता को मुक्त छन्द की रूढ़ि से भी मुक्त करने की जरूरत है।”³⁵

कविता में संगीतात्मकता होती है। यह उसका केवल ऊपरी गुण नहीं है। कविता की आन्तरिकता भी लयबद्ध होती है। कविता के योग्य भाषा की तलाश करता हुआ कवि अपने ढंग से लय की भी तलाश करता है। विचारों की लयबद्धता भी प्रत्येक समर्थ कवि की अपने ढंग से होती है। मुक्तिबोध की कविता पढ़ते हुए हम उनकी लय के साथ चलने की कोशिश करते हैं, तो अज्ञेय की लय को कुछ दूसरे ढंग की हम महसूस करते हैं। यहाँ तक कि छंदोबद्ध कविता लिखनेवाले भक्तिकाल के कवियों की वैचारिक लयबद्धता अलग-अलग किस्म की है। कविता में विचार भी संगीत की तरह मौजूद होता है। गद्यात्मक रचनाओं में विचार को प्रकट करते समय वस्तुनिष्ठता की प्रधानता रहती है। कविता में इस संगीत का मूल आधार छन्द होता था जो भाषा के अलावा कविता के अन्य लयों को साधने की बुनियाद प्रदान करता था,

“कविता के छन्द से मुक्त होने का मतलब यह नहीं था कि वह आन्तरिक संगीतात्मकता से भी मुक्त हो। कविता की संगीतात्मकता तीन स्तरों पर होती है- भाषा, विचार और रचाव। इसके बगैर कविता सम्भव नहीं है।”³⁶

छंदों के जानकार कवियों ने छन्द से मुक्ति के प्रयास किए तो कुछ बेहतर गुणों को बचाने के लिए। विचार के क्रम को टूटने से बचाने के लिए यह जरूरी था। मगर कविता कहलाने के लिए जरूरी है कि उसकी भाषा का रचाव संगीतात्मकता के उपर्युक्त स्तरों को बचाने में सक्षम हो। कविता को 'खराब गद्य' बन जाने के खतरे के प्रति सावधान रहना चाहिए। 'भाषा, विचार और रचाव' के किसी भी स्तर

पर यदि संगीतात्मकता का ध्यान नहीं रखा गया तो उस रचना को कविता के रूप में पढ़ने में कठिनाई महसूस होती है। 'संवादधर्मिता' भी कविता की इस लय को बनाये रखने में सहायक होती है। इसकी रक्षा तब होती है जब हमारे सामने लक्षित पाठक हों। मगर आज की कविता संभावित पाठक के लिए लिखी जा रही है। कवि-गोष्ठी यदि चुने हुए कवियों के बीच होती है तो आभास होता है कि वे एक-दूसरे की कविता समझ रहे हैं। हिन्दी की ज्यादातर कवि-गोष्ठियाँ शोक-सभा की तरह लगती हैं। श्रोताओं का आकर्षण इन गोष्ठियों के प्रति समाप्त हो चुका है। कविता के ढाँचे में जो भाषिक-विन्यास प्रस्तुत किया जाता है उसकी सम्प्रेषणीयता के लिए कुछ शर्तें तो होती ही हैं। पाण्डेयजी छंदों पर विचार के जरिए इन अनिवार्यताओं की तरफ ध्यान दिलाते हैं। आज की कविता किसी भी शर्त को मानने को तैयार नहीं है। संगीत, लय, संवाद, पाठक आदि प्रकरण की बात करने का प्रयास किया जाए तो इनके विरुद्ध तर्क करने वालों की तादाद आज ज्यादा है। इस प्रकार की तर्कशीलता कविता के इतिहास-बोध के अभाव में अराजकता को जन्म देती है,

“छंदों में जातीय जीवन का स्पन्दन व्यक्त होता है और नागार्जुन का यह कहना सच है कि छंदों से कविता की आयु बढ़ती है। यह ध्यान देने की बात है कि मुक्त छंद या छंदमुक्त कविता के विकास में निराला की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। लेकिन उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण कविताएँ छंदोबद्ध ही हैं। यहाँ तक कि मुक्तिबोध की कविताओं के भीतर भी परिवर्तित रूप में छंद मौजूद है। छंद से मुक्त होकर हिन्दी कविता का जो अब तक विकास हुआ है, उसकी उपेक्षा करके अब कविता को पूरी तरह छंदों में बाँधने का अतिरिक्त आग्रह भी उचित नहीं लगता। यह जरूर है कि कविता छंद से मुक्त होने के बावजूद लय से मुक्त नहीं होती और जो लोग छंद से मुक्त कविताएँ लिखते हैं, उनकी कविताएँ खराब गद्य के नमूने के रूप में सामने आती हैं। इस संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि जनवादी कवि को कविता की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए आवश्यक हो तो छंदों का उपयोग भी करना चाहिए। इसे किसी सैद्धांतिक आग्रह का रूप देना और रचनाकारों के सामने अनिवार्य माँग के रूप में रखना ठीक नहीं है।”³⁷

कविता को कविता बनाए रखने की कुछ शर्तें तो होती ही हैं। आचार्यों और आलोचकों ने समय-समय पर अपने युग के अनुसार उन शर्तों की चर्चा की है। इन विचार-परम्पराओं को ध्यान में रखा जाए तो इस निष्कर्ष पर हम पहुँचते हैं कि कविता का अर्थ है एक विशेष प्रकार का भाषिक-विन्यास। इस भाषिक-विन्यास को रचना पड़ता है। इसे रचने के लिए अलंकार से लेकर विचार तक का सहयोग लिया जाता है। 'शब्दार्थौ सहितौ' से लेकर 'मनुष्यता की मातृभाषा' तक की शर्तों में इसी भाषिक-विन्यास के रचाव के सूत्र मौजूद हैं। कविता के लिए छन्द का प्रकरण रचाव से ही जुड़ा है। 'रसमीमांसा' में काव्य-भाषा की पहचान के कई स्पष्ट सूत्र आचार्य शुक्ल ने बताए हैं। इन सूत्रों के साथ छन्द के तालमेल को देखा जाना चाहिए। मात्राओं और वर्णों की गिनती के रूप में छन्द की व्याख्या करना वैसे ही जैसे यह कहना कि 'अलंकार का काम कविता को सजाना है'। 'काव्य की भाषा' नामक उस उप-अध्याय में आचार्य शुक्ल ने जो बातें लिखी हैं उनका उल्लेख यहाँ प्रासंगिक जान पड़ता है। इन सूत्रों को देखकर कविता की आधारभूमि को समझा जा सकता है। इनका उपयोग किसी भी कालखंड की कविता को समझने के लिए किया जा सकता है। इन पर गौर करके समझा जा सकता है कि पाण्डेयजी के कविता-संबंधी विचारों में इन सबका विकास है। आचार्य शुक्ल के कथनों को बिन्दुवार रखते हुए कोशिश है कि शब्दावली का अधिकांश उन्हीं का हो। कविता की भाषा की बुनियादी बातें -

- ◆ अगोचर बातों या भावनाओं को स्थूल गोचर रूप (भाषा) में रखा जाता है।

- ◆ मूर्तविधान के लिए भाषा की लक्षणा-शक्ति का उपयोग किया जाता है।
- ◆ कविसमयसिद्ध उक्तियों का उपयोग।
- ◆ लक्षणा द्वारा स्पष्ट और सजीव आदान-प्रदान का विधान।
- ◆ वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण के लिए लक्षणा का सहारा।
- ◆ भाव या मार्मिक अंतर्वृत्ति के अनुरूप व्यंजन के लिए लक्षणा का सहारा।
- ◆ जाति संकेतवाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं।
- ◆ जाति संकेतवाले शब्द मूर्तविधान के प्रयोजन के नहीं होते।
- ◆ जाति संकेतवाले शब्द तत्त्वनिरूपण, शास्त्रीयविचार के लिए अधिक उपयोगी होते हैं।
- ◆ विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द में मर्म को क्षुब्ध करने की शक्ति अधिक होती है।
- ◆ शास्त्र के पारिभाषिक शब्द काव्य में लाए जाने योग्य नहीं होते।
- ◆ कविता की भाषा में वर्ण विन्यास महत्त्वपूर्ण है।
- ◆ मूर्तविधान के लिए कविता चित्रविद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है तथा नादसौष्टव के लिए वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है।
- ◆ श्रुतिकटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्तविधान, लय, अंत्यानुप्रास आदि नादसौन्दर्य साधन के लिए ही हैं।
- ◆ कविता की भाषा में वर्ण-संबंधी प्रयोग का उद्देश्य होता है कि इससे भाव या रस की धारा का मन के भीतर अधिक प्रसार हो। अलग चमत्कार या तमाशा के लिए यह काम में न लाया जाए।
- ◆ नाद सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है।
- ◆ नादसौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है।
- ◆ जो अंत्यानुप्रास को फालतू समझते हैं वे छंद को पकड़े रहते हैं, जो छंद को भी फालतू समझते हैं वे लय में ही लीन होने का प्रयास करते हैं।
- ◆ कहीं-कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप, गुण या कार्यबोधक शब्दों का व्यवहार करना।
- ◆ अलंकारों का प्रयोग भाव या भावना के उत्कर्षसाधन के लिए किया जाता है। सादृश्य या साधर्म्य दिखाना उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि का प्राकृत लक्ष्य नहीं है।
- ◆ जिनके रूप या कर्मकलाप जगत् और जीवन के बीच में उसे (कवि को) सुन्दर लगते हैं उन्हीं के वर्णन में वह 'स्वांतःसुखाय' प्रवृत्त होता है। अर्थात् कविता की भाषा जगत् और जीवन के रूप तथा कर्म को सुन्दर एवं 'स्वांतःसुखाय' बनाकर प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है।
- ◆ मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी से अंतःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं।

आचार्य शुक्ल ने कविता की भाषा के बारे में जो कुछ लिखा है, उसका एक हिस्सा संस्कृत काव्यशास्त्र की समझ से जुड़ा है तो दूसरा हिस्सा उनके अपने साहित्य-बोध से। उन्होंने अपने ढंग से

शब्दों का भी चयन किया है। 'जाति संकेतवाले शब्द' या 'विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द' आदि का प्रयोग उनका अपना है। शुक्लजी कविता की भाषा को जिन पक्षों से निर्धारित करते हैं उन्हें इन बिन्दुओं में रखा जा सकता है-

- क) अप्रस्तुत-विधान
- ख) शब्द-शक्ति
- ग) विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द या प्रसंगविशेष के अनुसार शब्द
- घ) वर्ण-विन्यास या शब्द-क्रम या भाषिक लय
- ङ) व्यक्तिवाचक शब्दों के बदले भाववाचक शब्दों का प्रसंगानुसार प्रयोग
- च) अलंकार भाव के उत्कर्षसाधन होते हैं।
- छ) जगत् और जीवन के बीच की सुंदर भाषा।
- ज) मनुष्यता की अंतःप्रकृति की भाषा।

आचार्य शुक्ल ने कविता की भाषा पर विचार करते हुए कविता की पहचान के बारे में भी यहाँ अनेक बातें बताई हैं। इन सबके बिना कोई रचना कविता नहीं कहला सकती है। मनुष्यता की अंतःप्रकृति को मनुष्यता की मातृभाषा से जोड़कर देखा जा सकता है। शुक्लजी छन्द को नादसौन्दर्य से जोड़कर देखते हैं। भाववाचक शब्दों को सामाजिक संवेदनशीलता में देखना चाहिए। मैनेजर पाण्डेय कविता-संबंधी समझ को आचार्य शुक्ल से आगे बढ़ाते हैं। आज के आलोचक छन्द-जैसे पक्ष पर विचार करने को तैयार नहीं होते। 2008 में प्रकाशित 'हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली' में छन्द के बारे में यह प्रविष्टि मिलती है,

“इस तरह छंद शास्त्र का इतिहास जितना पुराना है उसका फलक उतना ही व्यापक। परन्तु आधुनिक काल में पिंगल शास्त्र का महत्त्व तेजी से घटा है और आज छंद से बँधकर कविता करने वालों को पिछड़ा समझा जाता है। संभव है भविष्य में पुनः छंदों की वापसी हो क्योंकि आज छंद-लय-विहीन कविता की दुनिया दिन-प्रतिदिन सिमटती जा रही है।”³⁸

ऐसे माहौल में पांडेयजी छन्द के महत्त्व पर विचार करते हैं। कविता की पुनर्स्थापना का सवाल तो नहीं है, मगर उसके घटते पाठकों/श्रोताओं की चिंता तो करनी ही होगी। हिन्दी कविता अच्छे स्तर पर रची जा रही है या नहीं - इस पर भिन्न राय हो सकती है, मगर आज की कविता के प्रति उत्सुकता और जिज्ञासा में आई कमी को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। पांडेयजी का विचार उचित है कि एक स्तर के बाद ही मुक्तछंद में कविता बन पाती है, अन्यथा वह खराब गद्य का नमूना बन कर रह जाती है। आचार्य शुक्ल ने काव्य-भाषा की जिन विशेषताओं को रेखांकित किया है उनसे वंचित करके भाषा को कविता का दर्जा प्रदान नहीं किया जा सकता है। उपर्युक्त कोश के उद्धरण में छन्द को पिछड़ापन बताया गया है तथा यह चिंता भी है कि घटते पाठकों की समस्या को छन्द के सहारे सुलझाया जा सकता है। कविता केवल छन्द से भी नहीं बनती, मगर कविता के नादसौन्दर्य अथवा संगीतात्मकता को बचाए रखने में यह अहम भूमिका निभाता है। आचार्य शुक्ल के बाद के महत्त्वपूर्ण आलोचकों ने छन्द के कारण कविता में उत्पन्न विशेषताओं को तो रेखांकित किया है, मगर छन्द के पक्ष में अपना मत नहीं दिया है। मुक्तछंद के तर्कों का ऐसा बोलबाला हुआ कि छन्द की विशेषताएँ भी दोष समझ ली गयीं,

“मुक्त छन्द में कविता की बनावट और भाषा की संरचना की जटिलता प्रायः अधिक मिलती है। इसलिए जब तक उसमें व्यक्त विचार, संवेदना, बिम्ब या संकेत का अर्थ समझ में न आए,

तब तक वह कविता सम्प्रेषित भी नहीं होती या कि पाठक को प्रभावित भी नहीं करती। आप देख सकते हैं कि मुक्त छन्द के ढाँचे में एक स्तर के बाद ही कविता बनती है, अन्यथा कविता के नाम पर काव्याभास की ही स्थिति ज्यादा मिलती है।... मुक्त छन्द की कविताओं में कविता की संरचना-विचार और संवेदना की जटिलता के साथ जुड़कर आगे बढ़ती है, इसलिए भी उसमें दुरुहता की संभावना अधिक रहती है। इस स्थिति को देखते हुए जो कवि कविता की सम्प्रेषणीयता के लिए चिन्तित रहे हैं, वे मुक्त छन्द की रीति या रूढ़ि से मुक्त होकर छन्द में भी कविता लिखने की कोशिश करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं।”³⁹

भाषिक संवेदनशीलता में सामाजिक संवेदनशीलता :

कविता अपनी संवेदनशीलता के लिए विख्यात है। साहित्य के दूसरे रूपों की तुलना में संवेदना को सँजोने तथा प्रभावशाली तरीके से व्यक्त करने की क्षमता कविता में ज्यादा मानी जाती है। कल्पना, यथार्थ, आकांक्षा, दर्शन आदि का उपयोग साहित्य की सभी विधाओं में होता है। कविता इन सबका उपयोग अपनी भाषिक पहचान के साथ करती है। सभ्यता के विकास और परिवर्तन के साथ कविता में भी बदलाव आते रहे हैं। इनसे कविता के सामने नयी चुनौतियाँ भी खड़ी हुई हैं। विमर्श और अस्मिता के सवालोंने हिन्दी कविता को इधर के वर्षों में झकझोर रखा है। बीते दशकों में विचारधारा को कविता में स्थान देने के कारण कुछ बदलाव दिखाई दिए। कविता और सभ्यता के सम्बन्ध पर हिन्दी आलोचना में पर्याप्त लिखा गया है। मगर इस प्रवाह में सभ्यता आगे बढ़ गयी और कविता पीछे छूट गयी। कविता के स्वरूप पर विचार करना प्रायः छोड़ दिया गया अथवा जो विचार मिलते हैं वे आत्मपरक ज्यादा हैं। कवियों ने जो कुछ लिखा है उसका सम्बन्ध उनकी अपनी कविता से प्रायः जुड़ा होता है। जिन्हें सभ्यता के प्रश्न रुचिकर नहीं लगे, वे सनातन और शाश्वत कविता रचते हुए निरर्थकता का शिकार हुए। आज कविता में राजनीति के अनेक पक्ष व्यक्त हो रहे हैं। अब वह केवल सामाजिक नहीं रही, राजनैतिक भी हो चुकी है।

हिन्दी कविता में विस्तार ही नहीं, संकोच भी हुआ है। कविता के अनेक रूप छूट चुके हैं, अनेक शैलियाँ भी त्याग दी गई हैं। बदलती हुई कविता की अपनी कोई पहचान हो सकती है या नहीं? कुछ तो ऐसा होना चाहिए या कहें कि होता है, जो एक रचना को कविता बनाता है। कविता के सन्दर्भ में, आचार्य रामचंद्र शुक्ल की मान्यता आज भी सार्थक मालूम पड़ती है,

“अब यहाँ पर काव्य और सभ्यता के सम्बन्ध का सवाल सामने आता है। सभ्यता का स्वरूप उत्तरोत्तर बदलता चला आ रहा है। आज से सौ वर्ष पहले उसका जो स्वरूप था वह आज नहीं है, आज जो उसका स्वरूप है वह पचास वर्ष पीछे न रहेगा। अब विचारणीय यह है कि क्या कविता को भी सभ्यता का एक अंग होकर आज कुछ और होते हुए चलना चाहिए अथवा सभ्यता के बाहरी और भीतरी दोनों स्वरूपों को बाह्य आवरण के रूप में रखकर एकरस धारा के रूप में चलना चाहिए। हमारा कहना है कि दूसरा मार्ग ही सच्ची कविता का मार्ग हो सकता है। सभ्यता के साथ-साथ वह चलेगी पर उसी का विधान होकर नहीं। वह अपनी मूल सत्ता स्वतंत्र रखेगी।”⁴⁰

आचार्य शुक्ल कविता की ‘मूल सत्ता’ को बनाए रखने पर जोर देते हैं। वे सभ्यता के परिवर्तन को कविता में व्यक्त करने के हिमायती हैं, मगर सभ्यता के अनुयायी के रूप में कविता की पहचान बनाये जाने के पक्ष में नहीं हैं। कविता की अपनी परंपरा उसके स्वरूप को निर्धारित करने की कसौटी बननी चाहिए, जिसके आधार पर सभ्यता के नए रूप को व्यक्त करने का तरीका तलाशना चाहिए।

बुनियाद कविता में हो, सभ्यता में नहीं। सभ्यता की पेचीदगियाँ 'कवि-कर्म' को 'कठिन' तो जरूर बनाएँगीं, मगर 'मूल सत्ता' को ध्यान में रखने से कविता निरर्थकता का शिकार नहीं होंगी। 'मूल सत्ता' का अर्थ कविता की भाषिक बनावट से है। मैनेजर पाण्डेय कविता के इस द्विपक्षीय संतुलन को बनाए रखने पर जोर देते हैं। समाज और जीवन को कविता भाषिक संवेदनशीलता के साथ प्रकट करती है। उसमें केवल सामाजिक सत्य या तथ्य को खोजने की कोशिश उचित नहीं है। उसके भाषिक-विन्यास को संवेदनशीलता की कसौटी पर समझने की कोशिश करते हुए व्याख्या की जा सकती है। कहा जा सकता है कि पाण्डेयजी का यह सुझाव कवि और आलोचक दोनों के लिए है,

“कविता में जीवनानुभव या अनुभूति से रूप का सम्बन्ध दूसरे साहित्य रूपों की तुलना में अधिक आत्मीय और कुछ जटिल होता है। बिम्ब, प्रतीक, संकेत, फैंटेसी आदि कविता के साधन ही नहीं होते। कई बार साधन और साध्य में अद्वैत या अभेद की स्थिति होती है। फिर लय, छन्द और संगीत की आंतरिक संरचना से भी कविता का विशिष्ट रूप बनता है। इन सबकी उपेक्षा करके केवल सामाजिक सत्य खोजने वाला साहित्य का समाजशास्त्र कविता का समाजशास्त्र नहीं हो सकता। कविता में भाषा की भूमिका अधिक निर्णायक और महत्त्वपूर्ण होती है। यहाँ भाषिक संवेदनशीलता में सामाजिक संवेदनशीलता छिपी रहती है।”⁴¹

इस उद्धरण में कविता के समाजशास्त्र की अनिवार्य शर्तों पर विचार किया गया है। कवि अपने जीवन के अनुभव तथा व्यक्तिगत अनुभूति को कविता में व्यक्त करता है। अपने से बाहर तथा अपने भीतर जाकर जो रचनात्मक संतुलन बनाना पड़ता है; उसे कविता में उतारते समय बिम्ब, प्रतीक, संगीत आदि उपकरणों की सहायता से आत्मीय भाषा का रचाव करना पड़ता है। फिर इसी प्रक्रिया को समझते हुए पाठक या आलोचक कविता की भाषा को खोलता है। वह तलाशता है कि इस विशिष्ट भाषा में कैसी सामाजिक दृष्टि है! इस आत्मीय काव्य-भाषा से वह ठोस उत्तर की भी तलाश करता है। इसी भाषा के भीतर बैठी मनुष्यता की गहरी पक्षधरता को भी तलाश कर वह निकालता है। यही कारण है कि कविता पाठ-दर-पाठ खुलती है, वह पूरी तरह से चुकती नहीं है और नए समय-सन्दर्भ में पुनर्नवा होकर अपनी सार्थकता को सिद्ध करती है।

कविता जब किसी नयी धारा से जुड़ती है तो कवि के सामने सबसे बड़ी चुनौती भाषा की काव्यमय संवेदनशीलता को बचाए रखने की होती है। विचार को कविता में ढालते समय इसका ख्याल रखना पड़ता है कि विचार और कविता - दोनों की रक्षा हो। कविता की रक्षा की यही शर्त है कि उसकी 'मूल सत्ता' बनी रहे और विचार की रक्षा की शर्त है कि भाषिक संवेदनशीलता के बावजूद उसकी वस्तुनिष्ठता बनी रहे। मैनेजर पाण्डेय के लेखन-काल में लगभग पाँच दशकों का विस्तार है। उन्होंने हिंदी कविता के कई दौर प्रत्यक्ष देखे हैं। भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल की कविता के विभिन्न प्रकरणों पर उन्होंने पर्याप्त लिखा है। कविता के इन अनेक चरणों और रूपों पर विचार करते हुए उन्होंने सैद्धांतिक विवेक का अद्भुत परिचय दिया है। वे सोच के स्तर पर समग्रता के आलोचक हैं। खंडित तरीके से सोचना और लिखना उनके स्वभाव में नहीं है। वे किसी कवि के अनुसार कविता के बारे में किसी विशेषता की तरफ यदि ध्यान दिलाते हैं तो आप पाएँगे कि वह बात किसी दूसरे कवि पर विचार करते समय अंतर्विरोध का शिकार नहीं होती है। सिद्धांतों को व्यवहार में उतारते समय वे प्रायः विचलित नहीं होते हैं।

कविता में दर्शन, विचार आदि को कैसे व्यक्त किया जा सकता है ? कवि किन सावधानियों

के बीच से कविता का यह मार्ग तलाश सकता है! आलोचक काव्य-भाषा में निहित भावबोध को विचार से जोड़ते समय किन उपकरणों की सहायता ले सकता है! मैनेजर पाण्डेय इन जटिलतर सम्बन्धों का सुलझा हुआ उत्तर देते हैं,

“कविता में दर्शन की खोज करना एक ऐसा आलोचनात्मक प्रयत्न है जिसमें कविता और दर्शन दोनों के स्वभाव के साथ अन्याय होता है। अगर कविता में किसी शास्त्रीय दर्शन की खोज की जाए तब तो दोनों की दुर्गति होती है। ऐसा नहीं है कि कविता में विचार नहीं होता। कविता में विचार होता है, लेकिन उसका रूप और प्रयोजन वही नहीं होता जो दर्शन में होता है। कविता में विचार या तो जीवन-जगत को देखने वाली कवि दृष्टि में होता है या फिर देखे गए जीवन-जगत के आकांक्षित रूप की रचना में। दोनों ही स्थितियों में उसका स्वरूप शास्त्रीय मतवाद से भिन्न होता है। फिर दर्शन में आया विचार पाठक की केवल बौद्धिक जिज्ञासा को जगाता और संतुष्ट करता है जबकि कविता, पाठक की संपूर्ण संवेदनशीलता को जगाती और परिष्कृत करती है जिसमें कल्पना, इन्द्रियबोध, भाव और विचार की प्रक्रियाएँ संयुक्त रूप से सक्रिय होती हैं। यही नहीं, दर्शन में विचारों का विकास अमूर्तन की प्रक्रिया से होता है, जबकि कविता में विचार अनुभव का अंग बनकर सम्मूर्तन की प्रक्रिया में व्यक्त होता है”⁴²

यह कथन ‘दादू दयाल की दार्शनिक दृष्टि’ शीर्षक निबंध में है। जाहिर-सी बात है कि लेखक ने दादू दयाल के साहित्य तथा भक्तिकाल के उनके परिवेश को ध्यान में रखकर अपनी बात कही है। दादू दयाल के जीवन, आध्यात्मिक विचार के सन्दर्भ में उनकी कविता पर विचार करते हुए पाण्डेयजी ने कविता और दर्शन के सम्बन्ध पर अपनी राय रखी है। उनकी इन बातों को आप किसी भी कवि की कविता पर लागू करके देखेंगे तो कोई असंगतता दिखाई नहीं पड़ेगी। आलोचना के सिद्धांत और व्यवहार का दुर्लभ संतुलन मैनेजर पाण्डेय की विशेषता है। वे सम्पूर्णता के आलोचक हैं। इस उद्धरण की बातों को कुछ बिन्दुओं में रखा जा सकता है-

- ◆ कविता में दर्शन की खोज शास्त्रीय रूप में नहीं की जा सकती है।
- ◆ कविता में दर्शन को ठीक-ठीक व्यक्त भी नहीं किया जा सकता है।
- ◆ कविता में निहित दार्शनिक विचार का रूप अलग तरह का होता है।
- ◆ विचार या दर्शन जीवन-जगत को देखने वाली कवि दृष्टि में होता है।
- ◆ कवि अपनी आकांक्षा के अनुसार भी कविता में जीवन-जगत को रचता है। इस आकांक्षित रूप को बनाने में दर्शन या विचार का उपयोग कवि करता है।
- ◆ दर्शन का सम्बन्ध बौद्धिक जिज्ञासा से होता है।
- ◆ दार्शनिक विचार कविता में आकर संवेदना, कल्पना, इन्द्रियबोध आदि से जुड़ता है।
- ◆ दर्शन में विचारों का विकास अमूर्तन की प्रक्रिया से होता है।
- ◆ कविता में विचारों की अभिव्यक्ति सम्मूर्तन की प्रक्रिया से होती है।

कल्पना और यथार्थ का उपयोग कविता करती है। ये दोनों परस्पर विरोधी मालूम पड़ते हैं। हिन्दी कविता के इतिहास में इन दोनों के दौर आते रहे हैं। छायावाद ने कल्पना पर जोर दिया और प्रगतिवाद ने यथार्थ पर। हिन्दी कविता को इन दोनों ने समृद्ध किया। कविता में यथार्थ को भी कल्पना के सहारे ही व्यक्त किया जाता है - दूसरी विधाओं की तुलना में यह तकनीकी अंतर है। कल्पना का आधार जब तक वास्तविकता होती है तभी तक उसकी सर्जनात्मक शक्ति और सम्प्रेषण क्षमता बनी रहती है। कल्पना

और यथार्थ का आधार जीवन का अनुभव ही होता है, जबकि सामान्यतः मान लिया जाता है कि कल्पना कवि के भावलोक से जन्म लेती है, “जीवन-जगत के अनुभव के आधार पर ही एक स्वच्छंदतावादी कवि कविता लिखता है और यथार्थवादी कवि भी लिखता है। दोनों प्रकार की कविता में जीवन-जगत संबंधी दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण कल्पना की भूमिकाएँ भी अलग-अलग होती हैं। अगर आप निराला की ‘जुही की कली’ और ‘भिक्षुक’ कविताओं को देखेंगे तो पाएँगे कि दोनों में कल्पना की भूमिका एक तरह की नहीं होती है”⁴³ जीवन और संसार को देखने का नजरिया जैसा होता है उसी के अनुसार कवि कल्पना का उपयोग करता है। कॉलरिज ने द्वितीयक कल्पना (Secondary Imagination) की अवधारणा पर विचार किया और बताया कि यही सर्जनात्मक कल्पना होती है जिसका उपयोग कवि करता है। कविता की निर्मिति में कल्पना की भूमिका पर कॉलरिज के अलावा जोसेफ एडीसन (Joseph Addison) के विचार महत्वपूर्ण हैं। ‘हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली’⁴⁴ में आचार्य शुक्ल और नंददुलारे वाजपेयी के विचार कल्पना के सन्दर्भ में दिये गए हैं। कॉलरिज से लेकर वाजपेयी तक, कल्पना के सन्दर्भ में इस बात का उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि ‘जीवन-जगत संबंधी दृष्टिकोण की भिन्नता’ के कारण कल्पना की भूमिका बदल जाती है। कविता में कल्पना के प्रयोग संबंधी चिंतन में पाण्डेयजी यह बात जोड़ते हैं कि सर्जनात्मक कल्पना कवि की जीवन-दृष्टि से प्रभावित और निर्धारित होती है। निराला की दो कविताओं को उदाहरण के रूप में रखकर वे अपनी बात की पुष्टि भी करते हैं। ‘जुही की कली’ में जीवन-जगत संबंधी दृष्टिकोण पर प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण और रोमानियत की प्रधानता है जबकि ‘भिक्षुक’ में सामाजिक-आर्थिक यथार्थ की; इसलिए इन दोनों कविताओं में कल्पना की भूमिका भिन्न है। एक की कल्पना भावलोक में ले जाती है तो दूसरी मानव-जीवन की एक भयावह स्थिति की ओर ले जाती है। इस बात को पाण्डेयजी और भी स्पष्ट करते हैं, “कोई भी कवि इस वास्तविक संसार के आधार पर ही अपनी कविता में एक नए संसार की रचना करता है और उस काव्य संसार की रचना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका सर्जनात्मक कल्पना की होती है। लेकिन जब सर्जनात्मक कल्पना जीवनानुभव के आधार पर सक्रिय होती है तभी बेहतर कविता बनती है। जब कविता में जीवनानुभव का आधार कमजोर होता है और कल्पना की सक्रियता अधिक होती है तो कविता में वायवीयता आती है या काल्पनिकता बढ़ती है”⁴⁵

‘जीवन-जगत संबंधी दृष्टिकोण’ का ही एक रूप यथार्थवाद है जिसका कविता में निर्वहन कठिन काम होता है। कविता में इस दृष्टिकोण का उपयोग कवियों ने खूब किया है, मगर इसकी सैद्धांतिकी के आधार पर कविता के मूल्यांकन की कसौटी बनाना कठिन काम है। इसमें ध्यान देने लायक दो बातें हैं। एक यह कि यथार्थवाद के आधार पर कविता लिखी जा सकती है। दूसरी यह कि सभी प्रकार की कविता की आलोचना का आधार यथार्थवाद को नहीं बनाया जा सकता है,

“कविता में जीवन-जगत के यथार्थ और अनुभव की अभिव्यक्ति केवल प्रातिनिधिक रूप में नहीं होती, प्रतीकात्मक ढंग से भी होती है। सच तो यह है कि उपन्यास में प्रातिनिधिक पद्धति की प्रधानता मिलती है तो कविता में व्यंजना की पद्धति प्रायः प्रतीकात्मक ही अधिक होती है। कविता में यथार्थ और अनुभव की सीधी अभिव्यक्तियाँ नहीं होतीं। उसमें पुनर्रचित यथार्थ और अनुभव की अभिव्यक्तियाँ होती हैं, इसलिए कविता का यथार्थ जीवन के यथार्थ से भिन्न होता है; कभी उससे कुछ अधिक कभी उससे कुछ कम। कविता की रचना प्रक्रिया में पहली वास्तविकता (जीवन-जगत की वास्तविकता) का दूसरी वास्तविकता (पुनर्रचित वास्तविकता) में रूपांतरण ही नहीं होता, कई बार अन्यायाकारण भी होता है। इस अन्यायाकारण की व्याख्या यथार्थवाद के सहारे कैसे होगी”⁴⁶

व्यंजनात्मकता, प्रतीकात्मकता, अनुभूति की प्रधानता, पुनर्रचना, अन्याथाकरण आदि के कारण कविता और यथार्थवाद की स्थायी संगति नहीं बन पाती है। मैनेजर पाण्डेय कविता के भाषिक वैशिष्ट्य पर विशेष जोर देते हैं। मार्क्सवादी आलोचना सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक पक्ष को साहित्य से जोड़ने की अभ्यासी रही है इसलिए यथार्थवाद से उसका आकर्षक सम्बन्ध रहा है। मार्क्सवादी प्रतिबद्धता को गहराई से आत्मसात करने के कारण पाण्डेयजी सरलीकरण के शिकार नहीं होते। वे सिद्धांतों को उसके पूरे सन्दर्भ के साथ अपनाते हैं। स्वयं मार्क्स साहित्य के प्रेमी थे। उन्होंने अनेक साहित्यिक रचनाओं के बारे में सूक्ष्म पर्यवेक्षण के साथ लिखा है। विश्व के कई कवियों की कविताओं पर जो टिप्पणी की है उन्हें गंभीरतापूर्वक पढ़ा गया है। मार्क्स की कही बातें विश्व साहित्य को समझने में मददगार हैं। इसलिए यह माना जाना चाहिए हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना केवल फॉर्मूलों पर आधारित नहीं है। उसमें साहित्य को समझने का गहरा विवेक मौजूद है। उसका आधार ऐतिहासिक भौतिकवाद और द्वंद्वत्मक भौतिकवाद ही नहीं है बल्कि विश्व स्तर के महान साहित्यकारों की रचना-दृष्टि भी है। पाण्डेयजी कविता की 'मूल सत्ता' की चिंता हमेशा करते हैं और किसी सिद्धांत का भय भी उन्हें नहीं सताता। कमजोर तर्कों के सहारे वे किसी सिद्धांत की रक्षा करने की कोशिश प्रायः नहीं करते। वे कहते हैं कि कविता यदि आत्मपरक, रोमांटिक और बिम्बाश्रित हो तो उसकी व्याख्या यथार्थवाद के सहारे नहीं की जा सकती है, "अगर यथार्थवाद के आधार पर नागार्जुन की ही सभी तरह की कविताओं का मूल्यांकन करना हो तो उसकी सीमाएँ प्रकट हो जायेंगी। नागार्जुन की 'अब तो बंद करो हे देवी यह चुनाव का प्रहसन' या 'तुम रह जाते दस साल और' या 'सत्य को लकवा मार गया है' जैसी कविताओं का सामाजिक अर्थ और अभिप्राय यथार्थवाद की मदद से कुछ समझा-समझाया जा सकता है, लेकिन 'कालिदास सच-सच बतलाना' या 'श्याम घटा सित बिजुरी रेह', 'सुजन नयन मनि', 'मेघ बजे' आदि कविताओं की कला यथार्थवाद के दायरे के बाहर पड़ती है।"⁴⁷ यथार्थवाद इन कविताओं की भाषिक संवेदनशीलता को समझ पाने में असमर्थ होगा। कविता के मूल्यांकन का आधार बनने के लिए पाण्डेयजी की शर्त है - भाषिक संवेदनशीलता की समझ। दर्शन, कल्पना, यथार्थ, आकांक्षा, विचारधारा आदि किसी को भी कविता का हिस्सा बनाते हुए ख्याल रखना होगा कि 'भाषिक संवेदनशीलता' की क्षति न हो। आचार्य शुक्ल जिसे कविता की 'मूल सत्ता' कहते हैं उसे पाण्डेयजी 'भाषिक संवेदनशीलता' कहते हैं। कविता की समझ का इसे अगला चरण समझा जाना चाहिए क्योंकि इसी के भीतर कविता की 'सामाजिक संवेदनशीलता' मौजूद होती है।

कविता में व्यक्तिगत और मानवीय अभिव्यक्ति की पहचान आसान होती है। प्रेम की भावुक कविता व्यक्ति की पीड़ा का प्रसार हो सकती है। वह मानवीय बनने के तर्क का आश्रय लेकर अपनी बात मनवा सकती है। व्यक्ति की प्रेम-पीड़ा को संगत मानने का आधार मानवमात्र के प्रति करुणा का भाव ही है। भावुकता से भरी ऐसी भाषा के बीच भी 'सामाजिक संवेदनशीलता' मौजूद रहती है जिसकी पहचान काव्यतर्क के सहारे की जा सकती है, "कविता की दिलचस्पी जीवन के व्यक्तिगत से लेकर मानवीय पक्षों तक फैली होती है। उसकी इस व्यापकता में, व्यक्तिगत और मानवीय के बीच में ही कहीं 'सामाजिक' भी स्थित होता है।"

कविता में सामाजिक की पहचान, अभिनवगुप्त के 'साधारणीकरण' से सैद्धांतिक रूप ग्रहण करती हुई साहित्य के समाजशास्त्र तक पहुँचती है। मैनेजर पाण्डेय कविता की सामाजिक भूमिका को एक तरफ मार्क्सवादी दर्शन से माँजते हुए नवोन्मेष प्रदान करते हैं, तो दूसरी तरफ उन्हें कविता के भाषिक

वैशिष्ट्य का ख्याल हमेशा बना रहता है। वे मानते हैं कि समाज और मनुष्य के जीवन को देखने-समझने की दृष्टि के बीच संवेदना की कोई सटीक भाषा हो सकती है तो वह कविता की भाषा है। गद्य की विधाएँ यथार्थ की सटीक अभिव्यक्ति कर सकती हैं। मगर संवेदना की सटीक अभिव्यक्ति कविता ही कर सकती है, इसलिए कविता का भाषिक विन्यास सबसे महत्वपूर्ण होता है। ऐसा कहकर वे निरं कलावादियों की निरर्थकता को भी उजागर करते हैं जो कविता की भाषिक संवेदनशीलता को तो मानते हैं लेकिन उसमें निहित सामाजिक संवेदनशीलता में उनकी रुचि नहीं होती है। संवेदना का आधार महज भाषा तो होती नहीं है, जीवन और समाज को देखने की दृष्टि से जो भाव-बोध बनता है उससे भाषा एक विशेष स्वरूप ग्रहण करती है। जो लोग कविता की भाषा को निजी मानते हैं वे दरअसल सामाजिक प्रश्नों को नजरअंदाज करना चाहते हैं। वे नहीं चाहते हैं कि उनकी भाषा में निहित सांसारिक प्रकरणों की पड़ताल हो।

संस्कृति का उद्योग और नागरता

पूँजीवाद और कविता के सम्बन्ध पर विचार करने की आवश्यकता को आज अपेक्षाकृत अधिक महसूस किया जा रहा है। हिन्दी कविता का अधिकांश शहरों में रचा जा रहा है। कवि का जीवन और रोजगार इसी अर्थव्यवस्था से जुड़ा है। चिर 'गाँव' (झाँसी) में रहकर कविता रचने वाले, अब मैथिलीशरण गुप्त की तरह स्वीकार्य नहीं हो पा रहे हैं। यहाँ तक कि दलित और आदिवासी विमर्श की कविताएँ भी प्रायः महानगरों में रहकर लिखी जा रही हैं। कृषि-प्रधान ग्रामीण जीवन बाजार की गिरफ्त में धीरे-धीरे आ तो रहा है, मगर कृषि उत्पादन में पूँजीवाद की सीधी भागीदारी नहीं होने के कारण अभी भी ग्रामीण जीवन का स्वरूप पुराने ढंग का है। खेती के काम में कोई भी बहुराष्ट्रीय कंपनी उत्पादन के स्तर पर नहीं जुड़ती है। उसकी रुचि कृषि-उत्पाद के बाजार को नियंत्रित कर लाभ कमाने में होती है। आज तक किसी बहुराष्ट्रीय कंपनी ने फसल उपजाने का काम नहीं किया है। वे खाद, कीटनाशक, औजार, ट्रैक्टर, हार्वेस्टर आदि बनाने तथा बेचने का काम करती रही हैं क्योंकि इसमें मुनाफे की अनिश्चितता नहीं है। खेती एक अनिश्चित कारोबार है। इससे प्राप्त लाभ की कोई गारंटी नहीं होती। जोखिम की सारी जिम्मेदारी किसान की होती है। खेती का कोई बीमा भी नहीं होता। खेती की इस आर्थिक प्रणाली के कारण कंपनियाँ कृषि-कार्य में हाथ नहीं लगाती हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि आज भी ग्रामीण जीवन का बड़ा हिस्सा अपने सांस्कृतिक धरातल पर पुराने स्वरूप और संवेदना के भीतर जी रहा है। विडम्बना यह है कि पूँजीवादी विकास से इसे कोई लाभ तो नहीं मिला, मगर इसका खूबसूरती से दोहन जरूर हुआ अर्थात् विकास का चेहरा और विनाश की आत्मा। गाँव में विकास की पहचान के रूप में स्कूल-कॉलेज, सड़क, मोबाइल, इन्टरनेट, गाड़ियाँ आदि की संख्या बढ़ी, मगर कृषि-उत्पाद को सही मूल्य दिलाकर किसान की सम्मानजनक आर्थिक स्थिति बनाने की कोई कोशिश सफल नहीं हुई। विकास के इन प्रतीकों ने किसान के कृषि-आधारित जीवन में नकारात्मक विक्षोभ पैदा किया है। केवल कृषि पर आधारित रहने वाले किसान की गरीबी इस हद तक बढ़ गई है कि वह अपने परिवार और रोजगार को बचाने में अक्षम होता जा रहा है।

इन परिस्थितियों में हिन्दी कविता का ग्रामीण स्रोत सूखता जा रहा है। महानगर की कविता गाँव की स्मृतियों को व्यक्त कर रही है। महानगरीय जीवन में भोजन-वस्त्र-आवास की तो बात छोड़िए, साँस लेना और पानी पीना भी अर्थव्यवस्था का अंग बन गया है। 2016 की जनवरी में अखबार में छपा था

कि चीन में कुहासे को प्रदूषण ने इतना भयावह बना दिया था कि साफ हवा में साँस लेने के लिए लोग शहर से दूर गाँव में जाकर खड़े हुए थे। आज की हिन्दी कविता इसी तरह के शहरों में रह रही है। शहर में प्रायः समाज नहीं होता है और होता भी है तो तकनीकी विशेषताओं के साथ। यह तथाकथित समाज आवयविक ढंग से विकसित नहीं होता। इसकी जड़ें प्रायः गहरी नहीं होती हैं और दिखाने को विशाल वृक्ष होता है जिसमें पल्लव-पुष्पन के बिना भी परिपक्व फल लगे हुए मिल जाएँगे। ग्रामीण समाज में कोई परदेशी आसानी से बस नहीं पाता था, यहाँ तक कि पुरुष के लिए अपनी ससुराल में भी बस जाना दुष्कर होता था; बिहारी ने शायद इसीलिए ससुराल (बिहारी की ससुराल मथुरा में थी और उन्हें वहाँ रहकर मान-अपमान का अनुभव हुआ था।) में रहने पर घटती हुई इज्जत की उपमा पूस के महीने में दिन के घटते हुए मान से दी है। इसके विपरीत शहर परदेशियों से ही बसता और आबाद होता है। महानगरों में यह परदेशीपन और भी बढ़े हुए रूप में मिलता है। तमाम तरीके के राजनैतिक और सामाजिक चेतना के महानगरीय प्रदर्शन के बावजूद यहाँ बुद्धि के स्तर की ही संवेदना की संभावना होती है। हार्दिक संवेदना के लिए जीवन की जिन परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, वे यहाँ मौजूद नहीं हैं। यहाँ रिश्ते ऐच्छिक हैं, ग्रामीण समाज में रिश्ते केवल व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं होते।

मैनेजर पाण्डेय हिन्दी कविता के सामने उपस्थित परिवेश को व्याख्यायित करते हुए कविता की गति-दुर्गति पर महत्वपूर्ण विचार रखते हैं। पूँजीवाद और महानगरीय जीवन के कारण हिन्दी कविता में जो बदलाव आए हैं उनकी पहचान की शब्दावली हिन्दी आलोचना में व्यवस्थित तरीके से मौजूद नहीं है। हिन्दी कवि अपनी कविता को यथासंभव गंभीर और सार्थक समझता है मगर पाठकों की कमी इस विधा के अस्तित्व को संकटग्रस्त कर रही है। पत्रिकाओं में छपी कविताएँ रस्मअदायगी का हिस्सा बनती जा रही हैं। काव्य-संग्रह कम संख्या में बिक रहे हैं। इन प्रश्नों पर भी विचार करने की जरूरत आ पड़ी है। हिन्दी कविता के लिए अनेक बड़े पुरस्कारों के रास्ते खुले हुए हैं, मगर विधा के तौर पर इसकी स्वीकृति को बढ़ाने के लिए कोई स्तरीय प्रयास दिखाई नहीं पड़ता है। कवि का दावा है कि उसने जो कुछ लिखा है वह बहुत अच्छा है और पाठक की आम प्रतिक्रिया है कि हिन्दी कविता समझ में नहीं आती है। यह पता नहीं चल पाता कि कवि कहना क्या चाहता है। यह शिकायत केवल आम पाठकों की ही नहीं है बल्कि हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों, शोधार्थियों और अध्यापकों की भी है। इन सबके बीच रमाशंकर विद्रोही जैसे कवि भी हैं जो अपनी कविताएँ मौखिक रूप से सुनाते थे और सहज एवं गंभीर रूप से समझ में भी आते थे। उनके एकमात्र काव्य-संग्रह 'नयी खेती' की ज्यादातर कविताएँ आज भी अपनी अपील के साथ श्रोताओं के मन पर प्रभाव छोड़े हुए हैं। मगर हिन्दी कविता के श्रेष्ठ कवियों के बीच 'विद्रोही' की गिनती हिन्दी आलोचना ने कभी नहीं की, उन्हें कविता के किसी छोटे पुरस्कार के लायक भी नहीं समझा गया। हिन्दी आलोचना ऐसे कवियों को रेखांकित कर रही है जिनकी स्वीकृति विशिष्ट जनों के बीच है और 'विद्रोही'-जैसे कवियों को हतोत्साहित करके कविता की व्यापक पाठकीयता की संभावना को अवरुद्ध कर रही है। मूलतः पाठ की विधा के रूप में विकसित हुई कविता श्रोताओं पर अद्भुत प्रभाव डालने की क्षमता रखती है और आज उसकी इस क्षमता का क्षरण हो चुका है। बंद कमरे में दो-चार दर्जन चुनिन्दा लोगों के बीच कविता सुनने-सुनाने की पद्धति ने आज स्वीकृति पा ली है। खुले मंच पर बड़ी सभा में सुनाने लायक कविता, समादृत हिन्दी कवियों के द्वारा, नहीं लिखी जा रही है। 'विद्रोही'-जैसे कवि हिन्दी कविता की विस्तृत पाठकीयता की संभावना के द्वार खोलते हैं। मैनेजर पाण्डेय ने कविता की घटती स्वीकार्यता पर अनेकशः विचार किया है, यद्यपि उन्होंने हिन्दी के

महत्त्वपूर्ण कवियों के नाम लेकर इस प्रसंग में टिप्पणी करने से परहेज किया है। कविता की व्यापक स्वीकार्यता के प्रसंग में जिन पक्षों की तरफदारी उन्होंने की है, वे पक्ष 'विद्रोही' की कविता में दिखाई पड़ते हैं, "कविता केवल विशेषज्ञों के लिए न हो, व्यापक समाज के लिए भी हो। वह केवल पढ़ने के लिए न हो, सुनने-सुनाने लायक भी हो।"⁴⁹ कविता के विधागत स्वभाव के अनुसार यह जरूरी है कि उसकी मौखिक अपील बची रहे। मौखिक, लिखित और मुद्रित अवस्था के क्रम को पार करती हिन्दी कविता अपनी तीनों अवस्थाओं की विशेषताओं को बचाए रख सकती है,

"अगर कविता अभी पूरी तरह बुर्जुआ सभ्यता का शिकार नहीं हुई है तो उसका एक कारण यह है कि कविता का आज भी जितना सम्बन्ध आँखों से है, उससे अधिक कानों से है। वह मौखिक संस्कृति के युग में लम्बे काल तक श्रव्य रही है। लय और छन्द के रूप में नाद से उसका अन्तरंग सम्बन्ध रहा है और अर्थ की संरचना से शब्द की योजना के आत्मीय सम्बन्ध के सहारे उसकी संगीतमयता विकसित होती रही। लिखित रूप में आने पर कविता आँख की वस्तु बनी और बाद में मुद्रित होने पर वह पहले से अधिक चाक्षुष हुई। फिर बिम्बवाद ने कविता को विशेष रूप से चाक्षुष बनाने की कोशिश की। इस कोशिश का बेतुकापन तब उजागर हुआ, जब ठोस कविता का फैशन आया, जिसमें कविता से संगीत को पूरी तरह निकालकर उसमें ठोसपन लाने का प्रयत्न हुआ। तब यह भी कहा गया कि कविता में शब्द किसी अर्थ के संकेत नहीं बल्कि वस्तु हैं और कविता का कोई अर्थ नहीं होता, वह जो है सो है। उसके बाद वही हुआ, जो होना था - कविता की बनावट अमूर्त चित्रों से होड़ करने लगी, कागज के पन्ने का आकार-प्रकार कविता का रूपात्मक आधार बनने लगा, कविता की पंक्तियों के ऊपर और नीचे की खाली जगहें कविता की संरचना का हिस्सा होने लगीं। इस तरह कविता की कला लिखावट और छपाई की कला बन गयी। कविता को अत्यन्त चाक्षुष बनाने की कोशिश का यही परिणाम होना था।"⁵⁰

कुल मिलाकर कविता की सामूहिक ग्राह्यता बुरी तरह प्रभावित हुई। वह दिलचस्प होने की चिंता और कोशिश से परहेज करने लगी, "समकालीन हिन्दी कविता की एक विशेषता यह है कि वह दिलचस्प एकदम नहीं है। यह गुण उसके स्वभाव से गायब हो गया है। संभव है, मेरी इस बात से कुछ लोग चकित हों और पूछें कि क्या दिलचस्प होना कविता का कोई आवश्यक गुण है... यह ठीक है कि कविता केवल दिलचस्प होने के कारण सार्थक नहीं होती, लेकिन वह उबाऊ होने पर व्यर्थ जरूर हो जाती है। तब वह पाठकों को आकर्षित नहीं करती है और बहुत दिनों तक जीवित भी नहीं रह पाती।"⁵¹

कविता की स्वीकृति के सामने एक बड़ा संकट यह है कि वह उद्योग का अंग नहीं बन सकती है। अपने स्वरूप की रक्षा करते हुए वह बिकाऊ या दिखाऊ नहीं बन पाती है। हिन्दी कविता का एक रूप मंचीय कविता का भी है, मगर उस रूप में उसकी सार्थकता की रक्षा मुश्किल होने लगती है। यहाँ उर्दू कविता का जिक्र इस अर्थ में प्रासंगिक होगा कि मंच पर वह सार्थक तो है ही, अपने मुद्रित रूप में भी वह पढ़ी जा रही है। पिछले कुछ दशकों में उर्दू कविता का देवनागरी लिपि में रूपांतरण बड़े पैमाने पर प्रकाशित हुआ है। समकालीन शायरों की कृतियाँ हिन्दी प्रकाशकों के द्वारा विविधता के साथ छपी गई हैं और आम पाठकों के द्वारा खरीदी और पढ़ी गई हैं। अली सरदार जाफरी के द्वारा सम्पादित 'दीवान-ए-मीर' और 'दीवान-ए-गालिब' का हिन्दी रूप खूब पढ़ा गया है। जौक, दाग, जफर की शायरी हिन्दी में समझने के लिए कुछ मेहनत की माँग करती है, मगर बशीर बद्र, मुनव्वर राना-जैसे समकालीन शायरों को उनके लिखित रूप में भी खूब पढ़ा गया है। क्या यह उर्दू कविता का उद्योग बन जाना है? ऐसा बिल्कुल नहीं है। पाण्डेयजी हिन्दी और उर्दू कविता की समकालीन स्थिति के बीच तुलना करते

हुए जिस कसौटी की पहचान करते हैं वह है –श्रव्यता। श्रव्यता का अर्थ है कवि और पाठक/श्रोता के बीच संवाद अर्थात् एक दूसरे के बोध का अनुमान, काव्य-भाषा का दोनों पक्षों के बीच निर्बाध आवागमन आदि, “कविता की जिन्दगी के लिए श्रव्य परम्परा के महत्त्व की पहचान आज भी कई जगह मिलती है। आज भी उर्दू का हर शायर गजल या शेर कहता है, लिखता नहीं, जैसा कि हिन्दी के कवि करते हैं। बांग्ला में आवृत्ति की परम्परा ने कविता की सामाजिकता की रक्षा की है और उसे नई जिन्दगी दी है। हिन्दी कविता को संस्कृति के उद्योगों के खतरों से बचने के लिए उसके श्रव्य रूप की चिन्ता जरूरी है।”⁵²

निराला ने ‘स्नेह-निर्झर बह गया है’ में कविता ‘लिखने’ की नहीं, ‘कहने’ की बात का उल्लेख किया है – ‘मैं अलक्षित हूँ/यही कवि कह गया है’। आज भी कविता में जितना कहा हुआ मालूम पड़ता है उसमें जीवनी-शक्ति ज्यादा महसूस होती है। मगर आजकल हिन्दी कविता के रूप हमारे सामने सबसे बड़ी तादाद नागर कविता की है। संक्षेप में इसका स्वरूप कुछ इस प्रकार का है,

“आजकल हिन्दी में जिस कविता का बोलबाला है, वह नागर कविता है, शहराती और चालाक। उसके रूप और स्वभाव में ही नहीं, अभिप्राय में भी नागरता छापी हुई है। वह शहरी मध्य वर्ग के बौद्धिक समुदाय की आत्मकेन्द्रित दृष्टि की उपज है, इसलिए उसमें उसी वर्ग के जीवन की वास्तविकताओं, संवेदनाओं, आकांक्षाओं और उम्मीदों की अभिव्यक्ति हो रही है।... इस नागर कविता की काव्यानुभूति की संस्कृति में गाँव का समाज, वहाँ के लोगों की जिन्दगी, उस जिन्दगी के संघर्ष, उस संघर्ष के अनुभव और उस अनुभव की भाषा के लिए प्रायः बहुत कम जगह होती है। अगर उसमें इन सबको कभी थोड़ी जगह मिलती भी है तो सजावट की वस्तुओं के रूप में ठीक वैसे ही, जैसे शहरी मध्य वर्ग के लोगों के घरों में आजकल सूप, चलनी, हाँड़ी, डलिया, टोकरी आदि का उपयोग होता है। इससे एक ओर मध्यवर्गीय जिन्दगी का खोखलापन ढँकता है तो दूसरी ओर लोकजीवन और संस्कृति से प्रेम का प्रदर्शन भी होता है।”⁵³

मैनेजर पाण्डेय ने नागर कविता के बारे में विस्तार से बताते हुए इसके प्रति अपनी निराशाओं को प्रकट किया है। उनका विचारों को इन बिन्दुओं में व्यक्त किया जा सकता है –

- ◆ नागर कविता का स्वर स्पष्ट नहीं है, बल्कि कानाफूसी की शैली में बात को रखने की प्रवृत्ति है।
- ◆ यह प्रायः नीरस और एकस्वर है।
- ◆ अपने रूप के बारे में अत्यंत आग्रही है, मगर बोधगम्यता की चिन्ता किये बगैर।
- ◆ सहजता, ऐन्द्रिकता और भावावेग की उपेक्षा के कारण इससे जीवन्तता गायब हो गयी है।
- ◆ इसकी दिशा अभिजन कला की ओर जाती है, जहाँ लोकप्रियता को कला का प्रतिद्वंद्वी और विरोधी मानकर खारिज कर दिया जाता है।
- ◆ इसकी काव्य-भाषा विचित्र होती है जो सुधी पाठक को भी विश्वासपूर्वक समझ में नहीं आती है।
- ◆ इस भाषा के शब्द का अर्थ तो समझ में आता है, मगर पूरे वाक्य का अर्थ अनेक बार समझ में नहीं आता है।
- ◆ यह गढ़ी हुई साहित्यिक हिन्दी में रची जा रही है, जिसका सम्बन्ध मध्य वर्ग की भाषा से भी नहीं है।

- ◆ यह कविता जीवन के कर्म और अनुभव से कट कर रची जा रही है।

पाण्डेयजी दलित कविता से उम्मीद करते हैं। उनका विचार है कि दलित कविता के साथ 'लोकजीवन की पुकार' एक बार फिर लौटी है। इससे नागर कविता की एकस्वरता टूटी है और हिन्दी कविता में श्रव्यता की संभावना बनी है।

अपने समकालीन कवियों में नागार्जुन, अज्ञेय, रघुवीर सहाय, त्रिलोचन, धूमिल, कुमार विकल, शैलेन्द्र, अदम गोंडवी, कंदारनाथ सिंह से लेकर कुछ युवा कवियों के बारे पाण्डेयजी ने कविता के लिए उम्मीद देखी है और उन पक्षों को रेखांकित किया है जिनसे हिन्दी कविता समृद्ध हुई है। 'आलोचना की सामाजिकता' पुस्तक में एक अध्याय है - 'आज का भारतीय समाज और युवा पीढ़ी की रचनाशीलता'। इसमें पाण्डेयजी ने कुछ नए कवियों की कविताओं का जिक्र किया है। यह भी टिप्पणी की है कि वे 'कविता के प्रभाव के बारे में बहुत आश्वस्त न होने के बावजूद' इस प्रयास को रेखांकित करना चाहते हैं क्योंकि इनमें इन कवियों की मनुष्यता के प्रमाण हैं। कात्यायनी, अनिल कुमार सिंह, कुमार अम्बुज, देवीप्रसाद मिश्र, कृष्णमोहन झा, लीलाधर मंडलोई, कुमार मुकुल, बोधिसत्व, बद्रीनारायण, मनोज मेहता, संजय कुंदन, निलय उपाध्याय, हेमन्त कुकरेती, सविता सिंह, अनामिका, गगन गिल, पंकज चतुर्वेदी, अष्टभुजा शुक्ल की कविताओं का उल्लेख पाण्डेयजी ने संभावना के साथ किया है। कविता पूँजीवाद से हार नहीं सकती है, वह उसका हित-पोषण भी नहीं कर सकती है। मनुष्यता के मानदंड से हटते ही वह अपनी उच्च पदवी से गिर कर निरर्थक होने लगती है और श्रव्यता के गुण को खोकर पाठकीय स्वीकृति के संकट से ग्रस्त होकर लुप्त होने के खतरे की ओर बढ़ने लगती है। अतः कविता मनुष्यता के पक्ष से मातृभाषा की आत्मीयता के साथ रची जाकर, श्रोताओं/पाठकों की श्रव्यता की कसौटी पर कसी जाती है। उसे बाजार की ग्राहकता नहीं 'सामाजिक' की सहृदयता जीवित रखती है, इसलिए कविता पूँजीवादी दौर में प्रतिरोध की भाषा और भूमिका बनकर ही सार्थक हो सकती है, 'पूँजीवादी समाज में कविता न तो संस्कृति के उद्योग का हिस्सा बनकर जिन्दा रह सकती है और न माया की संस्कृति से होड़ करती हुई। वह मुक्तिधर्मी संस्कृति से जुड़कर ही अब तक जीवित रही है और आगे भी रहेगी। कविता जब मुक्तिधर्मी संस्कृति का माध्यम होती है, तभी वह सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने वाली शक्ति बनती है, अन्यथा वह या तो बुद्धिजीवी समुदाय के मनोरंजन का एक साधन होती है या संस्कृति के संग्रहालय की वस्तु।'⁵⁴

पुनः विचारणीय बिंदु -

- ◆ कविता मुक्तिधर्मी होती है।
- ◆ अगर वह ऐसी नहीं है तो उसके दो पतनशील रूप हो सकते हैं--
 1. बुद्धिजीवियों के मनोरंजन का साधन
 2. संस्कृति के संग्रहालय की वस्तु
- ◆ कविता मायावी बनकर बहुत दूर तक नहीं चल सकती है।
- ◆ उसे सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करनेवाली शक्ति के रूप कायम रहना चाहिए।
- ◆ कविता का इतिहास मुक्ति के लिए हुए संघर्ष का इतिहास है।

हिन्दी कविता के समकालीन रूपों को लेकर मैनेजर पाण्डेय का रुख प्रायः तीखा है। वे केवल निंदा के स्वर में बात नहीं करते या वे केवल कवियों का मजाक नहीं उड़ाते बल्कि आलोचना की उस

जिम्मेदारी को पूरा करते हैं, जो साहित्य के लिए अनेक बार दिशा दिखाने में सहायक होता है। आलोचक साहित्य का महज अनुगामी नहीं होता है, वह साहित्य की दशा का मूल्यांकन करते हुए साहित्य की दिशा के निर्धारण में भी अपनी भूमिका निभाता है। मैनेजर पाण्डेय हिन्दी कविता के विधागत स्वरूप के बारे में प्रासंगिक तौर पर जो विचार रखते हैं उनकी समग्रता में सार्थकता असंदिग्ध है। उन्होंने कविता के सैद्धांतिक पक्ष पर योजना बनाकर नहीं लिखा है, मगर यह उनकी चिंतन और लेखन-शैली की विशेषता है कि उनमें समग्रता और व्यवस्था का भरपूर अनुशासन है। यहीं उल्लेख्य है कि वे सैद्धांतिक आलोचना के किसी बंधन में विवश भी नजर आते और व्यावहारिक आलोचना का कोई मनमानापन भी उन्हें लालायित नहीं कर पाता। सिद्धांत और व्यवहार की ऐसी मिसाल इनसे पहले केवल आचार्य शुक्ल में दिखाई देती है।

संदर्भ:

1. कविता के नए प्रतिमान, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 1993, पृ. 28-29
2. वही, पृ. 27
3. रसमीमांसा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2048, पृ. 35
4. निराला की साहित्य-साधना -2, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994, पृ. 408
5. वही, पृ. 409
6. जर्मन दार्शनिक हैमन (Johann George Hamann, 1730-1788) ने कविता के बारे में लिखा था ,
“Poetry is the mother&tongue of the human race; just as gardening is older than agriculture, painting than writing; singing than declamation; similes than syllogism,; barter than commerce ” (A History of Modern Criticism 1750-1950, Volume 1, The Later Eighteenth Century ; Rene Wellek, Cambridge University Press, London, 1981. Pg. 179; First Edition&-1955)
S-S-Praver ने ‘Karl Marx and World Literature’ नामक अपनी पुस्तक में कार्ल मार्क्स के एक लेख की चर्चा की है जिसका सम्बन्ध आत्महत्या की समस्या से है। इस लेख में मार्क्स ने आत्महत्या पर लिखी गई एक पुस्तक के बारे में अपनी राय व्यक्त की है। इस पुस्तक में ऐसे कवियों की कुछ कविताएँ भी संकलित हैं जिन्होंने आत्महत्या की थी। इस पुस्तक का लेखक पुलिस की नौकरी में था। मार्क्स ने इस बहाने कविता के बारे में हैमन की बात को दुहराया है(पृ.126)। मार्क्स का यह लेख ज्यादा प्रसिद्ध नहीं है।
7. मेरे साक्षात्कार, मैनेजर पाण्डेय, किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 1998, पृ. 09
8. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रंथावली-2, सं.-ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, दरियागंज, नई दिल्ली, 2007, पृ. 31.
9. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान-मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, पृ.-212.
10. मेरे साक्षात्कार- मैनेजर पाण्डेय, किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 1998, पृ. 09
11. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान-मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, पृ.-13
12. वही, पृ.-14
13. आलोचना की सामाजिकता, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2005, पृ.-13

14. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, पृ.-18
15. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान-मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, पृ.-161
16. वही, पृ.-68
17. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान-मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, पृ.-100
18. वही, पृ.-100
19. वही, पृ.-106
20. वही, पृ.-113
21. वही, पृ.-135
22. वही, पृ.-134
23. वही, पृ.-168
24. वही, पृ.-168
25. वही, पृ.-169
26. वही, पृ.-180
27. वही, पृ.-181
28. वही, पृ.-181
29. वही, पृ.-188
30. वही, पृ.-188
31. वही, पृ.-209
32. वही, पृ.-210-211
33. वही, पृ.-208
34. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका- मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1999
35. मेरे साक्षात्कार- मैनेजर पाण्डेय, किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 1998, पृ.67
36. संवाद-परिसंवाद, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, पृ.-168
37. मेरे साक्षात्कार- मैनेजर पाण्डेय, किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 1998, पृ.19
38. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ.अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, 2015, पृ.150
39. मेरे साक्षात्कार, मैनेजर पाण्डेय, किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 1998, पृ.19
40. रसमीमांसा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2048, पृ. 222
41. साहित्य के समाजशास्त्र के भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1989, पृ. 225
42. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, पृ.-31
43. मेरे साक्षात्कार, मैनेजर पाण्डेय, किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 1998, पृ.11
44. सं-डॉ अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
45. मेरे साक्षात्कार, मैनेजर पाण्डेय, किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 1998, पृ.11

46. साहित्य के समाजशास्त्र के भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1989, पृ. 223
47. साहित्य के समाजशास्त्र के भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1989, पृ. 22-223
48. साहित्य के समाजशास्त्र के भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1989, पृ. 224
49. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, पृ.-211
50. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, पृ.-210
51. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, पृ.-214
52. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, पृ.-210-211
53. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, पृ.-215
54. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013, पृ.-212



अनुग्रह नारायण सिंह का हिंदी लेखन

□ आशुतोष पार्थेश्वर

हिंदी साहित्य के इतिहास में अनुग्रह नारायण सिंह को उनकी संस्मरण पुस्तक 'मेरे संस्मरण' के कारण याद किया जाता है। इस रचना को एक स्वर से बिहार के राजनीतिक-सामाजिक जीवन के लगभग पचास वर्षों का बोलता हुआ इतिहास माना गया है। इस पुस्तक की रचना हजारीबाग जेल में हुई थी। अनुग्रह नारायण सिंह 1940 के दिसंबर में व्यक्तिगत सत्याग्रह के सिलसिले में वहाँ थे। जेल में उनके साथ लक्ष्मीनारायण सुधांशु भी थे। सुधांशुजी ने उनसे किसी पुस्तक के लिखने का आग्रह किया और इसका वचन भी लिया। अनुग्रहबाबू 'साहित्यिक' न थे पर 'साहित्य सेवा की इच्छा' अवश्य रखते थे। वे साहित्य और राजनीति के लक्ष्य में अंतर भी न करते थे। अतः अपनी पुस्तक के विषय के लिए उन्होंने बिहार को ही चुना। बिहार के नए राज्य के रूप में उभरने से लेकर तब तक का बिहार का राजनीतिक जीवन, जिसे उन्होंने देखा था और जो उनकी जानकारी में था, उसे अपनी पुस्तक 'मेरे संस्मरण' का विषय बनाने का निश्चय किया।

अनुग्रहबाबू के लेखकीय कर्म को प्रायः इसी पुस्तक तक सीमित माना जाता है। किंतु ऐसा नहीं है। सन् पचास के आस-पास विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनके कई लेख, भाषण, संस्मरण आदि प्रकाशित हुए। उनमें बिहार सरकार के जनसंपर्क विभाग की मासिक पत्रिका 'बिहार' को विशेष महत्त्व प्राप्त है। जनवरी 1948 में इसका पहला अंक प्रकाशित हुआ था। इस पत्रिका के संपादन के लिए नंदकिशोर तिवारी की सेवाएँ ली गई थीं।

अनुग्रह नारायण सिंह के लेखन का बहुधांश संस्मरणात्मक है। उनका स्मृति प्रदेश जितना विस्तृत और व्यापक है उतना ही गंभीर भी। भारत के सबसे संघर्षशील दिनों की ये स्मृतियाँ हमें निरंतर अपनी जवाबदेहियों को महसूस करने के लिए प्रेरित करती हैं। ये व्यक्तिगत और सामाजिक उपलब्धियों से अधिक अपनी भूलों और जवाबदेहियों की पहचान के लिए प्रेरित करती हैं। एक सहृदय और लोकप्रिय राजनेता के संघर्ष की यादों से गुजरते हुए हम अपने देश की संघर्ष यात्रा पर तो होते ही हैं, साथ ही उन मूल्यों के भी क़रीब होने का मौक़ा पाते हैं जिसे इसे देश ने अपने संघर्ष के दिनों में आदर्श के रूप में स्वीकारा था। और, फिर एक हूक ही उठती है कि क्या वे मूल्य और आदर्श हमारे पास शेष हैं? क्या भारतीय आजादी और लोकतंत्र के सपनों को हम पूरा कर पाए हैं? यह सफलताओं और असफलताओं को तराजू पर तौलने का उद्योग नहीं है, पर इतना तो अकाट्य सत्य है कि व्यक्तिगत और सामाजिक-दोनों ही स्तरों पर अपनी भूलों को पहचानने और आत्मालोचन का अभ्यास हमने इन दिनों खो दिया है।

अनुग्रहबाबू के संस्मरण जीवनधर्मी हैं। यह जीवन न तो गूढ़ दर्शन में उलझता चलता है और न ही छलछलाती हुई भावुकता में बहता चलता है। 'मज्झय निकाय' इसका ध्येय है। उनके संस्मरणों का

पाठ सादगी और सच्चाई के साथ कर्ममय जीवन का बहुत स्पष्ट संदेश देता है पर वह संदेश उपदेश या प्रबोधन की शक्ल में नहीं होता है। जिन मूल्यों के साथ उन्होंने जीवन जिया, उन्हीं मूल्यों के साथ रचना-पथ पर भी सक्रिय रहे। अपनी स्मृतियों को शब्दों में उतारते हुए उन्होंने दो रचनात्मक मूल्य निध रित किए थे। पहला, उनके लिखे हुए में वे चीजें ही जगह पाएँगी जो उनकी 'जानकारी' में हों। दूसरा, उनके लिखे हुए में सत्य तो हो पर वही सत्य 'जो सबको प्रिय हो'। उन्होंने ईमानदारी से इन दोनों मूल्यों का निर्वाह भी किया। उनके संस्मरण में सुनी-सुनाई बातों या कोरा गप्प के लिए कोई जगह नहीं है। उनके द्वारा लक्षित 'प्रिय सत्य' का महत्त्व समझने के लिए यह याद रखना चाहिए कि वे बिहार का प्राचीन या मध्यकालीन राजनीतिक इतिहास नहीं लिख रहे थे, बल्कि वे उस समय को दर्ज कर रहे थे जो उनकी आँखों के सामने घटा था और जिसमें उनकी उपस्थिति एक दर्शक की नहीं, अपितु एक सक्रिय भोक्ता की थी। अनुग्रह बाबू उस 'सत्य' को अपने शब्दों में स्थिर करने का प्रयास कर रहे थे; जिसमें त्याग, निष्ठा, संघर्ष और समर्पण के मूल्य अंतर्निहित थे तो दूसरी ओर कपट, वैमनस्य, अविश्वास और स्वार्थ की क्षुद्रताएँ भी उपस्थित थीं। उनके सामने एक ओर अंग्रेजी राज का प्रकट शोषण-अत्याचार और छल-छद्म था तो दूसरी ओर नाना प्रकार की समस्याओं से जूझता देशी समय-समाज भी। इस समूचे परिदृश्य के जाने-पहचाने अंश को 'मेरे संस्मरण' में जगह देने के क्रम में उन्होंने 'अप्रिय सत्य' को संभवतः इसलिए दूर रखा कि जिन जवाबदेहियों और उम्मीदों के रास्ते पर वे चल रहे थे और आगे चलना चाहते थे, वह पूर्वग्रह या नकारात्मकता के साथ संपन्न नहीं किया जा सकता था।

अनुग्रहबाबू के संस्मरण विवरणात्मक हैं। किंतु वह केवल व्यौरों का समुच्चय भी नहीं है, उन व्यौरों में समायी लेखक की भावना, उसका विचार और चिंता सहज ही पाठकों को महसूस होने लगती है। लेखक के व्यक्तिगत एवं सामाजिक अनुभवों की बेहद ऊर्वर जमीन से उपजे हुए इन व्यौरों का लक्ष्य अपने पाठक को केवल सूचना संपन्न बनाना नहीं है बल्कि उससे अधिक भावप्रवण और समाज के लिए जवाबदेह बनाना है। स्वतंत्रता आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में उनके संस्मरणों से यह बात बहुत स्पष्ट रूप से उभरती है कि प्रत्यक्ष संघर्ष के काल में हमारी राजनीति जितनी ऊर्ध्वमुखी रही, शासन और सत्ता के गलियारे में वह उतनी ही पतनशील प्रवृत्तियों से ग्रस्त रही। बिहार में मुख्यमंत्री पद को लेकर श्रीबाबू और अनुग्रहबाबू के बीच जितनी दूरी थी, उससे अधिक का प्रचार अपना स्वार्थ साधनेवालों ने किया। 1952 के चुनावों में कांग्रेस की सफलता के पश्चात नेता पद के चुनाव में श्रीबाबू पीछे हटने को तैयार नहीं हुए तो अनुग्रहबाबू ने स्वयं को यह कहते हुए पीछे कर लिया कि "खाएँ श्रीबाबू चार रोटियाँ, मैं ही तीन खा लूँगा—वे ही नेता बनें!" वे आगे यह भी कहते हैं, "इसी बीच जगजीवन बाबू पटना आए और उनके ही नेतृत्व में मेल-मिलाप का स्वांग रचा गया, जहाँ हम दोनों गले-गले मिले, यद्यपि अब तक कभी बिछड़े नहीं थे।" निश्चय ही, 'स्वांग' शब्द का यह प्रयोग अनुग्रहबाबू ने हास्यबोध से नहीं बल्कि गहरी पीड़ा और पूरे प्रकरण की विडंबना को उभारने के लिए किया है। वे जानते थे कि वे और श्रीबाबू 'अब तक कभी बिछड़े नहीं थे'—पर यदि राजनीति में इस 'स्वांग' की आवश्यकता पड़ रही है तो आनेवाले समय में यह और भी विद्रूप होगा!

अनुग्रहबाबू के संस्मरण में अनुभवों के प्रति ईमानदारी को स्पष्ट रूप से लक्ष्य किया जा सकता है। अपनी भावनाओं, सुख, दुख, विस्मय, उधेड़-बुन, कशमकश, पछतावे—इन सब को संस्मरण में दर्ज करने में अनुग्रहबाबू हिचके नहीं हैं। इस लेखकीय ईमानदारी ने उनकी रचना की महत्ता को बढ़ाया है। उनके संस्मरण इस बात की गवाही देते हैं कि अनुग्रहबाबू एक व्यक्ति और एक राजनीतिक कार्यकर्ता

के रूप में जीवनभर कुछ नया सीखने के लिए तत्पर और उत्सुक रहे। इस तैयारी ने देश और काल की उनकी समझ को अधिक ठोस बनाया, साथ ही उन्हें अधिक संवेदनशील भी किया। चंपारण में एंड्रूज के भोजन के प्रसंग का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। इसी तरह गया डिस्ट्रीक्ट बोर्ड के चेयरमैन के रूप में काम करते हुए उत्पन्न विवाद को संस्मरण में दर्ज करने में भी उन्होंने लेखकीय ईमानदारी का निर्वाह किया है, “चुनाव के बाद ही मुझे इस तरह की परिस्थिति का सामना करना पड़ा जिससे चुनाव की मुनासिब खुशी भी मुझे न मिल सकी। कुछ तो पद का लोभ हो गया था और कुछ चुने जाने के बाद निकाल दिए जाने की संभावना पर क्षोभ और भय। चयनमैन चुने जाने के पहले उस पद की लालसा को छोड़ देना सरल था, लेकिन चुने जाने के बाद पद के मोह के साथ ही प्रतिष्ठा का सवाल आ खड़ा हुआ था। उस समय मेरी मन-स्थिति विचित्र हो रही थी।”

ये मानसिक उथल-पुथल ‘मेरे संस्मरण’ को अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय बनाते हैं। ‘मेरे संस्मरण’ से ही एक अन्य प्रसंग द्रष्टव्य है। अनुग्रहबाबू तब हजारीबाग जेल में थे। वे लिखते हैं, “जेल में मुझे कबूतर पालने का शौक हुआ। पहले कबूतर के दो बच्चों को पालना शुरू किया; मगर जब वे बड़े हुए, तब उड़कर भाग गए। इसी प्रकार कई कबूतर पाले और वे उड़ते गए। अंत में, पं० छविनाथ पांडेय ने कबूतर के दो बच्चे मुझे दिए और उड़ने लायक हो जाने पर उनके पंख काट देने की सलाह भी दी। इस प्रकार एक जोड़ा कबूतर मैं स्नेहपूर्वक पालने लगा और प्रतिदिन अपने हाथ से उन्हें दाने चुँगाता रहा। पंखों के छाँट देने से वे उड़कर भाग नहीं सके। मेरे कमरे में ही चक्कर काटते रहते थे। लेकिन, एक दिन अचानक एक बिलार उन पर झपटा और उन्हें ले भागा। यह दृश्य देखकर मैं अवाक् रह गया। मुझे इससे भारी सदमा पहुँचा। मैं दिनभर उनके शोक में फूट-फूटकर रोता रहा। यदि उनके पंख नहीं काटते, तो वे बिलाड़ के चंगुल में नहीं पड़ते। अतएव, इस हत्या का दोषी तो मैं ही हुआ—यह विचार कई दिनों तक मेरे दिल को विह्वल करता रहा।”

इस प्रसंग से यह भी स्पष्ट है कि भावना का ज्वार उत्पन्न करना उनके लेखन का अभीष्ट नहीं है, क्योंकि तब वह क्षणिक होता। वे तो उसे अंतःसलीला होते देखना चाहते हैं।

संस्मरण से इतर उनके लेखन और व्याख्यानों की अंतर्वस्तु पर यदि गौर करें तो मालूम पड़ेगा कि अनुग्रहबाबू के विचारों में ‘समाज’ का दखल किताबी शक्ल वाला नहीं था। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जिन मूल्यों के साथ आजादी के संघर्ष में वे और उनकी पीढ़ी सक्रिय थी, जिस भारत का सपना उनकी आँखों में बसता था; वह दुनिया के किसी भी मुल्क या समाज के लिए स्वीकार्य है। उनकी राजनीति सत्ता के गलियारे में, बल्कि जनता के इर्द-गिर्द घूमती थी। इसलिए राज और समाज के संबंधों की बुनावट को समझने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं थी। वे मानते थे कि यह संबंध तब अधिक उलझावपूर्ण और जटिल हो जाता है जब शासन अपनी ‘नैतिकता’ खो देता है। और, यदि ‘नैतिकता’ को किनारा करने की प्रवृत्ति व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार बन जाए तो पतन का रास्ता ही शेष रहता है। इससे भी जटिल स्थिति वह है जिसमें अपनी सुविधा से सामाजिक मूल्यों और नैतिकता की व्याख्या करने की कोशिश की जाती है। और, चूँकि ‘राजनीति’ से परे कुछ भी नहीं है इसलिए ‘राजनीति और नैतिकता’ के अंतर्संबंध पर अपनी बात रखते हुए अनुग्रहबाबू ‘नैतिकता’ को परिभाषित करते हुए कहते हैं, “न्याय, दया, सहानुभूति, परदुःखातरता, सौहार्द, प्रेम, इत्यादि मानवोचित गुणों को ही समवेत रूप से नैतिकता की अभिधा दी गई है।” इस नैतिकता का निर्वाह हर स्तर पर आवश्यक है। महत्त्वपूर्ण यह भी है कि ये गुण हमारे भीतर स्वाभाविक रूप से उपस्थित हैं कि नहीं; हममें आत्मालोचन की प्रवृत्ति

है या नहीं, अपनी भूलों को-दोषों को पहचानने और सुधारने की इच्छा है या नहीं; और यदि 'राजनीति' इस 'नैतिकता' से विलग हो जाए तो लोकतंत्र की असफलता निश्चित है। जब राजसत्ता 'बहुरंगी दावपेंचों' में फँस जाती है तो उससे इन 'मूल््यों का निर्वाह' नहीं हो पाता। अनुग्रहबाबू कहते हैं कि "शासन केवल एक व्यक्ति के लिए नहीं, समस्त जनता अर्थात् समष्टि के लिए होता है। समष्टि के हितों का यदि ध्यान न रखा गया, तो वह शासन कालांतर में असफल हो जाएगा और परिणाम होगा देश का पतन।"

वे मानते थे कि शासक को आदर्श होना ही चाहिए। वह 'बुद्धिमान, चतुर, कुशल' हो पर उसमें 'हृदय के गुण' भी होने चाहिए। यदि उसमें हृदय के गुण न होंगे तो वह कभी भी लोकप्रिय न हो पाएगा। वे कहते हैं कि "मस्तिष्क से संबंध रखनेवाले गुणों में पारंगत होते हुए भी एक शासक हृदय के गुणों से रहित होने के कारण निरंकुश की उपाधि धारण करता है।" यही नहीं, वे यह भी मानते हैं कि यदि नैतिकता राजनीति का साथ छोड़ देती है तो राजनीति 'उच्छृंखल हो उठती है और लाभ-हानि का विवेक खोकर देश को रसातल की ओर घसीट ले जाती है।'

'बिहार' पत्रिका में प्रकाशित 'मंगल पांडेय', 'बिहार और 1857 की जनक्रांति', 'महाराजा कुँवर सिंह' और 'राजा अमर सिंह' शीर्षक लेखों का संबंध 1857 के संघर्ष से है। 'मंगल पांडेय', 'महाराजा कुँवर सिंह', 'राजा अमर सिंह'—ये लेख 1857 के संघर्ष में इन नायकों की वीरता का आख्यान है। गौरतलब है कि अनुग्रह नारायण सिंह मंगल पांडेय को बिहार का मानते थे। चौथा लेख 'बिहार और 1857 की जनक्रांति' इस संघर्ष में बिहार की भूमिका को रेखांकित करने का प्रयास है। इस लेख में वे एक अन्य नायक—पीर अली को उपस्थित करते हैं। 1857 का संघर्ष अनुग्रहबाबू की चेतना में स्थायी रूप से उपस्थित रहता है। यह गौर करनेवाली बात है कि विचार और व्यवहार में एक गाँधीवादी और अहिंसक व्यक्ति उस रक्तरीजित संघर्ष के प्रति इतना आकर्षित क्यों होता और इन लेखों के ज़रिए अपने पाठकों को क्या संदेश देना चाहता है?

अनुग्रहबाबू गाँधी की अहिंसक राजनीति के पक्षकार थे, किंतु गाँधी का रास्ता किसी मज़बूरी या कमजोरी का रास्ता नहीं है, इसे उन्होंने चंपारण आंदोलन के समय ही जान लिया था। वे जानते थे कि यह रास्ता कष्ट देने का नहीं, कष्ट सहने का रास्ता है। वे जानते थे यह रास्ता पराजित या भीरू आस्था के साथ तय नहीं किया जा सकता। निर्भय होना इस राह के पथिक के लिए बुनियादी ज़रूरत है। तात्पर्य यह है कि 1857 के संघर्ष को 1950 के आस-पास याद करने का उनका उपक्रम कुछ दूसरी आवश्यकताओं से उपजा हुआ था! स्मरण रहे कि अनुग्रहनारायण सिंह 1857 के संघर्ष को 'जनक्रांति' के रूप में संबोधित करते हैं। अंग्रेज लेखकों और इतिहासकारों की व्याख्याओं से इतर 1857 के संघर्ष को एक जनसंघर्ष के रूप में 1950 के आस-पास कम ही लोगों ने देखा था। यह संघर्ष कुछ ज़मींदारों और भूपतियों का संघर्ष नहीं था, बल्कि विदेशी ताकतों को देश से भगाने के निमित्त था। पूर्व के संघर्षों से इतर यह केवल एक वर्ग, एक समुदाय या एक क्षेत्र तक ही सीमित न था; जिस व्याप्ति के साथ यह आकार ग्रहण करता है, वह पहले कभी न हुआ था। अनुग्रहबाबू के लेखों के दो नायक—कुँवर सिंह और अमर सिंह—समाज के कुलीन तबक़े से आते हैं तो मंगल पांडेय और पीर अली आम लोगों के बीच से। ओज और शौर्य की गूँज इन सभी से समान रूप से सुनाई देती है, लेकिन जिस बोध का संचरण अनुग्रहबाबू चाहते हैं, वह पीर अली के शब्दों में कुछ इस प्रकार है, "तुम मुझे फाँसी दे सकते हो, मेरी तरह अन्य व्यक्तियों को भी तुम फाँसी दे सकते हो, पर तुम हमारे आदर्श को फाँसी पर नहीं चढ़ा सकते। यदि मैं मर जाऊँ तो मेरे रक्त से हजारों वीर उत्पन्न होकर तुम्हारे राज्य का विनाश कर देंगे।" त्याग और

प्राणोत्सर्ग का यह व्यक्ति केंद्रित पाठ नहीं है, बल्कि संघर्ष-चेतना का लोककेंद्रित पाठ है। अपने मूल्यों और आदर्शों के लिए अथाह कष्ट सहते हुए भी उन पर अडिग रहने की यह ज़िद और मज़बूती अनुग्रहबाबू को गाँधी में भी दिखाई देती है। और, इस तरह वे गाँधी के संघर्ष और 1857 के आंदोलन में एक तारतम्य स्थापित कर पाते हैं। प्राणों के मोह और भयभीत मन से विजय तो दूर, लड़ाई की योजना भी नहीं बनाई जा सकती, इसीलिए इन नायकों के प्राणोत्सर्ग को उत्फुल्ल भाव से अंकित करते हुए अनुग्रहनारायण सिंह यह इंगित करना नहीं भूलते कि बलिदान और त्याग के इस जज़्बे में समस्त भारतीय जनता की उपस्थिति थी। इस प्रसंग में बिहार की भूमिका का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। इस उल्लेख के द्वारा वे स्थानीयता या क्षेत्रीय गौरव बोध को उभारना नहीं चाहते थे, इन नायकों को क्षेत्र विशेष तक सीमित करना उनका उद्देश्य भी न था; बल्कि उनकी मंशा यह बताने की थी कि संघर्ष के इतिहास में बिहार की कहानी 1917 से नहीं बल्कि उसके पहले से ही शुरू होती है।

अनुग्रहबाबू हिंदीप्रेमी थे। बिहार में हिंदी से जुड़ी दोनों बड़ी संस्थाओं—बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन और बिहार राष्ट्रभाषा परिषद से उनका गहरा लगाव था। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद की स्थापना एवं उसे राष्ट्रीय महत्त्व का संस्थान बनाने में उन्होंने उल्लेखनीय भूमिका निभायी थी। राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के उत्थान और विकास के लिए वे सतत चिंतित रहते थे। किंतु, उनकी यह चिंता 'हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान' वाली न थी। वे चाहते थे कि हिंदी दिलों पर राज करती हुई आगे बढ़े; उनका मानना था कि 'केवल विधान के ही बल पर हिंदी को इस देश के 40 करोड़ निवासियों की जिह्वा पर आसीन नहीं कर सकेंगे। हमें तो उनके हृदयों में हिंदी के प्रति श्रद्धा का अजस्र स्रोत प्रवाहित करना होगा।' और, यह तभी संभव है जब हिंदी प्रांत के निवासी "हिंदी के स्वरूप तथा उसके साहित्य का भांडार का विकास इस प्रकार करें कि वह अन्य भाषा भाषियों के लिए भी सुगम और सुग्राह्य बन सके।"

अनुग्रह नारायण सिंह हिंदी की शक्ति और महत्ता उसके राजभाषा या राष्ट्रभाषा होने में ही नहीं मानते थे; उनके अनुसार हिंदी के लोकभाषा बने बिना, लोकजीवन से संपृक्त हुए बिना उसके विस्तार का कोई भी प्रयास निरर्थक होगा, क्योंकि "कोई भी भाषा, चाहे वह कितनी भी शक्तिसंपन्न एवं समृद्ध क्यों न हो, लोकजीवन से दूर होकर बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकती।" हिंदी अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचे, लोग हिंदी को व्यवहार में लाएँ और यह सब प्रेमवश हो। वे चाहते थे कि हिंदी का व्यवहार संवादधर्मी हो। वह स्थानीय भाषाओं-बोलियों से संवाद करे साथ ही दूसरे क्षेत्र की भाषाओं से भी। इस तरह उसकी जड़ें गहरी होंगी और अविरोधी रूप में वह आगे बढ़ती जाएगी। उनका लक्ष्य हिंदी को सभी भाषाओं में ऊँचे स्थान पर स्थापित करना नहीं था बल्कि हिंदी को लोगों के हृदय में स्थापित करना था; राष्ट्रभाषा का लक्ष्य इसी रूप में पूरा हो सकता था, "मैं हिंदी को उस विशाल वृक्ष के रूप में देखना चाहता हूँ जिसका मूल तो हो हिंदी भाषा-भाषी प्रांत में, किंतु जिसकी जड़ें अन्य सभी प्रांतीय भाषाओं से रस सींचकर उस वृक्ष का पोषण कर रही हों तभी हिंदी भारतीय राष्ट्र की सच्ची राष्ट्रभाषा हो सकेगी।"

हिंदी के विकास और सशक्तता के लिए अनुग्रहबाबू दो अन्य क्षेत्रों की ओर भी संकेत करते हैं। पहला, हिंदी शिक्षा की माध्यम भाषा बने; दूसरा इसमें ज्ञान के विविध विषयों की रचनाएँ प्रकाशित की जाएँ। इन क्षेत्रों में कार्य करके ही हिंदी की विकास यात्रा को ठोस बनाया जा सकता है।

भाषा के साथ-साथ साहित्य के संबंध में भी उनके कुछ आग्रह थे। वे साहित्य की स्वायत्तता के हामी थे। उनके विचार में साहित्य को किसी खास राजनीतिक या वैचारिक खाँचे में बाँधकर नहीं

रखा जाना चाहिए। वह तो 'नदी की उस धारा की तरह' है 'जो अपनी शक्ति के प्रवाह के सामने किसी बाँध या रुकावट को टिकने नहीं देती'। साहित्य को 'स्वच्छंद' होना चाहिए और अपनी मर्यादा का निर्वरण स्वयं ही करना चाहिए, क्योंकि वह "अपनी स्वच्छंदता में बरसात की बाढ़ की तरह उमड़कर कहीं वह कूल-किनारे को न डुबा डाले।"

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्य केवल वाक्विलास है। अगर साहित्य और राजनीति का लक्ष्य एक है तो अनुग्रहबाबू के अनुसार, 'राजनीति सतह की लहर है और साहित्य तल में उठनेवाली तरंग।' वे मानते थे कि भारतीय साहित्य ने स्वतंत्रता आंदोलन में बखूबी अपनी भूमिका निभाई है किंतु इतने मात्र से उसकी जवाबदेही समाप्त नहीं हो जाती। उसका लक्ष्य सदियों से गुलाम रही जनता की मानसिक जड़ता को तोड़ना है। यह साहित्य का दायित्व है कि वह जनता को विवेकसंपन्न बनाए। इस प्रसंग में अनुग्रहबाबू ने एक ज़रूरी टिप्पणी की है, "विदेशी सत्ता ने जिस राजनीतिक पराधीनता की जंजीरों में हमें बाँध रखा था, उन्हें तोड़कर तो हमने मुक्ति की साँस ली है। किंतु, मानसिक पराधीनता की जो जंजीर उसने हमारे चिंतन और विचारों पर डाल दी थी, वह आज भी उसी तरह पड़ी है। उसके फलस्वरूप आज हम आँख मूँदकर बिना विचारे या तो पश्चिम से आई विचारधाराओं का अंधानुकरण कर रहे हैं, या अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की दुहाई देकर उसी को हू-ब-हू अपनाते का दुराग्रह कर रहे हैं। ये दोनों स्थितियाँ मानसिक पराधीनता की निशानी हैं।"

वे इन दोनों अति मार्ग से इतर स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार विवेक की कसौटी पर किसी भी मत को कसने का न्यौता देते हैं। वे मानते हैं कि न तो पुराना सब कुछ अच्छा था और न नया सब कुछ बुरा है। वे मानते हैं कि न तो अपनी परंपरा, अपना ज्ञान, अपनी संस्कृति पूरी तरह त्याज्य है और न ही पश्चिम का सब कुछ पूरी तरह स्वीकार्य।

अनुग्रह नारायण सिंह के संस्मरणों एवं अन्य लेखों से गुज़रते हुए यह बात पुनः पुनः पुष्ट होती है कि उनके लिखे और जिए हुए में कोई भेद नहीं है। जिस तरह व्यक्तिगत लाभ एवं सुखों की चिंता का उनके जीवन में कोई स्थान नहीं था, उसी तरह अर्थहीन कल्पना और वायवीयता का उनके लेखन में कोई स्थान नहीं है। वे एक बेहद संवेदनशील और सहृदय व्यक्ति थे और जीवन में स्थायी कार्यों को महत्त्व देते थे; इसी के अनुरूप उनके लेखन में क्षणिक उत्तेजना के स्थल नहीं मिलते बल्कि स्थायी प्रभाव छोड़नेवाले कई प्रेरक और मार्मिक प्रसंग अवश्य मिलते हैं। जीवन को सादगी से बरतने का यह अभ्यास उनकी रचनाओं में भी मुखर है। इस तरह, देश-काल की चिंता को उनके लेखन की केंद्रीय प्रवृत्ति के रूप में स्थिर किया जा सकता है। अपने लेखन के ज़रिए वे एक ओर अनुभवों को साझा कर रहे थे तो दूसरी ओर बहुत स्पष्ट तरीके से अपने पाठकों का प्रशिक्षण भी कर रहे थे।

अनुग्रह नारायण सिंह ने अपने घर-परिवार के जीवन और उसकी स्मृतियों को 'संस्मरण' का विषय नहीं बनाया है। उनके संस्मरण में जहाँ कहीं घर या परिवार का तनिक उल्लेख है, वह निश्चय ही किसी दूसरे प्रसंग में है। यह उनके लेखन की उपलब्धि है और सीमा भी! आखिरकार, वह कौन सी बात है जिसने लेखक को इतना अनुशासित रखा कि घर-परिवार, मित्रों-साथियों की कहानी दर्ज होने से बची रह गई। अनुग्रहबाबू संबंधों को निबाहने से अधिक जीनेवाले व्यक्ति थे, फिर वह सब कुछ उनके संस्मरण में क्यों न आ सका! जिस तरह गाँधी अपनी आत्मकथा में 'सत्य' की विविध छवियों को उभारने में संकोच नहीं करते, वह मुखरता अनुग्रहबाबू में क्यों नहीं आ पाई!

शायद, अनुग्रहबाबू यह मानते हों कि कभी भी कोई रचना, कोई कहानी, कोई किताब इंसानी

जिंदगी को पूरी तरह से व्यक्त नहीं कर सकती। 'मेरे संस्मरण' में उनका पूरा जीवन नहीं है; लेकिन जितना है वह सच है, और वह भी पूरा-पूरा न कि आधा-अधूरा। जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया है, 'संकोच' अनुग्रहबाबू के व्यक्तित्व में एक विशेष गुण के रूप में उपस्थित है, वे आत्मालोचन, अपनी उधेड़बुन और असफलताओं को दर्शाने में पीछे नहीं रहते किंतु उनके पूरे लेखन में आत्मप्रशंसा या आत्ममुग्धता की हल्की झलक भी नहीं मिलती। निस्संदेह, उनका लेखन 'स्व' के विज्ञापन अथवा प्रचार के लिए नहीं, बल्कि जवाबदेहियों और चुनौतियों के संसार में अपनी सफलताओं और चूकों के मूल्यांकन के लिए एक खुला निमंत्रण है।

प्रसंगवश, अनुग्रह नारायण सिंह के लेखन के भाषिक पक्षों पर भी विचार अपेक्षित है। उन्हें पढ़ते हुए भवानीप्रसाद मिश्र की ये काव्य पंक्तियाँ बरबस याद आती हैं, "जिस तरह तू बोलता है उस तरह तू लिख/उसके बाद अपने से बड़ा तू दिख।" अनुग्रहबाबू के गद्य में इस कवि-आग्रह का बेहद सुंदर निर्वाह देखा जा सकता है। लेकिन यह निर्वाह और इस प्रकार का अनुशासन आसानी से उपलब्ध नहीं होता। जटिल होना आसान है और सहज होना कठिन! विचार और व्यवहार के पार्थक्य से यह 'सहजता' उपलब्ध नहीं हो सकती। अनुग्रहबाबू की राजनीति, जनता से लगाव और जनता की चिंता ने उनके गद्य को पारदर्शी और जीवनधर्मी बनाया। उनका गद्य चामत्कारिक या घुमावदार शिल्प में नहीं है बल्कि ऐसे किसी भी लक्षण से कोसों दूर वह सामाजिक जवाबदेहियों को पूरा करनेवाला अर्थगर्भी और सादा है।

अनुग्रहबाबू का लेखन निरंतर एक सचेतनता से उपजा हुआ लेखन है। उनके लिखे का क्या अर्थ और संदेश पाठकों तक पहुँचेगा, इस चिंता को उनके गद्य से गुजरते हुए अनुभव किया जा सकता है। उनके अनुभव इतने विस्तृत और गहरे हैं कि उन्हें स्वयं को दुहराने की आवश्यकता नहीं होती। उनका हर वाक्य अपनी प्रांजलता के साथ पाठकों की समझ में उतरनेवाला वाक्य है। इसी कारण से हर वाक्य में वे कुछ नया या आगे की बात कहते मिलते हैं। पिछली बात की व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण की उन्हें आवश्यकता नहीं होती। अनुग्रहबाबू के गद्य का यह संस्कार उस ठेठ भारतीय परंपरा से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है जिसकी उत्कृष्ट उपलब्धियों के रूप में पंचतंत्र और हितोपदेश आदि का उल्लेख किया जाता है। उनका गद्य उस 'कहन' शैली का गद्य है जिसका निदर्शन आधुनिक काल में देवकीनंदन खत्री और प्रेमचंद ने किया है।

उनके वाक्य न तो बहुत छोटे हैं और न बहुत लंबे। जहाँ उनके वाक्य लंबे हैं, वहाँ विराम चिह्नों एवं योजकों का बहुत कुशलता से प्रयोग देखा जा सकता है। इससे भाषा का प्रवाह अबाधित रहता है और भाव-संप्रेषण में कठिनाई नहीं आती है। 'युगपुरुष महात्मा गाँधी' से यह उदाहरण द्रष्टव्य है: "उन्होंने असंख्य कठिनाइयों के बीच गुलामी और निराशा के भावों को हटाकर हमारे अंदर आशा, स्वाधीनता और स्वाभिमान के भावों का संचार किया, आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की वृत्ति पैदा की, हमारे नैतिक स्तर को बहुत ऊँचा उठाया और भारतवर्ष को संसार के राष्ट्रों के बीच आदर और प्रतिष्ठा का स्थान दिलवाया।"

यह पूरा उद्धरण एक वाक्य में है जिसमें कई बातों को विराम चिह्नों के द्वारा जोड़ा गया है। इसमें व्यक्तिगत निराशा का उल्लेख है और राष्ट्रीय हताशा का भी। अनुग्रहबाबू शब्दों के ठाठ को तत्समता की ज़मीन पर खड़ा करते हैं पर यह भी किसी खास आग्रह से नहीं। वे अपनी बातें सीधे-सीधे पाठकों के दिलों में उतार देना चाहते थे इसलिए उनके वाक्य इस सधाव से गढ़े होते थे कि अभीष्ट अर्थ से इतर कुछ अन्य की संभावना न रहे। 'युगपुरुष महात्मा गाँधी' में ही उन्होंने लिखा है, "सर्वप्रथम चंपारण के

किसानों को संकट से छुड़ाने के लिए बापू का आगमन हुआ। फिर हमारे सूबे में जिस समय भयंकर भूकंप ने सूबे के चंद हिस्सों को हिला ही नहीं दिया था बल्कि उन्हें तहस-नहस कर दिया था, उस समय बापू हमारे बीच आ गए। महीनों हमारे साथ रहकर उन्होंने हमें हिम्मत बँधाई और उजड़े हुए भागों को फिर से बसाने में मदद पहुँचाई। उस बार 1946 में जब हम पागल होकर एक-दूसरे का सिर काट रहे थे, हिंदू मुसलमानों को नेस्तनाबूद करने पर तुले हुए थे, बापू की आवाज हमारे कानों में पहुँची और हम चौकन्ना हो गए, हमारा पागलपन फौरन जाता रहा। समय-समय पर जब कभी हम कमजोर होने लगते थे; बापू बराबर अपने तपोबल से हमें ऊपर उठाते रहे और बराबर अपनी तपस्या की प्रेरणा से हमारा मनोबल जगाकर हमारी शक्ति बढ़ाते रहे। हम उनके कितने ऋणी हैं।” इस अंश का पहला वाक्य बिना किसी विराम चिह्न के है और दूसरे वाक्य में एक विराम चिह्न है। तीसरे वाक्य में योजक का प्रयोग है किंतु कोई विराम चिह्न नहीं है जबकि चौथे वाक्य में तीन-तीन विराम चिह्नों का प्रयोग हुआ है। पाँचवें वाक्य में पुनः एक विराम चिह्न और एक योजक का प्रयोग है। पहले दो वाक्यों में भूकंप की आपदा का उल्लेख है जबकि तीसरे वाक्य में सांप्रदायिक दंगे का। भूकंप से उजड़े हुए घरों को, जिंदगियों को बसाना निश्चय ही एक कठिन कार्य है पर उससे कहीं अधिक दुष्कर और कठिन है दंगों की आग में जल चुके परस्पर विश्वास को फिर से हरा करना। यह अधिक विचलित करनेवाली आपदा है। सो, अनुग्रहबाबू मानो इसकी बेचैनी और दुख से मुक्ति पाने के लिए एक लंबी साँस में, एक लंबे वाक्य में व्यक्त कर देना चाहते हैं।

इसी प्रसंग में एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है, “जो घटनाएँ देश में घट रही थी, उनके समझने-बूझने में ही 1922 का पूर्वाद्ध व्यतीत हो गया। हमलोग किंकर्तव्यविमूढ़ बन रहे थे। क्या किया जाए, क्या न किया जाए, इस पर कोई निश्चयात्मक विचार नहीं हो सकता था। बड़े-बड़े नेता जेलों के अंदर थे। जहाँ-तहाँ सत्याग्रह की बातें चलती थीं, पर वायुमंडल दिन प्रतिदिन दूषित होना शुरू हो गया था। जैसे-तैसे महीने बीतते गए, बड़े-बड़े नेताओं की रिहाई होती गई।” अनुग्रहबाबू को अपनी बातें कहने की जल्दबाजी नहीं रहती। वे इतने इत्मिनान से अपनी बातें रखते हैं कि किसी के लिए कोई संशय, कोई भ्रम या न समझ पाने की संभावना न रहे। पूरा का पूरा हाल पाठकों तक पहुँच जाए इसलिए वे बातचीत की शैली में भी उतर आते हैं। स्वभावतः वाक्य छोटे होते जाते हैं या विराम चिह्नों का प्रयोग दिखाई देने लगता है। यह पूर्व के उदाहरण में देखा जा सकता है और इस उदाहरण में भी— “अर्थाभाव की जटिलता सुलझाने के लिए अस्थायी स्वागत समिति की एक विशेष बैठक गया में बुलाई गई। निश्चय यह हुआ कि हम लोग छह-सात जने मिलकर अपनी व्यक्तिगत जवाबदेही पर बैंक से पचास हजार रुपए कर्ज ले लें और इसी के द्वारा प्रारंभ में काम चलाया जाए। जब आगे चलकर रुपए आने लगेंगे तब यह कर्ज अदा कर दिया जाएगा। सभी ने यह बात स्वीकार की और बैंक भी रुपए देने को राजी हो गया। फिर क्या था, काम तेजी से आगे बढ़ने लगा। राजेंद्र बाबू, ब्रजकिशोर बाबू आदि प्रांत के सभी बड़े-बड़े नेता प्रत्येक जिले में घूम-घूमकर धन-संग्रह के काम में जुट गए। राजेंद्र बाबू तो कभी हाथी पर, कभी इक्के पर, कभी खटौली पर बैठकर गया जिले के गाँवों में जाने लगे और धनी-मानी लोगों से मिलकर उनसे वादे लेने लगे।”

यहाँ उनके शब्द-प्रयोग पर भी विचार अपेक्षित है। तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशज में से किसी को भी उन्होंने त्याज्य नहीं समझा और न ही किसी के प्रति विशेष आकर्षण ही प्रकट किया। यह ऊपर उद्धृत अंशों में देखा जा सकता है। इसी तरह एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है— “चुनाव के बाद ही

मुझे इस तरह की परिस्थिति का सामना करना पड़ा जिससे चुनाव की मुनासिब खुशी भी मुझे न मिल सकी। कुछ तो पद का लोभ हो गया था और कुछ चुने जाने के बाद निकाल दिए जाने की संभावना पर क्षोभ और भय। चेरमैन चुने जाने के पहले उस पद की लालसा को छोड़ देना सरल था, लेकिन चुने जाने के बाद पद के मोह के साथ ही प्रतिष्ठा का सवाल आ खड़ा हुआ था। उस समय मेरी मन-स्थिति विचित्र हो रही थी।” इसमें तत्सम प्रयोग है और विदेशज भी। उन्होंने संप्रेषणीयता की कसौटी पर अपनी लेखन शैली को विकसित किया था। निस्संदेह, यह वही भाषा थी जिसकी पैरवी गाँधी ने ‘हिंदुस्तानी’ नाम से की थी।

अनुग्रहबाबू का गद्य ‘कहन’ शैली का है। इस शैली के सामर्थ्य और सुंदरता को बिंब-निर्माण में देखना चाहिए। उनके लेखन में ऐसे कई प्रसंग मिलते हैं जहाँ अपनी बात पूरेपन के साथ पहुँचाने के लिए वे बिंब गढ़ते हैं। ‘महाराजा कुँवर सिंह’ से यह अंश द्रष्टव्य है— “डनवर की विचारधारा यही नहीं रुकी। वह आगे सोचने लगा..... आरा की विजय के बाद जगदीशपुर और जगदीशपुर पर कब्जा कर लेने पर विजय सर्वत्र विजय और कंपनी राज का दृढ़ सिक्का! चारों ओर से उसे विजय का ही स्पर्श होने लगा। उसे लगा जैसे समस्त वायुमंडल विजयश्री से काँप उठा हो। इतने में अचानक चारों ओर से गोलियों की बौछार होने लगी। दाहिने-बाएँ, आगे-पीछे, चारों ओर से गोलियों का आक्रमण और आक्रमणकारी का कहीं पता भी नहीं। डनवर आम के बगीचे के मध्य में था। चारों ओर अंधकार ही अंधकार, आकाश में तारागण और पृथ्वी पर आम के भयानक काले पेड़, और चारों ओर से गोलियों की बौछार! बेचारा डनवर क्या करे, यह समझ न सका।”

इसी तरह मंगल पांडेय का चित्र खींचते हुए वे लिखते हैं, “मंगल पांडेय बिहार प्रांत के रहनेवाले थे। वे बहुत कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। साथ ही साथ उनमें क्षत्रियोचित गुण का अभाव न था। लंबा कद, चौड़ी छाती गठी हुई भुजाएँ, यौवन की उठान, यह गौरवर्ण नवयुवक बंगाल की 34वीं रेजिमेंट का एक वीर सैनिक था।”

ऐसे स्थलों पर उनकी शैली पर्याप्त आलंकारिक हो जाती है। लेकिन स्मरण रहे कि इस तरह के प्रयोग वे अपने पाठकों को भरमाने या कल्पना लोक में ले जाने के लिए नहीं करते; बल्कि विषय को अधिक स्पष्टता एवं चारुपूर्ण रूप में प्रस्तुत करने के लिए करते हैं। ‘मेरे संस्मरण’ से ऐसा एक अन्य अंश द्रष्टव्य है— “रोम से उड़कर हमारा हवाई जहाज सीधे लंदन के हवाई अड्डे पर उतरा। 246 मील प्रति घंटे की चाल से हवाई जहाज बादलों के ऊपर उड़ रहा था। ऊपर से समुद्र का जल दृष्टिगोचर नहीं हो पाता था। मालूम होता था, उमड़ती हुई जल राशि के ऊपर किसी ने बादलों की श्वेत चादर का आवरण ढँप दिया है। और, चूँकि इस आवरण के भीतर समुद्र का जल ज्वार-भाटे का खेल करता था, कूद-फाँद मचा रहा था, इसलिए ऊपर का घन-आवरण ऊपर नीचे लहराता दृष्टिगोचर हो रहा था, मानो बादल समुद्र के वक्ष पर उधम मचाकर उसके जल का शोषण कर रहा हो! और, जिस तरह मशक में पानी भर कर दूसरों को तृप्त किया जाता है, उसी प्रकार बादल भी समुद्र का पानी सोखकर दूसरे स्थान में छोड़ आता है।”

अनुग्रह नारायण सिंह के लेखन का एक लक्ष्य भारतीय जनता का प्रशिक्षण और जागरण भी था। वे स्वयं इतिहास के विद्यार्थी थे। इसलिए इतिहास को सही परिप्रेक्ष्य और सही दृष्टि से लोगों तक पहुँचाना उन्हें आवश्यक जान पड़ता था। इसके अभाव में उसके कुपाठ का खतरा पैदा हो जाता है। उन्होंने एक ओर कुँवर सिंह और अमर सिंह जैसे ख्यात, कुलीन और जमींदार योद्धाओं की वीरता को अपने लेखों

में जगह दी, तो दूसरी ओर मंगल पांडेय और पीर अली जैसे अज्ञात या अल्पख्यात योद्धाओं को भी। स्मरण रहे, कि 1857 के प्रथम स्वतंत्रता आंदोलन को उन्होंने 'जनक्रांति' की संज्ञा दी है। इस 'जनक्रांति' में मातृभूमि के लिए प्राणोत्सर्ग करना एक बहुत ही मामूली थी! इसके नायकों की तस्वीर खींचते हुए अनुग्रहबाबू का गद्य भी फड़क उठता है। अंग्रेज अधिकारियों को पीर अली का यह जवाब देखना चाहिए, "जीवन में कभी ऐसे अवसर भी आते हैं जबकि प्राणों की रक्षा आवश्यक प्रतीत होती है, पर जीवन में ऐसे भी अवसर उपस्थित होते हैं जबकि प्राणों की रक्षा के बदले उसका बलिदान अधिक आवश्यक एवं श्रेयष्कर होता है। आज का अवसर प्राणों के बलिदान का है, जबकि मृत्यु का शीघ्र आलिङ्गन करने से शाश्वत जीवन की प्राप्ति हो जाएगी।" तथा, "तुम मुझे फाँसी दे सकते हो, मेरी तरह अन्य व्यक्तियों को भी तुम फाँसी दे सकते हो, पर तुम हमारे आदर्श को फाँसी पर नहीं चढ़ा सकते। यदि मैं मर जाऊँ तो मेरे रक्त से हजारों वीर उत्पन्न होकर तुम्हारे राज्य का विनाश कर देंगे।"

तात्पर्य यह है कि अनुग्रह नारायण सिंह को अपनी बातें कहने में कभी दुविधा या कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। संप्रेषणीयता उनके लेखन का गुण है। चाहे छोटे-छोटे वाक्यों में उन्होंने अपनी बातें कहीं या लंबे वाक्यों में—उनका अभीष्ट पाठकों तक सीधे पहुँचता है। वे भाषिक जॉर्न में नहीं फँसते बल्कि भाषा की अभिधात्मक संभावनाओं को चरम पर ले जाते हुए अपनी बातें कहते हैं। निस्संदेह, बोली हुई भाषा की भंगिमा और वैभव दोनों से युक्त उनका गद्य सुथरी हुई हिंदी का एक उत्कृष्ट नमूना है।



‘दुनिया के दुख-द्वंद्व बिसारे, मैं घूमूँगा केन किनारे : केदारनाथ अग्रवाल’

□ भैरव सिंह

केदारनाथ अग्रवाल और केन नदी दोनों का संबंध ‘बांदा’ से है। बांदा (बुंदेलखंड) में एक की पहचान कवि-वकील के रूप में है, तो दूसरे की स्थानीय व घाटी नदी के रूप में। संयोग यह कि अपने नामों के पहले अक्षर की तरह दोनों का संबंध भी अभिन्न है। बांदा और केन से कवि की यह अभिन्नता उन्हें लोक कवि के रूप में प्रतिष्ठित करती है। लोक कवि आंचलिक कवि हुए बिना नहीं रह सकता। केदार की अधिकांश कविताएँ बांदा के कमसिन गाँव की धरती और केन नदी की संस्कृति से जुड़ी हैं, जिसमें वहाँ के माटी की गंध सर्वत्र विद्यमान है।

केदार के यहाँ लोक जीवन का परिवेश और प्रकृति एकाकार हो जाते हैं। केदार का प्राकृतिक परिवेश कृषक लोक जीवन से जुड़ा हुआ है। डॉ. रामविलास शर्मा की माने तो केदार के इसी प्राकृतिक परिवेश का अपरिहार्य घटक है, ‘केन’। केन बांदा की नदी है; जिसका एक नाम ‘कर्णवती’ भी है, जो कवि और उसकी कविता को संजीवनी प्रदान करती रहती है। आइए अब यह जान लें कि कैसे यह नदी बुंदेलखंड की ऊबड़-खाबड़, पठारी, रेतीली जमीनों और चट्टानों से होती हुई कवि-चेतना में समाहित हो गई, कवि-हृदय को उर्वर बना गई। केन के प्रति कवि की यह आत्मीयता और अपनी अंतर-चेतना पर उसका पड़ने वाला प्रभाव कितना गहरा और व्यापक था, इस विषय पर केदार का स्वयं का कहना था कि, “मैं कभी वाचाली स्वभाव अथवा बड़बड़िया नहीं रहा। बुजुर्गों ने अनुशासन से बांधा और मुझे कम बोलने वाला बना दिया, इसलिए मैं समाज के दूसरे लोगों से प्रारम्भ में घनिष्ठ नहीं हो सका और एकाकी रहने की वृत्ति से केन नदी तक जाने लगा, उससे उत्तरोत्तर गहरे मनोभाव से जुड़ने लगा। वह मेरी चेतना की नदी बन गई। मैं उसकी अभिव्यक्ति करने लगा।”¹ कम बोलना और एकाकी रहने की वृत्ति इस प्रेम और लगाव का केवल एक पक्ष है, कारण और भी हैं।

केन के प्रति केदार के प्रेम को साधारण नहीं कहा जा सकता। इस असाधारण प्रेम का आधार है, सुबह से शाम तक पानी की प्रलंब प्रवाहित देह जो, “प्रकाश-ही-प्रकाश पिटी है/ न रात में सोती- / न रोती है, / उच्छल तरंगित होती है; / न सूखी, / न रीती / जीवंत जीती है।”² साथ ही “अतीत से निकाल आई / वर्तमान को उच्छल जीती / भविष्य भूमि की ओर / संक्रमण करती नदी / गतिशील निरंतरता /”³ केन की सबसे बड़ी खूबी है; उसकी निरंतर गतिशीलता। इस गतिशीलता में समाहित है अंधकार, निराशा, अकर्मण्यता, संवेदनहीनता, जड़ता और घृणा को दूर करने की शक्ति। साथ ही समाहित हैं, समय के तीनों प्रारूप- अतीत, वर्तमान और भविष्य। अतीत को छूकर, वर्तमान को जीती हुई भविष्य

की ओर उन्मुख होने वाली यह नदी, “केन हैं केन! प्रवाहित प्यार की- / मेरी नदी केन / मेरे आत्मप्रसार की / मेरी नदी केन”⁴ सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का एकमात्र आधार। मानव जीवन और कविता से प्रेम करने वाले कवि को एक नदी से और क्या चाहिए? विकसित मानव-जीवन के सारे आधार इस जीवंत प्रवाहित धार में मौजूद हैं, जरूरत है उसे देखने की, महसूस करने की। केदार ने उसे देखा, महसूस किया और उसे जीते हुए अपनी अभिव्यक्ति एवं आत्मप्रसार का आधार बनाया। इसलिए वह कवि की अपनी और आत्मीय नदी है। इस आत्मीयता और अपनेपन को कवि-मित्र रामविलास जी ने पहचाना और लिखा, “दिन हो चाहे रात, नदी की ओर संकेत भी हो तो समझ लेना चाहिए, यह नदी केन है।”⁵

केन बांदा की जीवन-रेखा है। ऐसी जीवन-रेखा जिसका अपना एक अविजित इतिहास है। जब बांदा सहित पूरा देश गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था, अंग्रेजों, पूंजीपतियों एवं सेठ-महाजनों के अत्याचारों से त्रस्त था, तब भी, “केन नदी को तब भी कोई जीत न पाया / उसकी धारा का पथ कोई रोक न पाया / उसने पथ से प्यार किया है, ममता की है / आँसू भींगे मानव को दृढ़ता दी है।”⁶ केन की धार अजेय है। केन की यह अजेय धारा बांदावासियों की दृढ़ता और ममत्व का आधार है। जीवन-विरोधी परिस्थितियों के बीच जीवन को बचाए रखने का सार उसमें निहित है। वह बांदा के लोगों की अपनी नदी है, इसलिए उनसे आग्रहपूर्वक निवेदन करती है, “मेरा पानी पी लो / नीलकंठ हो मेरे बांदावासी जी लो।” जलाभाव के संकट से जूझते इस पठारी क्षेत्र में केन की अविरल धारा जीवनप्रदत्त है, अमृत के समान है। कदाचित नदी से प्रेम का एक कारण यह भी हो सकता है। इस संदर्भ में ओम निश्चल का कहना है कि, “केदार उस धरती के कवि हैं, जो त्रिलोचन की धरती से थोड़ा अलग है। लगभग पठारी क्षेत्र, जहाँ वर्षा के अभाव में धरती का सीना दरक जाता है, किसानों का श्रम नियति के भाग्यलेख के आगे निष्प्रभ हो उठता है। जलाभाव से त्रस्त इस इलाके में कदाचित नदी के लिए कवि के मन में इसलिए इतना गहरा प्रेम है।”⁷

केन के अनेक रूपों की तरह केन के कवि का मन भी कई तरह के भावों से भरा है, वह एक रस नहीं। केन किनारे बैठा यह कवि अपने मन के कैनवस पर उसके विभिन्न चित्रों को आँकता रहता है। शाम का बोध केदार को इस कारण होता है कि केन ने अपनी जांघ ढक ली है। केदार को नदी ‘एक नौजवान ढीठ लड़की’ लगती है, जो पहाड़ से मैदान पर आई है, “जिसकी जांघ खुली / और हंसों से भरी है / जिसने बला की सुंदरता पायी है।” साथ ही इसके किनारे खड़े, झूमते, झुकते और इसके जल को चूमते पेड़ कवि को मस्त नौजवान लड़के दिख पड़ते हैं। अपनी एक कविता में कवि ने नदी को ‘म्यान से खींची तलवार’ कहा है, जो मैदान में लगातार चलती है और ‘जिसकी धार तेज / और बिजली से भरी है / जिसने बला की चंचलता पाई है’ - यह नदी का यौवन है, उद्दाम यौवन।

केदार के यहाँ इस प्रिय नदी के कई रूप-रंग हैं। केन प्रकृति-प्रिया है। सूर्य की किरणें जब केन नदी पर पड़ती हैं तो प्रकृति-प्रिया की मांग चमक उठती है, जिसपर आकाश बिंबित रहता है। सूर्य की किरणें पड़ते ही पूरी नदी ‘कनक कामिनी नदी’ में तब्दील हो जाती है। चारों ओर ‘मधुर मालिनी रोशनी का लुभावना जाल’ बिछ जाता है, जिसमें छोटी-बड़ी सरल-गामिनी मछलियाँ आसानी से फंसकर रह जाती हैं। केन कभी गरम रेत पर घन से छूटी बिजली की तरह तड़प उठती है तो कभी सूर्य के ‘खरतर शर से माटी’ क्षीण तन-मन हो व्याकुल हो उठती है। कभी पारदर्शी चांदनी के प्रकाश को पी केन; पानी का नहीं, प्रकाश की बहती नदी बन जाती है। भूमि पर पड़ी ‘श्वेत केश की तरह’ यह नदी कवि को ‘बूढ़ी नहीं’; जवान लगती है, जो ‘मेघ और पृथ्वी की संतान’ है। नदी एक पर उसके रूप अनेक। नदी

का एकांत, उसका प्रवाह, उसकी गति उसका नित्य नूतन परिवर्तित रूप, क्या नहीं है, केदार के यहाँ कवि और नदी के बीच के इस संबंध को देखते हुए ही डॉ. अशोक त्रिपाठी ने लिखा, 'केन नदी उनके अस्तित्व में रच-बस कर उनके लिए चेतना की नदी बन गयी। केन को उन्होंने इतनी बार, इतने विभिन्न कोणों से देखा, उसके क्षण-क्षण नित नूतन परिवर्तित सौंदर्य का अनुभव किया कि वह उनके जीवन-दर्शन का अभिन्न हिस्सा बन गयी।'⁸

केन नदी, जिसका सबसे ज्यादा वर्णन केदार ने अपनी कविताओं में किया है, उससे उनका इतना सख्य भाव है कि उसकी तनिक भी उदासी उन्हें विचलित कर देती है, 'आज नदी बिलकुल उदास थी/ सोयी थी अपने पानी में, / उसके दर्पण पर बादल का वस्त्र पड़ा था / मैंने उसको नहीं जगाया / दबे पाँव घर वापस आया।'⁹ यह कविता प्रमाण है कवि और केन के बेहद संवेदनशील संबंध का। नदी (नायिका) बिलकुल उदास थी। इसलिए नायक ने उसे नहीं जगाया। दबे पाँव घर वापस चला आया। सोते में उदास दीख रही है तो कोई पीड़ा रही होगी जिसके कारण उसे मुश्किल से नींद आई होगी। इसलिए नायक उसे सोता पाकर दबे पाँव वापस चला आता है। दबे पाँव की वह जग न उठे। जाग उठेगी तो उसकी पीड़ा उसे व्याकुल कर देगी। प्रेमभाव की यह महान विशेषता है कि प्रेमी 'प्रेम' के कारण स्वार्थ और आत्मग्रस्तता से मुक्त हो, स्वयं से अधिक प्रिय की चिंता करने लगता है। प्रेम की यही विशिष्टता उसे शेष मनोविकारों से भिन्न और उदात्त बनाती है। जहाँ प्रेम सच्चा हो वहाँ संयम स्वयं आ जाता है। यह सहज संयम प्रेम के ही उच्च धरातल पर प्राप्त होता है जो केवल मानवीय क्षमता है।

नदी को उदास एवं सोता पाकर कवि दबे पाँव वापस चला आता है लेकिन जब नदी का यौवन अपने पूरे निखार पर हो तब, 'न भूलेगी मुझे / नितंबनी/ स्रोतस्विनी / जलधार से भरी नदी / जिसने मुझे भेंटा / मैंने जिसे भेंटा / सूर्य ने घंटों हमें देखा।'¹⁰ यहाँ नदी नितंबनी, स्रोतस्विनी है। जलधार से भरी है। 'जलधार' शब्द में कितनी ऐंद्रिकता है। सूर्य का उन्हें घंटों निहारना अकुंठता का प्रतीक है। इसी रूप में केदार की एक और कविता, जिसमें केदार ने लिखा, 'वह नदी के नील जल की वासना है/ जो कगारों को डिगाए जा रही है'¹¹ कगारों अर्थात् देखने वालों के संयम या मर्यादा भाव को। 'नील जल' कोमल मांसल-स्पर्श। कगारों को डिगाने का मतलब नील जल की वासना सक्रिय है, जो निरंतर कगारों को स्पर्श देकर पीछे हट जाती है। प्रकृति-चित्र केदार के यहाँ अनुपम, नए और ऐंद्रिक है। प्रकृति के ऐसे उत्तेजक, ऐंद्रिक चित्र शमशेर के यहाँ भी देखने को मिलते हैं। प्रकृति के साथ मनुष्य के ऐसे संपर्क चित्र अपने आप में विशिष्ट हैं। इस संदर्भ में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने टिप्पणी करते हुए लिखा कि, 'प्रकृति के अनेक रूपों में परस्पर यौन-संपर्क चित्र तो मिलते हैं किंतु मनुष्य (कवि केदार की कविता में 'मैं') के साथ ऐसे संपर्क चित्र दुर्लभ हैं। केदार के ऐसे चित्र भाव-प्रगाढ़ता के द्योतक हैं।'¹²

केन नदी से पहले केदार ने 'गंगा' पर कविता लिखी। उनकी कविताओं में केन के साथ गंगा और यमुना भी प्रभावित है। ये नदियाँ भिन्न रूपों में हैं। केदार का पहला काव्य-संग्रह 'युग की गंगा' (1947) है। गंगा भारत की बड़ी और पवित्र नदियों में से एक है। वह युगों से प्रभावित है और युग के निर्माण में भी सहायक है, 'युग की गंगा / सब प्राचीन डुबोयेगी ही / गुहागर्त से / आगे जाकर / सूर्योदय से खेलेगी ही / सूखी खेती सींचेगी ही; / भूखी, प्यासी, / दुर्लभ, निर्बल धरती को हरियायेगी ही / अवरोधों को मेटेगी ही, / जनसागर को भेंटेगी ही।'¹³ नदी का यह प्रवाह परिवर्तन की अकांक्षा, क्रांति, नए सृजन व शक्ति का प्रवाह है। वह जनसागर से जुड़कर उसकी भूख, प्यास, दुर्बलता एवं अवरोधों को मिटाने वाला प्रवाह है। जनता की व्यापक एकता के बिना युग नहीं बदल सकता

और न नए युग का निर्माण संभव है, कवि इस बात को भली-भाँति समझता है इसलिए केदार ने गंगा को युग से जोड़कर देखा। गंगा की तरह 'यमुना' भी भारत की धार्मिक आस्था से जुड़ी हुई नदी है। यमुना का संबंध ब्रज और राधा-कृष्ण से है। यह 'प्रेम की नदी' है। केदार के पत्नी-प्रेम से जुड़ी नदी, 'जमुन जल तुम' (1984)।

इन दोनों नदियों की तुलना में 'केन' केदार की अपनी नदी है, आत्मीय और प्रिय। गंगा की तरह केन का प्रवाह भी संघर्ष, परिवर्तन व शक्ति का प्रवाह है, 'तेजधार का कर्मठ पानी/ चट्टानों के ऊपर चढ़कर / मार रहा है / घूसे कसकर / तोड़ रहा है तट चट्टानी।'¹⁴ यह संघर्ष व श्रम का चित्र है। बेहतर भविष्य के लिए श्रम और अमानवीय परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष। कर्मठ पानी कसकर घूसे मारकर चट्टानी तट (साम्राज्यवादी, पूंजीवादी ताकतों) को तोड़ने का प्रयास कर रहा है। इस प्रयास में वह थक गया होगा, प्यास लगी होगी सो उसने धूप (ऊर्जा का अक्षय स्रोत) पिया है, 'पानी ने धूप पिया जी भर के। अब लेटा है सीना खोले'। स्वस्थ, कर्मठ, नौजवान के थकने की अनुभवा पानी 'युग के श्रमजीवी का बेटा' है। केन मौन नहीं रहती। वह कहती है, 'काटो कल की चट्टानों को, तोड़ों कारा' / जल्दी-जल्दी वर्तमान की मोड़ों धारा।' तात्पर्य साम्राज्यवादी, पूंजीपति ताकतों द्वारा तैयार किए गए अमानवीय जीवन परिस्थितियों से छुटकारा। केदार की दृष्टि में केन 'मनुष्यों के जीवन की पथगामी' है और 'सीखा है उसने श्रमधारा बनकर रहना'। केदार के इन चित्रों पर मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। केदार की इस प्रवृत्ति को परिलक्षित करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा 'निःसंदेह केदार की सामाजिक विचारधारा की छाप उनके प्रकृति चित्रण पर है।'¹⁵

केदार जब अपनी कविता में कहते हैं, 'मुझे नदी से बहुत प्यार है', तब तालाबों, सरोवरों, झरनों और समुद्र से अधिक प्यार न होकर नदी से प्यार करने का एक सांस्कृतिक पक्ष भी है। नदियों के किनारे ही सभ्यता का जन्म एवं विकास होता है। नदियों का प्रवाह, उसकी गति एवं लय जीवन से जुड़ी होती है। अज्ञेय और केदार के बीच सबसे बड़ा अंतर यह है कि अज्ञेय 'नदी के द्वीप' के कवि हैं और केदार नदी के गति एवं लय के। जीवन 'स्थिर' नहीं, गतिशील और लययुक्त होता है। अज्ञेय के यहाँ हमें नदी का यह रूप देखने को नहीं मिलता। नागार्जुन को केदार इसलिए भी प्रिय हैं कि वह 'केन कूल की काली मिट्टी' और 'नद-नदियों के सगे बंधु' हैं। द्वीप स्थिर होता है, वहाँ न गति है, न प्रवाह। जो गतिशील नहीं, वह सुंदर नहीं किंतु केन, 'गहना है उसके जीवन का गति का बहना'। इसलिए कवि-मन में यह नदी रच-बस गयी है। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार, 'बांदा में समुद्र नहीं है, केन है। समुद्र से ज्यादा यह नदी उनके मन में बसी है। मन में गहराई होनी चाहिए, फिर केन क्या और समुद्र क्या?' केदार के लिए केन केवल जल-प्रदायिनी नदी भर नहीं बल्कि उनकी कविताओं में वह चेतना की नदी बनकर निकली है। डॉ. अशोक त्रिपाठी का कहना है कि केन उन्हें आत्मीयता, राहत और उन्मुक्तता प्रदान करती है। वह उनकी सखी है, जो उनकी संवेदनाओं से जुड़कर कविता में ढलने लगी। केन के प्रति उनके इस सहज प्रेम और लगाव को देखते हुए ही लोग उन्हें 'केन किनारे का कवि' कहने लगे।

केदार को जब हम 'केन किनारे का कवि' कहते हैं तो इसके दो अर्थ हैं। पहला बहुत ही सीधा कि उनकी चेतना पर केन का गहरा प्रभाव था और दूसरा परिवेश से उनका जुड़ाव। सही रूप में अगर हम अवलोकन करें तो पाएंगे कि केन एक प्रतीक मात्र है, इसके पार्श्व में झाँकता है उनका परिवेश। निश्चय ही केदार की कविताओं में उनके आसपास का परिवेश जीवंत हो उठा है, जो प्रायः देखने को नहीं मिलता। यहाँ परिवेश से जुड़ाव का तात्पर्य है उस भू-भाग में रह रहे लोगों से जुड़ाव, उनके दुखों

एवं कष्टों से जुड़ाव। उनकी बुनियादी संरचनाओं-समस्याओं को न केवल जानना बल्कि उसके निराकरण के उपाय भी सुझाना। बांदा ही नहीं पूरा बुंदेलखंड ही उनका परिवेश था। नामवर जी के अनुसार 'वे वहाँ के कवि हैं, जहाँ मनुष्य और प्रकृति साथ मिलते हैं। नदी, पहाड़, धरती के बहाने केदार दबी हुई जनता की बात बोलते हैं।'¹⁷

आधुनिकता और बाजारवाद के बढ़ते प्रभाव ने मनुष्य और प्रकृति के संबंध को भले की दूर कर दिया हो लेकिन केदार ने केन नदी और उसके चारों ओर फैले रेत से अपना नाता जोड़े रखा था, 'बैठा हूँ इस केन किनारे! / दोनों हाथों में रती है/ नीचे, अगल-बगल रती है / होड़ राज्यश्री से लेती है / मोड़ मुझे रती देती है / रती पर ही पाँव पसारे / बैठा हूँ इस केन किनारे।'¹⁸ शंभुनाथ जी का मानना है कि अज्ञेय की कविता में जो 'हरीघास' है, वही केदार की कविता में 'रेत' है। वह रती पर पाँव पसारे घंटों बैठे रह सकते थे। केन किनारे रती पर बैठे हुए वे घंटों उसे हाथों में लेकर नदी की सुंदरता, उसकी चपलता को निहारते रहते थे। डॉ. रामविलास शर्मा के कहे अनुसार केदार अपनी वकालत के व्यस्तता के दिनों में भी सूर्यास्त देखने और घूमने केन किनारे जाया करते थे। केदार का केन किनारे यूँ घूमना, उसे घंटों निहारना निरुद्देश्य नहीं था, बल्कि 'मैं घूमूँगा केन किनारे / यों ही जैसे आज घूमता / लहर-लहर के साथ झूमता / संध्या के प्रिय आधार चूमता / दुनिया के दुख-द्वंद्व बिसारे /छाया छल का साथ छूटता / झूठा वैभव स्वप्न टूटता / ये घोघे अनमोल बटोरे / मैं घूमूँगा केन किनारे।'¹⁹ केन का साथ कवि के लिए छाया, छल, दुख, द्वंद्व को मिटाने वाला है। झूठे वैभव के स्वप्न को तोड़ जीवन के सत्य को उद्घाटित करने वाला है। केदार ने स्वयं स्वीकारा है कि 'केन जीवन के सत्य की नदी है।' नगर की सबसे प्यारी जीवन धारा है, जहाँ नगर की सारी जड़ता धूल जाती है। यही कारण है कि रती पर पाँव पसारकर बैठने से मिलने वाला सुख, संतोष और आनंद 'राज्यश्री' से मिलने वाले सुख और संतोष से कहीं अधिक है। उन्होंने बहुत साफ लिखा, 'सुख तो मैंने जाना / केन-किनारे उसे देखता, / अरुणोदय के साथ खेलता / दोपहरी की धूप झेलता / सांध्य-स्वर्ण-श्री-दीप लेसता / गाता निशि का गाना / सुख तो मैंने जाना।'²⁰

कवि ने केन को जीवन के हर दृष्टिकोण से देखा और अनुभव में उसे जीया है। ऋतु (ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर, शरद) कोई हो, बेला (दिन, सांझ, रात) कोई हो, कवि ने उसके बनते-बिगड़ते रूप को अविचल, अपलक निहारा है। उसकी उच्छल तरंगित जीवंत प्रवाहित प्यार की धार को अपने जीवन-दर्शन का आधार बनाते हुए बांदा के जनजीवन और युग-बोध से जोड़ा है। बेहद एकाकी क्षणों में वे केन से साक्षात्कार करते नजर आते हैं, 'नदी को प्यार करता प्रेमी / नदी में सपत्नीक नहाता है / नदी को गुस्सा न सौत पर आता है न प्रेमी पर / नदी का पानी प्यार का प्रवाहित पानी है।'²¹ केन में खोये-खोये ही वे मांझी को पुकारते हैं, 'मांझी न बजाओ बंशी मेरा मन डोलता / मन डोलता जैसे जल डोलता / जल डोलता जैसे तन डोलता।'²² न जाने कितने कवियों ने कितनी तरह प्रेम पर कविताएँ लिखी होंगी परंतु केदार का यह केन-प्रेम इतना विशाल है कि उसमें पूरी मानवता सिमट जाती है।

नदी जो कि केन है, केदार के लिए अनंत आकर्षण का स्रोत रही है। केन कोई खूबसूरत नदी नहीं है लेकिन केदार का उसके प्रति अनुराग उसके सौन्दर्य का अविष्कार कर लेता है। जो सौंदर्य केन का हम केदार की कविताओं में पाते हैं, वह सचमुच था ही नहीं। इसलिए कोई दूसरा कवि उसे प्रदान कर ही नहीं सकता। यह केदार का अपना उत्पादन है। केन के संदर्भ में विश्वनाथ त्रिपाठी जी ने सही ही लिखा है कि नदी को इतने रूपों में खड़ी बोली के और किसी कवि ने नहीं देखा होगा।

केन 'बांदा' को अपने आगोश में लेकर बहने वाली एक स्थानीय नदी है। भारत की बड़ी नदियों में इसका जिक्र नहीं है। इसका अस्तित्व यमुना में समाकर विलीन हो जाता है किंतु केदार ने इसे अपनी कविताओं में उतारकर राष्ट्रीय महत्व प्रदान किया, चेतना में ढालकर इसे अमर कर दिया। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार, 'नदी पर बहुत-सी कविताएँ लिखी गयी। केन पर इतनी ज्यादा कविताएँ लिखी हैं यानी कविता में गंगा, यमुना और सरस्वती का तो बहुतों को ध्यान रहता है लेकिन केन नदी का या तो कालीदास के यहाँ एक बार उल्लेख मिलता है मेघदूत के सिलसिले में। उसके बाद केन नाम की कोई नदी है, उस नदी को तो केदार ने अमर कर दिया।'²³ अगर यह कहा जाए कि केन का जल कवि की शिराओं में रक्त बनकर दौड़ रहा है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी, 'मैं नदी में डूबकर निकल आया, साथ लाया मैं नदी को / अब नदी कवि की नहीं है।'²⁴ 'अब नदी कवि की नहीं है', लिखकर उन्होंने समूची नदी को अपने में आत्मसात कर लिया, एकाकार कर लिया। प्रदूषण के इस युग में जब नदियाँ मैली, संकरी और जलहीन होती जा रही हों और स्वार्थ एवं आत्मकेंद्रित होने की प्रवृत्ति ने मनुष्य को प्रकृति से दूर कर दिया हो, ऐसे में केन के प्रति कवि का यह असीम और उदात्त प्रेम हमें प्रकृति के प्रति नए सिरे से सोचने को प्रेरित करता है। अद्भुत है केन, नाम ही अद्भुत, अपरिचित, अनजाना-सा किंतु कवि ने केन में समूची दुनिया रच डाली।

संदर्भ:

1. पुंडरीक, नरेंद्र, संपादक, मेरे साक्षात्कार : केदारनाथ अग्रवाल, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2009, पृष्ठ सं. 124.
2. अग्रवाल, केदारनाथ, खुलीं आँखें खुले डैने, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2009, पृष्ठ सं. 48.
3. अग्रवाल, केदारनाथ, पंख और पतवार, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2009, पृष्ठ सं. 32.
4. अग्रवाल, केदारनाथ, खुलीं आँखें खुले डैने, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2009, पृष्ठ सं. 48.
5. शर्मा, रामविलास, प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2011, पृष्ठ सं. 65.
6. अग्रवाल, केदारनाथ, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2009, पृष्ठ सं. 151.
7. कमल, अरुण, संपादक, आलोचना, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, सहस्राब्दी अंक: बयालीस, जुलाई-सितंबर: 2011, पृष्ठ सं: 136.
8. त्रिपाठी, अशोक, संपादक, संचयिता: केदारनाथ अग्रवाल, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2011, पृष्ठ सं. 15.
9. अग्रवाल, केदारनाथ, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2009, पृष्ठ सं. 47.
10. वही, पृष्ठ सं. 140.
11. वही, पृष्ठ सं. 166.
12. त्रिपाठी, विश्वनाथ, पेड़ का हाथ, वाणी प्रकाशन दिल्ली, संस्करण: 2002, पृष्ठ सं. 97.
13. अग्रवाल, केदारनाथ, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2009, पृष्ठ सं. 19.
14. अग्रवाल, केदारनाथ, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2009, पृष्ठ सं. 47.

- सं. 97.
15. शर्मा, रामविलास, प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2011, पृष्ठ सं. 56.
 16. विश्वरंजन, संपादक, बांदा का योगी केदारनाथ अग्रवाल, शिल्पायन दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2011, पृष्ठ सं: 508.
 17. कमल, अरुण, संपादक, आलोचना, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, सहस्राब्दी अंक: बयालीस, जुलाई-सितंबर: 2011, पृष्ठ सं: 91.
 18. शर्मा, रामविलास, प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2011, पृष्ठ सं. 237-38.
 19. वही, पृष्ठ सं. 237.
 20. त्रिपाठी, अशोक, संपादक, जो शिलाएँ तोड़ते हैं, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2009, पृष्ठ सं. 66.
 21. अग्रवाल, केदारनाथ, आत्मगंध, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2009, पृष्ठ सं. 148.
 22. अग्रवाल, केदारनाथ, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2009, पृष्ठ सं. 25.
 23. भदौरिया, संतोष एवं पुंडरीक, नरेंद्र, संपादक, केदारनाथ अग्रवाल कविता का लोक आलोक, यश पब्लिकेशन्स दिल्ली, संस्करण: 2012, पृष्ठ सं. 104.
 24. विश्वरंजन, संपादक, बांदा का योगी केदारनाथ अग्रवाल, शिल्पायन दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2011, पृष्ठ सं: 626.



इतिहास के आइने में हिन्दू धर्म

□ एस. एन. वर्मा

जब हम हिन्दू धर्म का उल्लेख करते हैं तो हमारे मन में एक लम्बा इतिहास उभर आता है। धार्मिक समूह की परम्परा में सबसे प्राचीन, सर्वाधिक गौरवशाली, सहिष्णुता वाला, समानता का प्रचारक, अहिंसक, सनातन, अद्भुत, नैतिकता वाला, सामाजिक समावेशी आदि-आदि न जाने विशेषण इसके साथ जुड़ जाते हैं। धर्म की परिभाषा पश्चिमी विद्वानों द्वारा आधुनिक काल में प्रचलन में आई जिसमें एक धर्म के साथ, एक पूजा स्थल, एक पैगम्बर, एक आचारसंहिता आदि की बात की गई, इस आधार पर हिन्दू धर्म को एक धर्म नहीं माना जा सकता है; क्योंकि इसमें कोई पैगम्बर नहीं, एक आराध्य देव नहीं, एक पुस्तक नहीं, एक पूजा स्थल नहीं और एक आचार संहिता भी नहीं। जैन बौद्ध सहित भारतीय धर्मों के साथ दूसरे वैश्विक धर्म ईसाई, पारसी, इस्लाम में यह एकरूपता है। भारतीय सर्वोच्च अदालत ने भी इसे धर्म नहीं बल्कि एक जीवन दर्शन अभिहित किया है। इस अभिधान से भारतीय परिस्थिति और आचारसंहिता (नैतिक मूल्य) को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। धर्म के बारे में धार्मिक समूह या धर्मगुण जैसा विचार रखते हैं, उनमें समावेशी निष्ठा और सुरक्षा भाव होता है। इसलिए कभी-कभी उनकी दृष्टि एकांगी हो जाती है। इतिहास का धर्म और धर्म का इतिहास इसलिए अलग-अलग की अपेक्षा रखते हैं। एक सजग नागरिक बनने की दिशा में इस अलग-अलग की पहचान और स्वीकृति आवश्यक है। प्रस्तुत आलेख में इसी विषय पर विचार किया गया है कि हिन्दू धर्म इतिहास के आइने में कैसा है? इसके विशेषण कितने समीचीन हैं और इसे समीचीन बनाने के लिए क्या अपेक्षित है?

सबसे पहले 'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति और विकास की चर्चा आवश्यक है। यह माना जाता है कि हिन्दू और हिन्दुस्तान की उत्पत्ति एक साथ हुई। प्राचीन साहित्य और इतिहास में देश की पहचान के लिए 'भारत' शब्द का प्रयोग होता है। इसका उल्लेख वैदिक काल तक नहीं मिलता है। वैदिक लोग पश्चिमोत्तर भाग में रहते थे और इसे सप्त सैधव शब्द कहते थे। 'भरत' का उल्लेख एक जनजाति के रूप में हुआ है। पाणिनि की अष्टाध्यायी (500 ई0पू) में प्राच्य भरत का उल्लेख एक जनपद के रूप में मिलता है। यह भरत जाति के लोगों का एक छोटा भौगोलिक प्रदेश रहा होगा। भारतवर्ष का प्रथम उल्लेख प्रथम शताब्दी के शासक खारवेल के एक अभिलेख में मिलता है। यहाँ इसका नाम प्राकृत 'भरतवस' है जिस पर खारवेल ने आक्रमण किया था, इसमें मगध शामिल नहीं था क्योंकि इसका उल्लेख अलग से किया गया है। महाभारत में उपमहाद्वीप के बारे में विस्तृत जानकारी है। महाभारत का रचनाकाल (300 ई0 पू से 200 ई0 पू) माना जाता है। इसमें सुदूर दक्षिण का उल्लेख नहीं है। 5वीं सदी में लिखे अमर कोश में मध्य देश के रूप में भरत या आर्यावर्त का वर्णन है। बाण की 'कादम्बरी' में (सातवीं शताब्दी) भारत वर्ष पर तारापीड के शासन के बात कही गई है लेकिन उज्जैनी को भारत वर्ष से बाहर रखा गया है तात्पर्य यह कि उस समय भी भारतवर्ष को स्पष्ट सीमा नहीं थी। कम से कम

आज के 'भारत' की समानार्थी नहीं थी। दसवीं सदी के लेखक सोमदेव के 'नीतिवाक्यमृत' में 'भारतीय' का उल्लेख भारत के निवासियों के सन्दर्भ में है। इस समय तक भी भारत की सीमा सुस्थापित नहीं थी।

भारत वर्ष का उल्लेख पुराणों में सर्वाधिक हुआ है। लेकिन सन्दर्भगत विविधता के साथ स्थान को परिभाषित करना कठिन है। किसी में इसका आकार अर्द्ध चन्द्राकार किसी में त्रिभुजाकार तो किसी में धनुषाकार वर्णित किया गया है। मार्कण्डेय पुराण में इसका उल्लेख कछुए के रूपाकृति में किया गया है जो पानी में तैर रहा है और उसका मुख पूरब तरफ है। अधिकांश पुराणों में भारतवर्ष को नवद्वीपों में विभाजित बताया गया है जो सर्वथा अलग-अलग है और एक-दूसरे से बाहर है।¹ लगभग इसी भौगोलिक सीमा की पहचान भाष्कराचार्य (11वीं सदी) और वराहमिहिर (छठीं शदी) के ग्रन्थों से भी होती है। पुराणों में वर्णित नदियों, पहाड़ों और अन्य स्थानों को ध्यान में रखने पर विन्ध्य के दक्षिण का पूरा क्षेत्र भारत वर्ष में शामिल प्रतीत नहीं होता है। 10वीं व 11वीं शताब्दी के कुछ अभिलेख कुन्तल (कर्नाटक) को भारत का हिस्सा बताते हैं। बारहवीं सदी के जैन लेखक हेमचन्द्र ने अपनी रचना 'अभिधान चिन्तामणि' में भारत को कर्मभूमि बताया है जो कि फलभूमि का विपरीतार्थक है। यद्यपि उन्होंने दोनों का अन्तर नहीं बताया है लेकिन वे आर्यावर्त की भूमिका वही बताते हैं जैसी मनु ने बताई है। वास्तव में आर्यावर्त का वर्णन भारत की अपेक्षा प्रारम्भिक भारतीय अभिलेखों में अधिक है।² यह भौगोलिक इतिहास का अधिक निरूपण करता है। 1860 के दशक में पहली बार सम्पूर्ण उप महाद्वीप के लिए भारत वर्ष नाम प्रयुक्त किया गया और सामान्य प्रचलन के शब्दकोष का हिस्सा बना, मूर्तरूप में इसका चित्रण 1905 में अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने 'भारतमाता' के रूप में किया और असहयोग आन्दोलन के दौरान वाराणसी में भारतमाता मंदिर का निर्माण हुआ जिससे सम्पूर्ण भारत का चित्र उकेरा गया। इस प्रकार भारत वर्ष या भारतमाता का रूप राष्ट्रीय स्तर पर ऐतिहासिक या भौगोलिक पहचान बन सका।

बहुत से ग्रंथों में भारत को जम्बू द्वीप का हिस्सा माना गया है जो स्वयं में स्पष्ट भौगोलिक सीमा का अंकन नहीं करता है। जम्बू द्वीप का उल्लेख न तो वेद करते हैं और न ही पाणिनि के ग्रंथों में मिलता है। प्रारम्भिक बौद्ध ग्रंथ इसका उल्लेख करते हैं। जम्बू शब्द जम्बू फल से बना जो कि इसी नाम के पेड़ से मिलता था इसकी छाया दूर-दूर तक फैली थी। जम्बू द्वीप चार महाद्वीपों में से एक था जो कि एक चक्रवर्ती राजा के अधीन थे। चक्रवर्ती राजा जम्बू द्वीप के निवासी होते थे वे उत्तरकुरु के निवासियों की अपेक्षा अधिक साहसी और दिमागदार होते थे। इस तरह दोनों जम्बू द्वीप और उत्तर कुरु एक मिथकीय क्षेत्र का संकेत करते थे। छठी शताब्दी के तोरमाण के अभिलेख में जम्बू द्वीप की स्पष्ट क्षेत्रीय व्याख्या नहीं है। इसी तरह पुराण भी सप्तद्वीप नवखण्ड की चर्चा के समय जम्बूद्वीप को केन्द्रीय मानते हैं कहीं-कहीं जम्बूद्वीप और भारत वर्ष एक माने जाते हैं तो कहीं भारत को जम्बू द्वीप का हिस्सा बताया गया है। इसलिए जिसकी भौगोलिक पहचान ही सुस्थिर नहीं रही उसे एक राष्ट्र के रूप में कल्पित करना कितना उपयुक्त है।

माखन लाल की पुस्तक 'भारत एवं विश्व' (2002) में एक सामान्यीकृत निष्कर्ष दिया गया है कि हिन्दू धर्म अत्यन्त प्राचीन धर्म है इसे सनातन धर्म कहा जाता है। वेद सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ है। हिन्दू धर्म में विचारों की स्वतंत्रता है और इसकी पूजा पद्धति अनूठी है, यह उत्पीड़न और धर्मान्तरण की बात नहीं करता है।³ इस स्थापना की पड़ताल करने पर ज्ञात होता है कि यह बातें सत्य नहीं हैं। 'हिन्दू' शब्द की व्युत्पत्ति सिन्धु से न भी मानते हुए यह कहा जा सकता है कि यह शब्द सबसे पहले 'जेन्दा

अवेस्ता' में हप्त हिन्दू रूप में उल्लिखित है जो वैदिक सप्त सिन्धु से मिलता जुलता है। स्पष्ट है कि यह एक धर्म का नहीं बल्कि एक भौगोलिक क्षेत्र का संकेत करता है, जिसे अहुरमज्दा ने 16 क्षेत्रों में से एक का नाम दिया था। बहुत लम्बे समय तक यह भौगोलिक क्षेत्र के लिए ही प्रयुक्त किया जाता रहा। अरविन्द शर्मा की पुस्तक 'हिन्दू हिन्दुस्तान हिन्दूइज्म और हिन्दुत्व' के अनुसार हिन्दू शब्द का धार्मिक समूह के रूप में पहली बार प्रयोग ह्वेन सांग (चीनी यात्री) ने अपने विवरणों में किया है। चीनी इण्डिया इन्दू या मून कहते हैं, क्योंकि यहाँ के साधु और पवित्र लोग विश्व को चन्द्रमा की भाँति चमकाते हैं। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि इन-तू शब्द हिन्दू के लिए आया है। चीन के दूसरे यात्री इत्सिंग ने उक्त कथन को संदेह से परे नहीं रखा है कि यह नाम पूरे देश के लिए प्रयुक्त किया जाता था या नहीं। इसी तरह यह बात भी सही नहीं लगती कि मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के बाद हिन्दू धार्मिक समूह अपनी पहचान निश्चित करने लगा। मुहम्मद बिन कासिम के समय सिन्ध में बहुत से गैर इस्लामी समूह, ब्राह्मण और बौद्ध रहते थे। 'चचनामा' में हिन्दुआन और हिन्दवी का उल्लेख है जो इण्डिया और इण्डिया की भाषा के लिए प्रयुक्त किया जाता था। 'हिन्दू' का धार्मिक अर्थ में प्रथम प्रयोग अलवरूनी के किताब-उल रेहला में मिलता है। वह हिन्दू को बौद्ध या श्रमण से अलग बताते हैं। उसके अनुसार हिन्दू एकदम भिन्न है। उसकी समक्ष में हिन्दू-ब्राह्मणवादी विश्वास के पर्याय थे। इससे कोई सहमत नहीं होगा कि उसने हिन्दुओं को एक पहचान दी। अलबरूनी के बाद जियाउद्दीन बरनी ने अपनी पुस्तक 'तारीख-ए-फिरोजशाही' में भारत के बारे में लिखा। उसने हिन्दू शब्द का धार्मिक और राजनीतिक प्रयोग किया। सोलहवीं शताब्दी में अबुल फजल ने ब्राह्मण धर्म की अधिकांश विशेषताएँ बतायीं। दविस्तान-ए-मजाहिब नामक पुस्तक के लेखक ने भी सभी महत्वपूर्ण धर्मों और सम्प्रदायों के बारे में सर्वेक्षण प्रस्तुत किया और हिन्दुओं के धर्म पर एक पूर्ण अध्याय लिखा। इसमें कट्टर ब्राह्मण को ही मुख्य विषय माना गया था। 1761 में अली मुहम्मद खान की पुस्तक 'मिरात-ए-अहमदी' में भी हिन्दू धर्म की स्पष्ट पहचान का वर्णन नहीं है, क्योंकि इसके हिन्दू शब्द में मुस्लिम से अलग सभी धार्मिक समूह जातियों और उपजातियों के लोग सम्मिलित थे।⁴ वह जैन और बौद्ध को इसी में शामिल करता था। इस विवरण से पता चलता है कि हिन्दू और हिन्दू धर्म आपस में मिल गए। किसी भी भारतीय शासक में अपने को हिन्दू नहीं कहा। विजय नगर के शासक बुक्का ने 1352 ई० के अपने अभिलेख में अपने को हिन्दू राय सूरतन (Sultan Among Hindu Kings) कहा। उसके उत्तराधिकारियों ने लगभग 200 वर्ष एक इस उपाधि का प्रयोग किया। उत्तर भारत में राना कुम्भा ने भी इसी विरुद्ध का उपयोग किया। संस्कृत साहित्य में उन्नीसवीं शताब्दी तक हिन्दू शब्द मुख्य धारा में नहीं प्रचलित हुआ था। जोनराज और श्रीवर द्वारा लिखित राजतरंगिणी में कुछ अपवाद स्वरूप वर्णन के अतिरिक्त वहाँ भी यह शब्द सामाजिक प्रथाओं और भाषा के रूप में प्रयुक्त किया गया है। संस्कृत ग्रन्थों में 19वीं शताब्दी तक यह शब्द बहुप्रचलित नहीं था। ईसाई व ब्राह्मण धर्म की सर्वोच्चता सम्बन्धी विवाद में जॉन मयूर के समर्थकों ने यह शब्द बहुप्रचारित किया। ब्राह्मणों ने जान मयूर को 'हिन्दू धर्म का शत्रु' बताया। हिन्दू शब्द मध्यकालीन देशी भाषा के भक्ति साहित्य में भी नहीं मिलता। गौड़ीय वैष्णव धर्म में हिन्दू धर्म का उल्लेख 7 बार और हिन्दू शब्द 41 बार प्रयुक्त हुआ है। कबीर एकनाथ विद्यापति आदि की रचना में भी यह शब्द है लेकिन ब्राह्मण धर्म के समानार्थी के रूप में, जिसकी वे पुरजोर आलोचना करते हैं। कुल मिलाकर यह प्रतीत होता है कि हिन्दू धर्म को हम जिस रूप में आज जानते और समझते हैं उसका निर्माण अंग्रेजों ने औपनिवेशिक काल में किया था। उन्होंने इसे एक नया अर्थ दिया जिसमें सभी गैर मुस्लिम और गैर ईसाई भारतीय शामिल

हो गए।⁵

हिन्दू धर्म 'सनातन धर्म' है यह कहने वाले भी बहुत से लेखक और विचारक हैं। यह विचारधारा भी ईसाई धर्म के प्रचारकों के पहले प्रचलित नहीं थी। इसका प्रयोग आधुनिक हिन्दू धर्म के समर्थक ही करते हैं जिसमें स्वामी विवेकानन्द और राधाकृष्णन के नाम प्रमुख हैं। सनातन धर्म सुधारों का विरोधी था। प्राचीन भारतीय साहित्य इसका पोषण करता है। पहले सुधारक बुद्ध ने कहा था कि सनातन धर्म वह है, जिसमें घृणा और शत्रुता नहीं है। यह बात ब्राह्मण ग्रंथों में भी कही गई है। महाभारत में भी सामाजिक और धार्मिक नियमों के लिए इसका उपयोग किया है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण को शाश्वत धर्म गोप्ता सनातन कहा गया है। मनु की शब्दावली में सनातन धर्म स्थापित परम्पराओं और विधानों का समानार्थी है। मत्स्य पुराण में इसे दया, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा तथा सदभाव के लिए प्रयुक्त किया गया है, जबकि शिव पुराण में ज्ञान, क्रिया, कार्य और योग को सनातन धर्म का हिस्सा माना गया है। सनातन धर्म को परिभाषित करने की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कार्य एनी बेसेन्ट ने किया गया, जिन्होंने 1898 में सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की। भगवान दास ने इस कार्य में सहयोग किया।

हिन्दू धर्म के सनातन होने के साथ इसे एकात्मक भी बताने की कोशिश की जाती है। इसके लिए वेदों को आधार माना गया। यास्क और मनु दोनों ही वेदों को श्रुति और स्मृति माना, जिसे चुनौती नहीं दी जा सकती। बाद में अन्य दार्शनिकों ने भी इसे स्वीकार किया। न्याय और वैशेषिक दर्शन मानने वाले भी इसे प्रमाण मानते थे। मीमांसा दर्शन इसकी मजबूत व्याख्या करता है। कुमारिल प्रभाकर और मण्डन मिश्र के अनुसार धर्म की पुष्टि केवल वेद से होती है, वास्तव में ब्राह्मणों द्वारा वेदों की स्वीकृति एक आवश्यक व महत्वपूर्ण तथ्य है। शंकराचार्य ने वेदों को आधिकारिक बताया लेकिन उत्तर वैदिक काल के पंचम वेद ने वैदिक सीमाओं को विस्तृत कर दिया। महाभारत, पुराण और तंत्र पांचवे वेद में शामिल कर लिए गए। आधुनिक भारत के पुनरुत्थानवादी भी वेदों के महत्व को स्वीकार करते थे। ऐसा मानने वालों ने दयानंद सरस्वती प्रमुख थे जिन्हें भारत का मार्टिन लूथर कहा जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि वेद हमेशा हिन्दू के लिए अनिवार्य अंग नहीं रहे। वैदिक विरोधी धारा ऋग्वेद के समय से ही अस्तित्व में थी। ऋग्वेद में ब्राह्मणों की तुलना मेढक से की गई है। यह प्रथम उदाहरण था जब वेदों और उनके वाचकों के खिलाफ कठोर वचन प्रयुक्त किए गए। ऋग्वेद में कई स्थानों पर इन्द्र की निंदा की गई है और उनके अस्तित्व को चुनौती दी गई है। उपनिषदों में अनेक उद्धरण हैं कि वेद निन्दनीय है। मुण्डक उपनिषद में इन्हें अपराविद्या कहा गया है इसी तरह यास्क ने कौत्स को यह कहते हुए दर्शाया है कि वैदिक सूक्तों का कोई अर्थ नहीं है। ये आपस में विरोधाभासी हैं। बौधायन धर्मशास्त्र ने वेदों से अतिरिक्त परम्पराओं की पुष्टि की है। भगवद्गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं कि जो वेदों को प्रमाणिक मानते हैं वे सांसारिक इच्छाओं से पूर्ण हैं। उनकी मुक्ति सम्भव नहीं है। पुराण अक्सर वेदों की सर्वोच्चता को चुनौती देते हैं। उनके अनुसार ईश्वर ने वेदों की रचना के पहले पुराणों की रचना के बारे में सोचा था कुछ अन्य यह बताते हैं कि वेद पुराणों पर ही आधारित हैं। अग्नि पुराण के अनुसार उससे ऊपर कोई पुस्तक नहीं है। इसी तरह भागवत पुराण भी अपने को वेदों और उपनिषदों से श्रेष्ठ मानता है। तान्त्रिक समूह भी अपनी मूल बातों को वैदिक साहित्य से जोड़ते हैं। उदाहरण के लिए महानिर्वाण तंत्र में कहा गया है कि वेद पुराण और शास्त्र कलियुग में किसी काम के नहीं हैं। सभी धर्म तंत्र में उसी तरह समाहित हो जाते हैं, जैसे कि हाथी के पैर में सभी जानवरों के पैर छिप जाते हैं।

आज के हिन्दू धर्म और ब्राह्मण धर्म के भीतर अनेक धार्मिक आन्दोलन चले हैं जो ब्राह्मणों और

वेदों की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। वैष्णव और शैव धर्म के समर्थक जो दक्षिण में सक्रिय थे, वे भी वेदों की बात को स्वीकार नहीं करते। वासवपुराण में एक वेदान्ती का उल्लेख है जिसे वासव ने राजा विज्जल के दरबार में पराजित किया था। यह अवहेलना की प्रवृत्ति भारत के मध्यकालीन धार्मिक आन्दोलन में भी दिखायी पड़ती है। महाराष्ट्र के महानुभाव सम्प्रदाय तथा बंगाल के सहजिया सम्प्रदाय के लोगों ने वैदिक धर्म की कटु आलोचना की। कबीर और तुकाराम व्यक्तिगत रूप से आलोचना करते थे। जब दयानन्द सरस्वती 'वेदों की ओर लौटो' का नारा दे रहे थे, उसी समय राम कृष्ण परमहंस तंत्र के माध्यम से सिद्धि का उपाय दे रहे थे। इस तरह वेदों के प्रति भी हमेशा श्रद्धा का भाव नहीं रहा है। हिन्दू धर्म कभी भी एक धारा में संचालित नहीं रहा। इसकी अम्ब्रेला छाया में अनेक सम्प्रदाय और मत गतिशील रहे। एकात्म स्वरूप के स्थान पर यह बहुल संस्कृति का पोषक रहा है।

हिन्दू धर्म एक सहनशील धर्म है। ऐसा मानने वालों की संख्या भी अधिक है। यह यूरोपीय लेखकों की भारतीय अवधारणा में सन्निहित है। वर्नियर एक डॉक्टर था जिसने 1660 के आसपास भारत भ्रमण किया, उसका मानना था कि हिन्दू अपने कानून को सार्वकालिक नहीं मानते थे। कान्ट कहते थे हिन्दू दूसरे धर्म के लोगों से घृणा नहीं करते थे। विलियम जोन्स के समान अंग्रेज भी इसी विचारधारा को नाते थे। विवेकानन्द ने 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' कहकर इसी ओर संकेत करते हैं। उनके अन्य विचारों से भी हिन्दूओं की सहनशीलता का प्रमाण नहीं मिलता है। समकालीन अर्थशास्त्री अमर्त्यसेन ने भी सामासिकता और सहनशीलता का उल्लेख किया है। यह सत्य है कि धार्मिक समूह परस्पर सामंजस्य का भाव रखते हैं इसीलिए जैन और बुद्ध को हिन्दूधर्म में शामिल कर लिया गया और उन्हें विष्णु का अवतार मान लिया गया। 'रूपकम याजेद बुद्धम' कहकर उनकी पूजा की भी बात कही गई, लेकिन यह भुला दिया गया कि बुद्ध अवतार का नाश करने के लिए शिव ने शंकराचार्य का रूपधारण किया। शंकराचार्य के समर्थकों ने माधवाचार्य की हत्या तक के लिए प्रयास किया। इससे भी सहिष्णुता की बात स्पष्ट नहीं होती है। जाति प्रथा और लुआलूत की भावना के साथ कोई धर्म सहिष्णुता का प्रचार कैसे करता रहा है। ब्राह्मण धर्म और उसके विरोधियों के मध्य हिंसक संघर्ष की परम्परा देखने को मिलती है। दक्ष की कहानी से शैव और वैष्णव के संघर्ष का पता चलता है। हरिद्वार के निकट कनखल में अधिकार के लिए यह युद्ध हुआ था। इसी तरह पुराणों में भी धार्मिक संघर्ष का पता चलता है। विष्णु पुराण में विष्णु को सबसे बड़ा देवता बताया गया है। जबकि दूसरे पुराण अन्य देवताओं को श्रेष्ठ बताते हैं। ब्राह्मण और गैर ब्राह्मण समुदायों के धार्मिक संघर्ष के दूसरे उदाहरण भी हैं। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में गैर ब्राह्मण समुदायों को शाक्य, आजीवक आदि नामों से बुलाया गया है जिनका निवास स्थान श्मशान के निकट बताया गया। अशोक की 'सर्व धर्म समभाव' की नीति बाद में नहीं अपनाई गई। पतंजलि ने श्रमण और ब्राह्मण को आपसी दुश्मन माना। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में पुष्यमित्र का वर्णन है जिसने बौद्धों का सर्वनाश किया। 'यो, मे, श्रमणसिरो दास्यति, तस्या हम दीनार शतम् दास्यामि' कहकर उसने बौद्धों के विनाशक को पुरस्कार देने की बात कही। पूर्व मध्यकाल में ब्राह्मण धर्म की जैनों व बौद्धों के प्रति कटुता और बढ़ गई। कुमारिल भट्ट ने बौद्धों और जैनों की विचारधारा का खण्डन किया और उन्हें कृतघ्न पुत्र बताया। शंकराचार्य ने वेदों के अतिरिक्त अन्य सभी धार्मिक प्रक्रियाओं को अवैध बताया, क्योंकि वे सभी सन्देह पैदा करती हैं। महेन्द्र वर्मन के 'मत्तविलास प्रहसन' और कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चन्दोदय' में भी बौद्धों और जैनों के प्रति घृणा का पता चलता है।

जैन और बौद्ध विचारक भी ब्राह्मण ग्रंथों और देवताओं के प्रति हिंसक भाषा का प्रयोग करते

हैं। हेमचन्द्र ने मनु के कानूनों को हिंसा का समर्थक बताया। बौद्धों और जैनों के बीच भी संघर्ष और असहिष्णुता के उदाहरण हैं। शैव और वैष्णव की आपसी प्रतिद्वन्द्विता भी जग जाहिर है। इससे यह प्रमाणित होता है कि सहनशीलता का उदाहरण सर्वव्यापी नहीं है। ब्राह्मण धर्म के समर्थकों ने दूसरे धर्मों के प्रति असहिष्णुता की नीति अपनाई, उल्टे अपने लिए सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की। मंदिर से जुड़े इन प्रशिक्षण केंद्रों का उल्लेख विभिन्न अभिलेखीय साक्ष्य भी करते हैं। ब्राह्मण धर्म के समर्थकों के सैन्यीकरण ने हिंसक संघर्ष की स्थिति पैदा की। इसमें कोई संदेह नहीं रह जाना चाहिए कि हिन्दू (ब्राह्मण) धर्म अन्य धर्मों की भांति सहिष्णु नहीं है। हिंसा की भावना इस्लाम से नहीं आई।

हिन्दू धर्म की एक और विशेषता कही जाती है कि यह धर्मान्तरण को प्रोत्साहित नहीं करता है। इस्लाम और ईसाई धर्म से सीख लेकर धर्मान्तरण का कार्य आरम्भ हुआ है। ब्राह्मण धर्म समुदाय या मत, जो कि अब हिन्दू धर्म का दूसरा रूप है, प्रारम्भ से इस प्रक्रिया में संलग्न रहा है। उत्तर वैदिक काल के एक ग्रन्थ तांड्य ब्राह्मण पंचविशब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण ब्राह्मण यज्ञ का अनुष्ठान इसीलिए किया जाता था जिससे कि वे आर्यों के साथ विलीन हो सकें। ब्राह्मण वे लोग थे जो ब्राह्मण धर्म से अलग थे। इसी तरह दीक्षा संस्कार का भी उल्लेख किया जा सकता है। वैष्णव धर्म में इसे शुद्धीकरण का पर्याय माना जाता है। इसके बिना किसी व्यक्ति को किसी धार्मिक समुदाय में सम्मिलित होने की छूट नहीं थी। शैव धर्म में शामिल होने के लिए भी इस संस्कार की आवश्यकता थी। यद्यपि दीक्षा के स्वरूप और महत्व को लेकर मतभेद है, लेकिन शैव धर्म में धर्मान्तरण को पर्याप्त स्थान है। यह एक आम प्रक्रिया थी। वीर शैव द्वारा स्थापित कल्याण मोनास्ट्री 1156 का मुख्य कार्य यही था। यह माना जाता है कि कर्नाटक में बड़ी संख्या में जैन धर्म के समर्थकों ने शैव धर्म स्वीकार तब किया था, जब एकान्तद रमैया ने जैनों पर विजय प्राप्त की थी। यदि यह बलात् धर्म परिवर्तन नहीं था तो क्या था? पुराण, धार्मिक साहित्य और धर्म निरपेक्ष साहित्य भी धर्म परिवर्तन का उदाहरण देते हैं। दक्ष प्रजापति के पौराणिक आख्यान से तो धर्मान्तरण की ही प्रवृत्ति उजागर होती है जो शैव वैष्णव के आपसी संबंध के रूप में सामने आया था। शिव द्वारा दक्ष के यज्ञ विध्वंस के बाद दक्ष ने शैव धर्म स्वीकार कर लिया था। नारद परिव्राजकोपनिषद में धर्मान्तरण का मार्ग वर्णित किया गया है। शोम सम्भू पद्धति (11वीं सदी) में लिंगोद्धार का उल्लेख है जो दूसरे धर्मों के लोगों को शैव धर्म में शामिल करने के लिए अपनाई जाती थी। इसी तरह तान्त्रिक सम्प्रदाय के लोगों द्वारा बौद्धों को अपने धर्म में शामिल करने की प्रक्रिया कुब्ज कान्तिमान्तलिका नामक ग्रन्थ में दी गई है। कुब्जिक स्कूल के गुरु श्रीनाथ गन्धर्व भूमि गए थे, जहाँ बौद्ध धर्मानुयायी रहते थे। श्रीनाथ ने अपने को सिद्ध पुरुष बताया तो बौद्धों ने उन्हें चुनौती दी। श्रीनाथ के प्रभाव से सभी बौद्ध मोनास्ट्री नष्ट हो गयी और सभी ने श्रीनाथ के धर्म को स्वीकार कर लिया। कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चन्द्रोदय' ग्रन्थ के अनुसार एक कापालिक ने जैनों और बौद्धों के साथ वार्तालाप कर उन्हें शराब और सुन्दरी भेंट की जिससे वह दोनों के समर्थकों को शैव धर्म में शामिल करने में सफल हो गया। इसी तरह पेरिय पुराण के अनुसार अप्पार नामक सन्त एक शैव परिवार के वेल्लार समुदाय में उत्पन्न हुए थे, लेकिन बचपन में वे जैन बन गए थे। उनकी बड़ी बहन ने शिव की सहायता मांगी। अप्पार पेट की बीमारी से ग्रस्त हो गए। जैन काय चिकित्सक उन्हें ठीक नहीं कर सके, इसलिए वे वापस शैव धर्म में चले गए। इससे जैन धर्म के समर्थक अत्यधिक नाराज हुए और पल्लव राजा महेन्द्र वर्मन के दरबार में शिकायत की। महेन्द्र वर्मन स्वयं जैन धर्म को मानते थे। अप्पार ने अपने धर्म की बुनियादी बातों को बताने में सफलता हासिल की, जिससे महेन्द्र वर्मन भी शैव धर्म को स्वीकार कर लिया। सेक्किलर ने

संबन्ध और जैनों के आपसी संघर्ष का भी वर्णन किया है। पाण्ड्य राजा और रानी ने सम्बन्ध को अपने दरबार में बुलाया था, जिससे कि जैन भिक्षुओं को दरबार से भगाया जा सके। सम्बन्ध उनके दरबार में गए और अपने जादू से जैनों पर विजय प्राप्त की। राजा ने स्वयं शैव धर्म स्वीकार कर लिया। पल्लव राजा और पाण्ड्य राजा के समय की इन दोनों कथाओं से धर्मान्तरण की प्रक्रिया का पता चलता है। पूर्व मध्यकालीन स्मृति ग्रंथ भी यह संकेत करते हैं कि धर्मान्तरण की प्रक्रिया से उस समय के भारतीय परिचित थे। देवल स्मृति में कहा गया है कि यदि ब्राह्मणों और दूसरे जातियों के लोगों को म्लेच्छ लोग अपवित्र कर दे तो उन्हें प्रायश्चित्त के माध्यम से शुद्ध कर पुनः धर्म में शामिल किया जा सकता है। इसी विचार को बाद में 'शुद्धि' नाम दिया गया। धर्मान्तरण के अधिकांश उदाहरण पुराण काल से प्राप्त होते हैं जो ब्राह्मण धर्म के उत्कर्ष का समय था। इस समय भूमि अनुदानों की परम्परा के माध्यम से सुदूर क्षेत्रों में धर्मान्तरण को बढ़ाया गया। 8वीं शताब्दी के रायपुर अभिलेख से इसका प्रमाण मिलता है, जिसमें भूमि अनुदान प्राप्त करने वालों के कार्यों एवं दायित्वों का उल्लेख है।

19वीं शताब्दी में राष्ट्रीय भावना के विकास व प्रसार के उपक्रम में हिन्दू धर्म को एक पहचान देने की कोशिश की गई और एक अनूठे धर्म के रूप में इसे वर्णित किया गया कि यह एकात्मकवादी धर्म है। इससे सहनशीलता है यह धर्मान्तरण को नहीं मानता आदि-आदि। इस धारणा को पश्चिमी वि०वि० के धर्म शास्त्र विभागों ने और मजबूत कर दिया। इन विश्वविद्यालयों ने धर्म विज्ञान का सृजन कर दिया। इस विज्ञान में ऐतिहासिक बोध नहीं था। सामाजिक राजनीतिक सम्पर्कों की अभेद्य निर्भरता का ज्ञान नहीं था। भारतीय संदर्भ में धर्म का अध्ययन इस प्रकार के विज्ञान के सांचे में नहीं किया जा सकता है। इतिहासकार और इतिहास धर्म के संरक्षक नहीं होते हैं। उनका दायित्व तथ्यों का आलोचनात्मक अन्वेषण है। इस विश्लेषण से स्थापित बात स्वीकार कराने का दायित्व आम जनता पर है। भारत का धर्म पश्चिम के धर्म विज्ञान विभाग के मानकों के अनुरूप कभी नहीं रहा है। कम से कम इतिहास के विद्यार्थियों को तो यह स्वीकार करनी ही चाहिए।

संदर्भ:

1. वी०एन० मुखर्जी: नेशनहुड एंड स्टेट हुड ए हिस्टोरिकल सर्वे, नई दिल्ली, 2001
2. डी०सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन वियरिंग आन इण्डियन हिस्ट्री
3. माखन लाल, सम्पादित, भारत व विश्व, NCERT, नई दिल्ली, 2002
4. अरविन्द शर्मा, हिन्दू हिन्दुस्तान एंड हिन्दुत्व, न्यूमेन वाल्यूम 4-9 (2002)
5. डी०एन०झा, लुकिंग फार ए हिन्दू आइडेन्टिटी, अध्यक्षीय भाषण, I.H.C., 2006
6. भगवद्गीता, II, 41-46.
7. नीलकण्ठ शास्त्री, द चोल
8. पी०वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पूना, 1974
9. जी०सी० पाण्डेय, लाइफ एंड थॉट ऑफ शंकराचार्य, दिल्ली 1994



बीबी की कोठरी

□ पल्लवी प्रसाद

(श्रीमती पल्लवी प्रसाद पेशे से वकील हैं। पिछले कुछ वर्षों से कथा साहित्य एवं अनुवाद साहित्य के क्षेत्र में समान रूप से सक्रिय हैं। पल्लवी जी ने रेणु की कहानियों का अंग्रेजी अनुवाद किया है, जो इनके अनुवाद कौशल का सुंदर नमूना है।)

कहने वाले कह उठते हैं, “एसी टंड पहले कभी ना पड़ी !” चूँकि वर्तमान मौसम की मार सर्वाधिक लगती है, यह सच भी है।

मंदिर के सामने की सड़क के साथ-साथ चलती है एक सरकारी नहर। पानी के अलावा यह नहर कूड़े-चीथड़ों से साल भर भरी रहती है। मानो शहर कूड़े ने नहर के पानी को थामने का बीड़ा उठा रखा है। पानी के ऊपर एक अभी गुबार है..... मानो हवा जम गयी हो। यदि तापमान और गिरा तो पानी भी जम जाएगा।

घने कोहरे में आवृत्त एक स्त्री आकृति चली जा रही है.. उस संकरी पुलिया पर जो नहर के दोनों किनारों को जेड़ती है। नहर के दूसरी ओर निर्जन टीले हैं। यह स्त्री गोबर भरी टोकरी उठाए वहीं बढ़ रही है। एक भटका हुआ मुर्गा उसकी परिचित आहट पा कर अपनी गर्दन उचका कर बाँग देता है, “कुक्डू SS... कू SS... !” - अभिवादन ! उसकी नहीं चोंच से वाष्प निकलता है।...

जब भवगवान भास्कर भी आलस कर जाएं ऐसे में अपनी दिनचर्या से कभी न डिगने वाली, वह है बीबी। बूढ़े-पुराने लोगों के नाम न जाने समय की किस सुराख में गुम हो जाते हैं ? बीबी जैसे अपने पुतोहुओं और पौत्र-पौत्रियों के लिए बीबी है वैसे ही सारी दुनिया की ‘बीबी’ है।

बीबी की उम्र का अंदाज लगाने के फिल्चक्कर में पड़ना बेवकूफी होगी। क्योंकि गरीबी जहाँ इंसान को समय से पहले बूढ़ा बना देती है, वहीं जीविकोपार्जन की लगन उसकी देह में जवानी-सी फूति कायम रखती है। इसलिए बीबी की उम्र पैसठ से कम या पच्चहत्तर बरस से अधिक... कुछ भी हो सकती है।

छितरे पैरों से अपना रास्ता नापती हुई बीबी पुलिया को पार कर दायीं ओर मुड़ कर नहर के साथ चलने लगी। एक खास टीले के पास पहुँचकर उसने अपना टोकरा जमीन पर रख दिया। फिर खुद उकडूँ बैठ कर चटाचट-फटाफट गोबर के पाथे थापने लगी। इस टीले के नजदीक ही नीली पन्नी से ढाँपा हुआ सैकड़ों सूखे पाथों का एक ढेर है - बीबी की संपत्ति !

बीबी पराश्रित नहीं है। गइया के दूध व गोबर की कमाई से वह अपने भले और बुरे दिन

मिला-जुलाकर काट लेती है। बीबी कल्पनाशील नहीं है। उसे किसी के प्रति आसक्ति नहीं और न ही किसी प्रकार का भय। उसका भविष्य नहीं है और ना ही उसमें अतीत को सुमिरने की शक्ति बची है। यूँ भी जब इंसान की उम्र मंजिल से टिकने लगती है तो वह वर्तमान में जीने लगता है।

बीबी के मर चुके शराबी मर्द ने उसे जीवन का सुख एक न दिया, किंतु अपने पीछे जिम्मेदारियाँ अनेक छोड़ गया। उसके दिए बीबी को तीन बच्चे हैं - एक लड़की और दो लड़के। लड़की अपने ससुराल में बसी है। लड़के बीबी के साथ रहते हुए भी उससे बेगाने हैं। दस वर्ष पहले बीबी के आंगन में जो कुछ घटा... तोबा ! बूढ़ी ने उस रोज कलप कर मनाया था कि क्यों न वह बेऔलाद हुई ? ईश्वर ने उसकी ऐसे नहीं मानो वैसे सुन ली। अब वह बेऔलाद ही है समझो !

एक ही छत के नीचे बीबी और उसके बेटों के परिवार ऐसे रहते हैं, जैसे चिर-अपरिचित हों। बीबी की बेटा कालावाली ब्याही है। पति के घर में अपनी रोटी चलाना तलवार की धार पर चलने बराबर है। वह बेचारी अपने ही पचड़ों में घिरी रहती है। ऐसे में वह मायके के फटे में क्यों कर टाँग अड़ाए? फि वह अपने भाइयों से बैर नहीं मोलना चाहती। बीबी आज है, कल नहीं। भाई सब दिन रहेंगे। वह मायके कम ही आती है। कभी-कभार कार्यवश दामाद का इधर आना हुआ तो वह बीबी की खबर पूछ भर लेता है।

...यूँ बीबी की खबर दुनिया जानती है। बीबी के बेटे सुबह-सवेरे अपनी माँ का मुँह देखना भी अपशकुन मानते हैं, उससे बोलने-बतियाने का प्रश्न ही नहीं उठता। बीबी की बहुएँ कुछ लोक-लाज से और शायद मायके में भाइयों पर आश्रित अपने माता-पिता के ख्याल से उसके सामने दो वक्त क खाना रख देती हैं। बीबी अपने पोते-पातियों की गू-मूत, चुहल-किलकारी, सबसे अछूती रहती है। उसे इस बात का कोई ग़म हो ऐसा नहीं दिखता। उसके लिए तमाम रिश्ते बेमानी हैं। मायने है सिर पर छाया छत के जिसे उसने खुद छवाया है। और बीबी का नेह जुड़ा है उसकी गईया से।

एक चुटकी से बीबी की रील घुमा दी जाए तो दस साल पहले का घटनाक्रम कुछ यूँ खुले

उन दिनों बीबी के दोनों बेटे, बड़े महेश और छोटे सुरेश ने मिलकर एक छोटी-सी दुकान डाली। कर्ज की पूँजी पर धंधा करना कस्सी रस्सी पर चलने का करतब है। सब के बूते का नहीं। भाइयों की माली हालत दिन-ब-दिन बिगड़ने लगी। कर्ज सिर पर चढ़ते ही जाता था। लेनदारों के तकाज़े धीरे-धीरे धमकियों की शक्ल इख्तियार करने लगे। यह वही वक्त था जब उनके पड़ोसी हीरामल ने उनके आँगन में बनी हुई तिकोनी कोठरी को पंद्रह हजार रुपयों में खरीदने का प्रस्ताव उनके सामने रखा। हीरामल अपने घर का विस्तार करना चाहता था। बड़े अच्छे मौके से महेश और सुरेश की आर्थिक मजबूरियाँ उसका फायदा बने जाती थीं। यह तिकोनी कोठरी वही थी जिसे बीबी गौहाल के रूप में काम लाया करती थी - वहाँ गाय औ बछड़ा बँधते थे।

महेश भलीभाँति जानता था कि अच्छे वक्त में इस कोठरी की कीमत पंद्रह हजार से कहीं अधिक मिलती। लेकिन दुर्भाग्य ! आज उन्हें रुपयों की सख्त जरूरत थी। डूबते हुए को सहारा नज़र आने लगा।

गौहाल बीबी का जीवन था और श्रम उसका वजूद। अगर कोठरी बिक गई तो वह क्या करेगी? शेष जीवन पराश्रित होकर काटेगी? यह जिल्लत उसे नहीं कुबूल ! गौहाल को बेचना बीबी के प्राण काढ़ने के बराबर है।

बीबी के लड़कों ने उसे कोठरी बेचने को खूब मनाया। वे कभी उसे समझाते-बुझाते, अक्सर धमकाते, फिर अपनी चाल पलट कर घिघियाते, बीबी की चिरारियाँ करते। परंतु, यह सारा आयोजन मानो पत्थर पर पानी था। बीबी ने अपनी रट नहीं छोड़ी, “नई ! कोठरी नई लिखणी !” खरीद-फरोख्त के बने बनाए कागज़-पत्तर धरे के धरे रह गए...

आखिर एक दिन लड़के अपना आपा खो बैठे। बीबी के आँगन में वो कुहराम मचा कि गली में तमाशबीनों का तांता लग गया। दुनिया में पैसा बहुत बड़ी चीज़ है! लड़कों के सिर पर खून सवार हो गया। जोर-जबरदस्ती में बेटों के हाथ माँ पर उठे... छूटे... फिर रूकते ?

पड़ोसियों ने बड़ी मुश्किल से बीच में पड़कर बीबी का बचाव किया। बीबी के शरीर पर पड़े नीले निशानों को मिटाने में हफ्तों लग गए। लेकिन उसके दिल पर लगी चोट ? वह कभी नहीं मिट सकती। उसका कलेजा पत्थर हो गया है। उसके लड़के एक बार किसी की सलाह सुन भी लें, लेकिन बीबी की तोबा ! वह ऐसी जिद्दी है कि किसी की न सुनती।

गली-टोले की जनानियाँ जुट कर आपस में कौतुहल किया करतीं, “हाय ! बुढ़िया का दिमाग चल गया है। यह अपने ही बच्चों पर रहम नहीं खाती ? एक ही बात रटती है, ‘कोण सेठ के घर जन्में हैं जो साहुकारी करने निकले थे ? मुझ से पूछ कर धंधा डाला था? मजदूर के जने हो, मजदूरी करे!.. घर मेरा है! चले जाओ ! रोकती नहीं मैं...।” फिर पड़ोसिनें अपने हाथ नचाकर बीबी का स्वांग करतीं, “लिखणी नई मैंने कोठरी !... लिखणी नई !”

जो चर्चा बीबी की सहानुभूति से शुरू होती, वह उसके बहु-बेटों की सहानुभूति पर आ कर समाप्त होती। भई, बूढ़े-लाचार लोग घर-घर में पड़े हैं। और हर कोई अपने बूढ़े-बूढ़ी की किसी आदत से आजीज है।...

गर्मी की दोपहरी थी। महेश अपनी दुकान पर चिंतित बैठा था कि ‘क्या हो?... कैसे हो?’ तभी थाने से एक सिपाही उसे बुलाने आया। महेश को काटो तो खून नहीं! बाज़ार के एक लेनदार के ईशारे पर पुलिस सुरेश पर चोरी का झूठा आरोप लगा कर उसे उठा ले गयी थी। सुरेश पूरे दो दिन दो रात हवालात में बंद रहा। इस दरम्यान महेश दसों दुआर मँगनी कर के हार गया किंतु उस लेनदार का कर्ज भर पर्याप्त रूपए नहीं जोड़ पाया। अलबत्ता उसने येन केन प्रकारेण पुलिस को कुछ ले-दे कर राजी जरूर कर लिया। पुलिस वालों ने गरीब के चढ़ावे को भागते भूत की लंगोट समझकर कुबूल लिया और सुरेश को छोड़ दिया। पुलिस के यह नक्शे देख कर लेनदार व्यापारी चौंक पड़ा। ढिठाई से हँसते हुए थानेदार ने व्यापारी को घुड़का, “लाले, तेरे कहने पर हम मर्डर कर दें ?... झूठी रपट लिखाकर पुलिस का वक्तर्षित करते हो ? कहीं फिर ना ऐसा करना, वरना ‘एक्शन’ लूँगा।” बेचारा लेनदार ठगा रह गया।

सुरेश जब दो दिन के थानेवास के पश्चात् घर लौटा तो उसके जोड़-जोड़ पुलिसिया डंडों की

मार से सूजे हुए थे। सुरेश उधारे बदन चारपाई पर औंधा पड़ा था। सिर्फ उसकी कमर के गिर्द एक तहमद बँधी थी। उसकी घरवाली अंजु उसके चोटों पर हल्दी-चूना का लेप लगा रही थी। उस गरीब की सूजी हुई लाल आँखें और जर्द चेहरा बयान करते थे , उसके बीते दो दिनों का हाल।

महेश से सुरेश की यह हालत न देखी गई। कल इसी तरह उसकी भी बारी आयेगी? वह बौखलाहट में लपका और उसने बीबी का टेंटुआ दबा लिया। वह गरजा, “डायन ! तू हमें खा कर ही मरेगी? तू माँ है रू? तू मर !... तुझे नहीं जलाएंगे हम। तेरी लाश को कुत्ते नोचेंगे निपुतिए। आज से तू हमारे लिए मर चुकी और हम तेरे लिए मर चुके।” उसने जमीन पर थूकते हुए पत्नी को चेतावनी दी, “समझा दे इसे, अपनी जुबान से पुकारा भी तो गला दबा दूँगा !” अनहोनी के भय से राज ने बीबी की गर्दन छुड़वायी और उसे हिकारत से फटकारा... बीबी बिललिाती हुई पड़ोस में दौड़ गयी।

देनदारी के मारे बाज़ार में परिवार की पहले ही बड़ी लानत-मलामत हो चुकी थी। घरवालों का सिर उठा के राह चलना मुश्किल हो गया था। यदि बीबी के संग कुछ बुरा घट जाए तो ? समाज की हुक्का-फजीहत का जोखिम बहुएं नहीं उठाना चाहती थीं। फिर दुनिया जानती है कि बीबी के घर में रह रहे हैं। इसलिए ‘अबोले’ के बावजूद वेबूढ़ी के आगे दो वक्त की रोटियाँ डाल देतीं- बिना हुज्जत।

थाने वाले प्रकरण का एक अच्छा अंजाम यह हुआ कि बाज़ार के अन्य लेनदारों ने उस से सबक ली। उन्होंने दोनों भाइयों को नितांत नंगा जानकर उनकी गिरेबां पर अपनी पकड़ ढीली कर दी।

* * *

बीबी ने अपनी हथेलियों से टोकरे में लगे गोबर को समेटा और आखिरी पाथा ठोंकते हुए उठ खड़ी हुई। धूप का क्या भरोसा ! कई दिनों तक न भी निकले। चाहे सूरज अपनी लीक छोड़ दे, परंतु चूक जान बीबी का काम नहीं।

बीबी घर नहीं लौटेगी। उसने अपने शॉल को सिर और छाती पर ठीक से कसा। फिर अपनी बगल में खाली टोकरा दबाए सामने की ढही दीवार को पार कर वह सुदूर मैदानों में निकल गई। - अपनी गईया के लिए चारा जोड़ने। बीबी का बूता नहीं कि वह अपनी गईया को बाजार से चारा खरीद कर खिलाए। रोज यूँ चारा बटोरना भी कोई खेल नहीं। जाड़े के दिनों में झाड़ी पतवार सुखाड़ हो जाते हैं। बीबी की गईया गाभिन है। ऐसी नाजुक हालत में वह गईया के लिए सवरे गौहाल में अलाव जलाकर आती है। वह स्वयं सिर्फ सलवार-कमीज पर एक शॉल लपेटकर अपना काम चलाती है। बीबी के तन पर पड़े वस्त्रों को देखकर यह अंदाज नहीं लगाया जा सकता कि एक अरसा पहले उनका रंग नीला, पीला या फिर हरा हुआ करता था ?... लगता है खुदा ने बीबी की पिंजर काया को फौलाद से गढ़ा है।

लोहे का फाटक सस्वर ढनमना कर खुला। बीबी ने सिर पर चारे का बोझ संभालते हुए घर के आँगन में प्रवेश किया। इस बेला लड़के अपने बस्ते लेकर स्कूल जा चुके होंगे। उनकी नन्हीं बहन कमरे की दहलीज पर हाथ-पैर फैलाए, मुँह फाड़े रो रही है। वह अपनी माँ का ध्यान आकर्षित करने

की कोशिश कर रही है।

रोती हुई बच्ची से निस्पृह, बीबी ने भीत से हँसिया अड़ायी और चारे का बोझा जमीन पर पटक दिया। फिर दतुअन को चबाते हुए उसने छोटे चूल्हे में आग रखी... फूँका... चूल्हा सुलग पड़ा। बीबी ने चूल्हे पर एक बार में वह पाव सेर से बेशी चाय पीती है।

घर के भीतर एक रसोईघर है। इस रसोईघर को आधुनिक कहा जा सकता है क्योंकि यह गैस चूल्हा - सिलिंडर, कुकर और स्टील के चमकीले बर्तनों से सुसज्जित है। इस रसोईघर का उपयोग बीबी की बहुएँ करती हैं। यहाँ रखे अधिकांश सामान उनके लिए दहेज के हैं। बीबी का जैसे अपनी बहुओं से जैसे उनके रसोईघर से कोई सरोकार नहीं है। हाँ, सवेरे मुँह-अँधेरे ही दुहे गए दूध की बाल्टी रसोईघर के एक सुरक्षित स्थान पर अवश्य रखी जाती है, ताकि बिल्ली मुँह न मार जाए।

बीबी ने पीतल के एक बड़े गिलास में चाय उड़ेली और चापायी पर सुस्ताने बैठ गई। वह धीरे-धीरे चाय सुड़कने लगी। एक-एक कर के दूध के ग्राहक आने लगे - जिनके यहाँ दूध का माहबारी हिसाब है वे और दूसरे छिट-पुट ग्राहक भी। बीबी अपनी चाय पीना रोक, दूध नापती है। कभी चाय सुड़कती हुई ग्राहक का हाल-चाल पूछ लेती है।

बीबी पहर बीतने से पहले ही बचे हुए दूध की बाल्टी उठा कर आस-पास मोहल्ले में बेच आएगी। फिर दोपहर ढले वह सुबह वाला कार्यक्रम दुहराएगी। इन सुबह-शाम के समान कार्यक्रमों के दरम्यान यदि कोई बाहरी बीबी के बाबत पूछ ले तो बड़ी बहु राज मुँह बिचकाती हुई कह उठती है, “उनका क्या जाने कहाँ होंगी? कहीं गप्प लड़ाती बैठी होंगी!... बैठे-बैठे रोटी जो मिलती है! उनके पीछे कौन से काम लगे हैं?”

कभी राज झुंझला कर दाँत किट्-किटाती है, “...हमारे बच्चों को दूध को तरसा देती है बुढ़िया! स्साऽऽ..रा बेच डालती है।”

पुराने लोग जानकार हैं लेकिन कोई नया सुनने वाला सोच में पड़ जाता है, ‘क्या बीबी ने काया के साथ कलेजा भी फौलाद का पाया है?’

हालाँकि, हर मास की दोनों पूर्णमासियों को बीबी बूँद भर दूध का भी विक्रय नहीं करती। यह बात उसके सभी ग्राहक जानते हैं। यदि कोई भूला हुआ ग्राहक फाटक पर खड़ा भी हो जाए तो बीबी टस से मस नहीं होती - वह पूर्णमासी का टोटका मानती है। उस दिन दोनों बेला का दूध घर में खपाने के वास्ते अपनी बहुओं के हवाले कर देती है। ग्राहक की लाख चिरौरियाँ खाली जाती हैं। छोटी बहु अंजु से रहा नहीं जाता तो वह ग्राहक से फुसफुसा कर सहानुभूति दर्शाती है, “कल आना जी... यह किसी की नहीं सुनतीं। ऐसी ही हैं।” ग्राहक शिकायत भरे स्वर में कहता, “आज तो बीबी तुमने दूध की किल्लत कर दी।” तब बीबी अपनी पोपली हँसी हँसकर बोलती, “अपने बच्चों को ले आ, खुद मियाँ-बीबी आ जाओ। मैं सबको खीर खिलाऊँगी। किल्लत क्यों होने दूँगी?” ग्राहक हार कर अपने घर लौट जाता और चाव से घर की दीवार पर टंगे कैलेंडर पर आगामी पूर्णमासी के दिनों के लाल स्याही से चिह्नित कर देता।

सुबह साढ़े छः बजे रेशमलाल का लड़का दौड़ता हुआ आया और बेतहाशा फाटक भड़भड़ाने लगा। अंजु ने अंदर से पुकार कर पूछा, “किशोर, क्या बात हुई ?” सुरेश जाग उठा। वह हड़बड़ाया हुआ फाटक खोलने के लिए बढ़ा। किशोर ने सुरेश को देखा तो हाँफते हुए जल्दी-जल्दी बोल गया, “काका... चलो! उधर बीबी पड़ी है... नहर के पार। लगता है मर गई है।...” सुरेश की नींद कसफुर हो गई। वह दौड़ा, पीछे महेश दौड़ा, उनके पीछे तीनों लड़के। जिसने जाना-समझा वही नहर की ओर लपक लिया।

बीबी नहर पार पुलिया के छोर के नीचे मिट्टी में धसकी पड़ी थी। इन दिनों नहर में पानी छिछला था। उसका शरीर नहर के कच्चे ऊबड़-खाबड़ ढ़लाँव पर बेढब पड़ा था; जैसे, कोई ढीली गठरी हो। न जाने बूढ़ी को कोहरे में सूझा नहीं या फिर उसके बकरी से सधे पैर धोखा दे गए?

मोहल्ले में कानाफूसी होने लगी, “बीबी जीती थी तो इनके लिए मरे बराबर थी। अब मरी है तो मृतक से निबटना पड़ेगा महेश को ?...” होत होते कानाफूसियाँ किस्सागोई में तब्दील हो जाती।

चाहे निबटने वाली तर्ज पर ही सही लेकिन बीबी के बेटों ने उसकी ‘किरिया’ ठीक-ठाक निबटा दी। कोई बूढ़ा-पुराना शोक मनाने पहुँचता तो दोनों बहुएँ घूँघट खींच कर मुँह लटका लेतीं। बीबी की बेटी और दामादके आने पर भाभियों ने ननद के साथ सुर मिलाकर रोने की रस्म भी अदा की।

बीबी की मौत के बाद घरवालों के सामने सबसे पहले जो समस्या खड़ी हुई, वह थी गईया की। उसकी रख-रखाव, सेवा और सफाई महेश-सुरेश और उनकी पत्नियों के लिए असाध्य योग था। चारा इकट्ठा करने की किसी को फुर्सत नहीं थी और बाजार से खरीदने का अतिरिक्त खर्च उठाने के लिए वे राजी नहीं थे। फिर बचा हुआ दूध घर-घर कौन बेचेगा? परिवार की जरूरत भर का दूध खरीदा भी जा सकता था। हाँ, यही आसान है! सो कुछ ही दिनों में गईया बिक गई। गौहाल सूना हो गया।

बीबी के जीते जी किसी ने गौहाल की तिकोनी कोठरी की सुध लेने की दुबारा हिम्मत नहीं की थी। गोबर की गँध में रची-बसी कोठरी को खाली खड़ी देखकर भाई दुविधा में पड़ गए। इसका वे क्या उपयोगकरें? दोनों भाई के एक-एक निजी कमरे थे जो उनके विवाह में आए पलँग, अलमारी, आईना-मेज इत्यादि जैसी नाना प्रकार की सुविधाओं से भरे थे। एक खूब विशाल फालतू कमरा था जो ‘स्टोर’ के साथ-साथ बच्चों के काम आता था। पक्के का रसोईघर था। आँगन में एक किनारे चापाकाल, गुसलखाना और पैखाना बने थे। बाहर पर खुलने वाली बिना खिड़की का रोशनदान की यह बेढब कोठरी घरवालों के किसी काम की न थी।

‘क्यों न हम कोठरी को बेच डालें?’ महेश के मन में पुनः यह विचार आया। उसने रखा है इन दिनों ज़मीन के भाव आसमान चूम रहे हैं। नहर पार वाला मैदान बिक चुका है। उसे ‘आशियाना डेव्हलपर्स’ ने खरीदा है। वे वहाँ हाऊसिंग कॉलोनी और ‘मॉल’ जैसी अन्य सुविधाओं का निर्माण करने वाले हैं। शहर के विकास और विस्तृतीकरण के तहत थोक मंडी शहर के इस भाग में शिफ्ट हो रही है। - महेश सचेत हुआ। वह सीधा तन कर बैठ गया। उसने पाया बीबी की मौत ने उसके हाथ अप्रत्याशित

रूप से खोल दिए हैं।

उस शाम महेश ने अपने छोटे भाई सुरेश को इलाके के सक्रिय एस्टेट एजेंटों के यहाँ कोठरी की बाज़ार कीमत पता लगाने और बात चलाने भेज दिया। वह स्वयं मुस्तैदी से दुकान देखने लगा।

दोनों भाइयों के बीच एक काले रंग की सेंकेंड-हैंड हीरो होंडा मोटरसायकल है जिसे आज सुरेश ले गया है। रात को दुकान बंद कर के महेश घर अकेले पैदल लौटा। रोज की तरह बच्चे खा-पी कर सो चुके थे। महेश चारपाई पर बैठा भोजन कर रहा था कि सुरेश ने मोटरसायकल को आँगन में धकियाते हुए आँगन में प्रवेश किया। उसका चेहरा आँगन की मटमैली रोशनी में चमकता हुआ दीख रहा था। महेश उसे देखते ही समझ गया, 'निःसंदेह, यह खुशाखबरी लाया है!'

“एँ... दो लाख ??... तिकोनी कोठरी के दो लाख!” महेश के कान सनसना रहे हैं। गले में फँसी रोटी को वह पानी के सहारे घूँट गया। फिर खूब संभलते हुए बुदबुदाया “....हाँ ९९... और नहीं तो क्या ! ऐन सड़क पर खुलती है कोठरी...” उसने मानो खुद को विश्वास दिलाया !

भाभी ने बड़ी फुर्ती से देवर के आगे खाने की थाली परोसी। सुरेश आज बिना हाथ-मुँह धोए ही बड़े भाई के संग भोजन करने बैठ गया। खाने की ओर किसी का ध्यान न रहा, वे तो बस आपसी मशविरों में खोए जाते थे। उनकी स्त्रियाँ रसोई के काम समेट रही थीं, किंतु उनके कान आँगन की ओर लगे थे।

पहर रात बीत गई परंतु महेश की आँखों में नहीं। वह अँधेरे में बिस्तर पर पड़ा-पड़ा करवटें बदल रहा है - कभी दाएं, कभी बाएं। उसके साथ ही पलंग पर पड़ी राज धीमें स्वर में खराटे ले रही है। उसे लगता है बस वही जाग रहा है बाकी सारा संसार नींद की खुमारी में डूबा हुआ है। आखिरकार उकता कर महेश ने बिस्तर छोड़ दिया। वह दबे पाँव उठकर घड़े से पानी ढाल कर पीने लगा। फिर हौले से कमरे का दरवाजा खोलकर वह बाहर निकल आया। आँगन से होते हुए वह जीने पर निःशब्द चढ़ते हुए कोठे पर जा पहुँचा।

‘...तारों बिछे खुले आसमान के नीचे ठंडी हवा में टहलना कितना सुखद है!’ कुछ देर तक चहलकदमी करने के बाद महेश को ख्याल आया कि वह जिस स्थान पर खड़ा है वह ठीक तिकोनी कोठरी के ऊपर है। मारे खुशी के उसने वहीं दो-तीन चकर और लगाए। उसे प्रतीत हो रहा है मानो वह दो लाख रुपयों को अपने तलुवों तले रौंद रहा है - उन्माद ! वह खिलखिला उठा...

इस समौं में कोई बात जरूर थी। महेश का स्वभावतः कृपण हृदय उदार हुआ जाता था। क्यों न हो ? उसके घर धनवर्षा होने वाली थी। उसके मन में बचपन की स्मृतियाँ जाग उठीं। यह सिलसिला शुरू होने पर उसके ‘करम’ क्यों कर और कितनी देर पीछे छूटते ?... उनके मलीन और कद्दावर वजूद के नीचे महेश ने खुद को पहली बार छटपटाते हुए पाया। उसकी आँखों के सामने बीबी की नई-पुरानी तस्वीरे घूमने लगीं। यह कोई नहीं कह सकता कि यह पुत्र-मन का शोक था या महेश की वाणिज्य सूझ, अथवा दोनों का मिला-जुला प्रभाव। आज रात न जाने कब तक महेश छत पर अकेला बैठा रहा। कभी झुके कंधों के बीच अपना सिर डाले, कभी ऊपर आसमान में ताकता - वह अपने खुदा को टोहते रहा।

बीबी को गुजरे हुए एक साल से ज्यादा वक्त बीत रहा है। उसकी कोठरी अभी भी जिस की तस खड़ी है। महेश उसे बिकने नहीं दे रहा है। सुरेश को समझ नहीं आता कि भाई को यह कौन-सी ख़ब्त सवार हुई है। कोठरी बेचने की चर्चा छिड़ने पर पहले वह हील-हवाल करते रहा, अब दो टुक सीधा जवाब देता है, “बुरे दिनों में नहीं बिकी तो अच्छे दिनों में क्यों बेचेंगे ?” कई खरीदार कोठरी देखने आए लेकिन महेश ने सबको निराश लौटा दिया। सुरेश को लगने लगा है कि महेश पहले वाला महेश नहीं रहा – तेज़-तर्रार। अब वह गब्बु हो गया है। हो न हो, बीबी के प्रेत ने उसे दबोच लिया है। इस बात पर सुरेश महेश से कई बार झगड़ चुका है परंतु महेश की बस वही बीबी वाली रट... “कोठरी नहीं बिकेगी !” इस मसले का जल्द ही कोई हल निकलना चाहिए। सुरेश का धैर्य जवाब दे रहा है। वह मुआमला आर या पार कर देना चाहता है।

उधर महेश का यह हाल है कि वह तरह तरह की शुभाओं से घिरा जाता है। वह जब कभी खुद को आईने में देखता है तो उसे लगता है कि उसकी उम्र अपने आँकड़े को बहुत पीछे छोड़ आगे दौड़ी जा रही है। सुफेद कमीज़, काली पैंट पहने, काली मोटर सायकल पर सवार सुरेश बहुत जवान और स्फूर्त है – वह उससे जीत नहीं पाएगा। उसे विस्मय है कि उसके अपने दो लड़कों के जवान होने से पहले ही वह बूढ़ा हुआ जाता है। उसका अपना दाहिना हाथ कट कट कर गिर गया है। वह बार-बार चौंकता है।

महेश के सिर पर यदि बीबी का भूत चढ़कर बोल रहा था तो सुरेश मारवाड़ी सेठ के पट्टे रोज़ी शाह के गिरफ्त में था। रोज़ी आजकल सुरेश का पक्का यार बना हुआ था। वह सुरेश को रुपयों के सब्ज़बाग दिखाता। नित नए ‘डील’ और ‘एजेंसियाँ’ दिलाने के वायदे किया करता। बड़े भाई के खिलाफ खूब भड़काता। ऐसे में सुरेश को अपनी परतंत्रता पर भारी कोफ्त होती।

एक रात अमूमन रोज़ की तरह जब सुरेश भाई के पीछे दुकान बंद करके घर लौटा तो देखता क्या है ! – किसी ने बीबी की कोठरी में बिजली का तार खींच कर लट्टू जलाया हुआ है। लट्टू की रोशनी में सुफेद चूना से ताजा-दम पुचारा हुई कोठरी जगमगा रही है। यह दृश्य देखते ही सुरेश का माथा ठनका।

महेश चारपाई पर बैठा सुरेश का इंतजार कर रहा था। उसे देखते ही महेश ने अपनी आवाज़ में कुछ अतिरिक्त नमी लाते हुए पुकारा, “... मैं बताता हूँ। चल, पहले रोटी खा ले !... रोट संग खाए ज़माना हो गया।” सुरेश ने प्रतिवाद करना चाहा। परंतु बीच में यह ‘रोटी’ वाली बात आन टपकी तो वह समझ न पाया कि क्या कहे, कैसे कहे ? चुप्पी बनी रही... इस बीच रोटी के निवाले टूटते रहे। माहौल पल-पल बोझिल बना जाता था। स्त्रियाँ कभी रोटी-सब्जी, कभी पानी का परोसन देने के लिए आतीं फिर झट रसोईघर में दुबक जातीं। वे एक पल भी वहाँ टिकना न चाहतीं। – तूफान का अंदेशा है।

आखिर महेश को खामोशी तोड़नी पड़ी, “मैंने दिन में लड़के भेज दिए थे, कोठरी की सफाई और पुताई के लिए।...”

“क्यों ?” – सुरेश के मन में आस जगी कि भाई को कोठरी बेच डालने में समझदारी जान पड़ने लगी है। उसे कुछ धैर्य हुआ।

“...रेशमलाल के लक्कड़खाने गया था। उसे मेज और पटरों का भी आर्डर दे आया हूँ।”

सुरेश ने सोच, ‘ओह ! इसलिए यह दोपहर बाद से दुकान से गायब रहे।’

वह चौंका, “लक्कड़ क्यों... माने मेज-पट्टे क्यों? किसलिए?”

महेश अब सीधा मुद्दे पर आया, “देख, कोठरी अपनी है। घर से लगी हुई है।... इसमें एक परचून-पूजा-सिंगार की छोटी दुकान खोलेंगे। घर की औरतें मिलकर उसे चला लेंगी। अंजु दसवीं पास है- वह हिसाब देख लेगी। बस उधर रेशमलाल मेज-पट्टे लगवाता है कि इधर मैं सामान उतरवा दूँगा।”

महेश के मुँह से यह बात जल्दी-जल्दी दुलक गई। तनाव हल्का करने की गरज से वह अंजु की ओर मुखातिब होकर हँसा, “हमारी अंजु घर बैठे ही सामने वाली मास्टरनी से ज्यादा कमाने लगेगी। क्यों, है न अंजु ?”

सामने वाली मास्टरनी को होड़ देने के ख्याल मात्र ने अंजु के शरीर में फुरफुरी पैदा कर दी। उसने अपने सिर पर का दुरूस्त पल्लु थोड़ा और दुरूस्त किया और खिंसे निपोर दीं। राज पति की हमराज है। उसने शाबाशी भरी नजरों से अंजु की तरफ देखा। अंजु और ज्यादा गद्गद् हो उठी।

लेकिन सुरेश का हाल मानो किसी पिन निकाले गए हथगोले के समान था... अब फटे कि तब फटे ! उसके मनसूबों पर पानी फेरा जा रहा है।

किंतु सुरेश कुछ बोल पाता इसके पहले ही महेश ने जोर डालते हुए ऊँची आवाज़ में कहा, “सुरेश... पूरी गल्ल सुन। तेरी बात मुझे पता है।

सुरेश उछल पड़ा और चिल्लाया, “क्या पता है?... कोई दुकान नहीं खोलनी। मैंने कह दिया!”

महेश ने उठकर सुरेश को कंधों से जकड़कर वापिस बिठा दिया। वह बोला, “कोठरी कौन सा अपना दुआर छोड़े कहीं भागे जा रही है? इसकी कीमत बढ़ने के बाद थोड़े ही न गिरेगी! यह आज जो देगी उससे ज्यादा कल देगी। समझ? ...आसपास में इस ढंग की कोई दुकान भी नहीं है। घर की औरतों को साल भर की मेहनत दे दे, पुत्तर ! फिर जैसा तू कहेगा वैसा करूँगा।”

सुरेश को यह बातें बिजली की करंट की तरह लग रही थीं। वह तड़ंग-फड़ंग होता रहा... बतकही करता रहा। किंतु बड़े ताज्जुब की बात थी कि महेश उसके सामने अपनी देह गिरा कर बैठा रहा। उसने अपनी जुबान जरा भी तेज न होने दी। वह दिल ही दिल में अंजु पर भरोसा कर रहा है। उसका यह मोहरा पिटेगा नहीं। बस, उसे शांति और होशियारी से काम लेते रहना है।

सुबह हुई। लोगों ने देखा तूफान बीत गया है। रात बरसे हुए जमा पानी के बाद के किनारे अब मेंढक टर्प रहे हैं। सुरेश ने अपने लड़के को जिद करते देखा तो उसे एक थप्पड़ रसीद किया - वह स्कूल के ठिकाने लगा। सुरेश ने नाश्ते में मीनमेख निकाली और अपनी भाभी पर नाराज़ हुआ। फिर अंजु को बेशऊर घोषित कर उसके माँ-बाप के सिर इसका दोष-मंडन किया - वह रूआँसी हो गई। आखिर, रूठे हुए के रूआब में वह भाई को सिर-पैर से नज़रअंदाज करता हुआ दुकान पर चला गया।... तमाम लक्षण समझौते के लग रहे थे।

आज दुकान का 'श्रीगणेश' है। बीबी की कोठरी के मुहाने पर पीले सनमाईका जड़ी मेज लग गई है जिसके निचले हिस्से में काँच के खाने बने हैं। अंदर की दीवारों पर बढई-मिस्त्री लकड़ी के पटरे लगा गए हैं। भगवान की फोटो पूरब दिशा में सजाई गई है। घरवालों ने दिया अगरबत्ती जलाकर भगवान और वहीखाते की आरती उतारी और खील-बताशों का प्रसाद बाँटा। सबने मन में 'सुख, शांति, संपत्ति ...' की मंगल प्रार्थना की। दोनों माँओं ने घर-पड़ोस के बच्चों को प्रसाद के साथ दो-दो टॉफियाँ भी बाँटी (इस ताकीद के साथ कि वे दुकान पर रखे टॉफियों के मर्तबानों को हाथ नहीं लगाएंगे)। अंजु ने शृंगार पेटी से लाली निकाल कर अपने होठ रंगे और उसी से अपनी माँग ठीक ली। वह दुकान पर जा बैठी - तेल, साबुन, मसालों, दाल, बेसन, नमक, शक्कर ईत्यादि से घिरी हुई। दीवार से टँगे शैम्पू, डाई, गरम-मसाले, पान मसाले... की पुड़ियार बिंदिया के पत्ते लहरा रहे हैं। कई-कई मर्तबानों के बीच दो बड़े मर्तबान राज के बनाए हुए आम और मिर्च के अचार के भी सजे हैं। प्रौढ़ा राज? - आज हँसी से उभरे उसके रक्तिम कपोल अनु के होठों के रंग को मात दे रहे थे !

'बीबी की दुकान' - यह नाम लोगों के मुँह पर चढ़ गया है। कुछ ही महिनों की लगन से दुकान अच्छी चल निकली है। पड़ोस के अलावा कोठियों की कॉलोनियों से भी ग्राहक आने लगे हैं। -पाँच हजार की मासिक आमद अलग !जब देर रात को अंजु राज के साथ दुकान का हिसाब पूरा कर अपने कमरे में जाती है... तब सुरेश को कुछ बुरा नहीं लगता। जाहिर है - घर की संपत्ति घर में बनी हुई है, न किसी एजेंसी के डिपॉजिट के नाम पर रुपए गँवाए और ऊपर से घर बैठे चार-पाँच हजार की आमद अलग ! महेश ईत्मीनान से हैं। बच्चे बढ़ते जा रहे हैं।

दुकान पर उद्घाटन के दिन जो बँधनवार सजाया गया था, तिकोने रंग-बिरंगे कागज के टुकड़ों वाला... वह धूप से बदरंग हो गया है। लेकिन उसके ठीक बीच में झूल रहा प्लास्टिक का नकली पीला नींबू और हरी मिर्च अब भी चटक-रंग हैं। अपना काम कर रहे हैं...



पी. मणिक्यांबा : स्त्री-विमर्श की पड़ताल

□ जगमोहन सिंह

केंद्रीय विश्वविद्यालय विश्वभारती, शांतिनिकेतन में आठ दिवसीय कार्यशाला का आयोजन हुआ। गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की प्रख्यात पुस्तक 'विश्व परिचय' का 27 भाषाओं में अनुवाद को सफल बनाना और उनमें सारगर्भिता लाना इस कार्यशाला का उद्देश्य था। कार्यशाला का आयोजन 9 मार्च से 16 मार्च 2015 को हुआ। कार्यशाला में भाग लेने देश के सुदूर प्रान्तों से जाने-माने साहित्यकार एकत्र हुए। कार्यशाला में विश्वभारती, शांतिनिकेतन के प्रवक्ताओं ने भी सहभागिता निभाई। कार्यशाला का आयोजन भाषा-भवन के अध्यक्ष प्रोफेसर रामेश्वर मिश्र के तत्वावधान में हुआ। अध्यक्षता बांग्ला विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रोफेसर रामबहाल तिवारी ने की। इसी दौरान मुझे दक्षिण भारत की सुप्रसिद्ध साहित्यकार पी. मणिक्यांबा जी से साक्षात्कार का सुअवसर मिला। मैं उनसे तेलुगु साहित्य और नवजागरण विषय पर बात करना चाहता था। अतः मैंने उनसे इस विषय पर बात करने करने का अनुरोध किया। वे सहर्ष तैयार हो गईं। एक जिज्ञासु के रूप में पी. मणिक्यांबा जी से मेरी बातचीत सुखद, ज्ञानवर्द्धक रहा। प्रस्तुत है उनसे बातचीत के प्रमुख अंश -

जगमोहन सिंह : स्त्री-विमर्श के ऊपर लिखने की प्रेरणा आपको कैसे मिली ?

पी. मणिक्यांबा : कोई भी प्रेरणा जब मिलती है उसके पीछे किसी घटना की पृष्ठभूमि अवश्य होती है। हम महादेवी वर्मा को देख सकते हैं। उन्होंने दुःख क्या होता है इस बात को समझा था, इसी कारण उनकी कविताओं में दुःख की अभिव्यक्ति सशक्त रूप में प्रकट हुई। मैंने भी स्त्री जीवन की विसंगतियों को नजदीक से देखा। अपने परिवार में देखा। खासकर मेरी दीदी को देखकर। मेरी दीदी ने जो कष्ट सहा था वह मेरे जीवन को झकझोरता रहता था। इसी संदर्भ में तेलुगु के बड़े साहित्यकार चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम की याद आती है। मैं उनसे भी प्रेरित हुई। उनकी रचनाओं को पढ़ा। चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम स्त्री-शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। वे दक्षिण भारत में भारतीय नवजागरण के पुरोधा थे। 19वीं सदी के आरंभ में स्त्री-शिक्षा की बात उठाना दुष्कर कार्य था, परन्तु उन्होंने इसकी परवाह न करते हुए और समाज से लोहा लेते हुए स्त्री-शिक्षा की बात कही। उन्होंने स्त्रियों के नाम से उपन्यास भी लिखे। यह उपन्यास भारतीय नवजागरण को जानने के लिए उत्कृष्ट हैं। उन्होंने ब्रह्मसमाज में शिक्षा ली थी। दलितों के लिए पाठशाला खोली थी और उसका खर्च स्वयं वहन किया था। उन्होंने किसी के सामने हाँथ नहीं फैलाया। अपने सामर्थ्य से सारा काम किया। मेरी माँ उनके कर्म से प्रभावित थीं और मैं उनसे प्रभावित थी। मेरी माँ कई संस्मरण सुनाया करती थीं जिनमें स्त्रियों को आगे बढ़ने की बात हमेशा रहती थी। माँ स्त्रियों की दुर्दशा देखकर चिंतित रहती थीं। वह इनका मुकाबला करने को कहती थीं। माँ के स्वतंत्र विचारधारा के कारण ही घर में स्त्री-शिक्षा को लेकर कभी कोई कठिनाई नहीं आई। मैंने घर के स्वतंत्र वातावरण में पठन-पाठन किया। मेरे परिवार में लड़का-लड़की में कोई भेद नहीं था। सभी को

समान अधिकार दिए गये थे। उदार वातावरण में परवरिश होने के बावजूद मैंने अपनी दीदी को अबोध पाया। उनका विवाह अति शीघ्र हो गया था। उनके पति उन्हें हमेशा प्रताड़ित करते रहते थे। उन्हें कभी चैन से रहने नहीं दिया। और एक दिन पति की प्रताड़ना सहते-सहते उनकी मृत्यु हो गई। मैं उस समय बहुत छोटी थी। मेरे कच्चे मस्तिष्क पर इस घटनाक्रम का गहरा प्रभाव पड़ा। तभी से सामाजिक वैषम्य को देखकर मेरे विचार प्रबल होते गए, परन्तु दीदी के दुःख को मैं विस्मृत नहीं कर सकी। महादेवी वर्मा दूसरों के दुःख से काफी प्रभावित हुई थीं। वह अपने दुःख को तुच्छ मानती थीं और दूसरे के दुःख में अपने आप को लीन कर लेती थीं। उनकी रचनाओं में जिस पीड़ा की अभिव्यक्ति हुई है वह उनकी स्वयं की पीड़ा नहीं है बल्कि वह पूरी सृष्टि की पीड़ा है। मेरे खुद का जीवन भी कुछ ऐसा ही है। मैं दूसरों के दुःख में डूब जाती हूँ; जैसे-जैसे मेरा विकास हुआ हृदय इस सामाजिक वैषम्य को देखकर विचलित होता गया। 10-15 वर्ष तक मैं अन्तर्मुखी रही। मैं अपने आप में घुलती रही, बेचैन रही। यही व्यथा मेरे स्त्री-विमर्श की भूमिका बनी।

ज. सिंह : महादेवी वर्मा से मिलने का अनुभव कैसा रहा ?

मणिक्वांबा : मैं अपनी कक्षा में टापर थी। मुझे तीन गोल्ड मैडल भी मिले। 1974 ई. में स्नातकोत्तर करने के बाद मैंने पी-एच. डी. में प्रवेश लिया। मुझे इंतजार नहीं करना पड़ा। 1980 ई. में पी-एच. डी. की डिग्री मिली। जब मैं अध्ययन रत थी तभी उनसे मिलना चाहती थी। डिग्री मिलने के बाद भी यह अवसर नहीं आया। पर मेरी चेष्टा जारी थी। महादेवी वर्मा से मिलने का आग्रह और बढ़ता जा रहा था और यह सुअवसर आया 1985 ई. में। मैं, मेरे पति और बच्चे सभी महादेवी वर्मा से मिलने इलाहाबाद गए थे। उनसे मिलने की मधुर-स्मृति मैं कभी नहीं भूल सकती। आज भी वह क्षण महसूस कर सकती हूँ। यदि मैं महादेवी वर्मा से न मिलती तो आज जहाँ हूँ, वहाँ न पहुँच सकती। यहाँ तक पहुँचने में महादेवी के व्यक्तित्व की प्रेरणा की मुख्य भूमिका रही है। किसी के प्रति हृदय में स्नेह को संजोय रखने की प्रेरणा मुझे उनसे मिली। मेरा शोध 'महादेवी वर्मा के काव्य में बिम्ब विधान' है। एक बात कहना चाहूँगी कि किसी भी जीवित व्यक्ति के ऊपर कुछ भी लिखना मुश्किल का काम है। कहीं कोई भूल-चुक न हो जाए इसका बराबर ध्यान रखना पड़ता है। भय हमेशा बना रहता है।

ज. सिंह : महादेवी वर्मा से साक्षात्कार की कोई मधुर स्मृति !!

मणिक्वांबा : महादेवी वर्मा सारे मेहमानों का बराबर ख्याल रखती थीं। खाने की जो भी चीजें सामने रखी हैं वह सबको मिली की नहीं, इसका ध्यान उन्हें रहता था। मुझे भी कहती थीं 'तुम सिर्फ बात ही कर रही हो, कुछ खाती क्यों नहीं'; हाँलाकि, उम्र के उस पड़ाव में वे कम चलती-फिरती थीं, परन्तु उनकी स्मृति बड़ी तेज थी और आँखें चंचल। इन्हीं चंचल आँखों ने सबका बराबर ध्यान रखा। एक वाक्या और याद आता है - तसवीर लेने के संदर्भ में। लोग डराते थे तसवीर न खींचो। मैंने डरते-डरते ही वह तसवीर ली। वह तसवीर आज भी मैंने बड़े जतन से सहेज कर रखी है। जब-जब उस तसवीर को देखती हूँ, भाव-विभोर हो जाती हूँ।

ज. सिंह : महादेवी वर्मा ने आपको आशीर्वाद स्वरूप क्या कहा था ?

मणिक्वांबा : उन्होंने अपने आशीर्वचन में कहा था - 'तुमने बड़े मनोयोग से काम किया है। बिम्बों की गहराई में जाकर उसे समझने और प्रकट करने का सार्थक प्रयास किया है।'

ज. सिंह : तेलुगु समाज में स्त्रियों को नवजागरण से कैसे जोड़ा गया ? आपने भी 'स्त्री-विमर्श भारतीय नवजागरण काल' पुस्तक लिखी। आपको प्रेरणा कहाँ से मिली।

मणिक्व्यांबा : दक्षिण भारत के तेलुगु समाज में कंदुकुरि वीरेशलिंगम पंतुलु का प्रमुख स्थान है। वे बहुत बड़े साहित्यकार, समाज सुधारक एवं सलाहकार थे। इन्होंने विधवाओं के लिए 'हितकारिणी सभा' की स्थापना की थी। विधवाओं की दुर्दशा देखकर इन्हें ग्लानि होती थी। इन्होंने स्वयं दीन-हीन विधवाओं का अपने खर्चे से विवाह कराया था। समाज की आँखें खोलते हुए उनका पालन-पोषण किया था। इनके हृदय में स्त्री-हित की प्रबल भावना थी। इन्होंने स्त्रियों की शिक्षा, विधवा विवाह पर बल और बाल-विवाह का विरोध किया था। भारतेंदु हरिश्चंद्र का अनुकरण करते हुए वीरेशलिंगम पंतुलु ने तेलुगु नवजागरण का शंखनाद किया। नवजागरण के प्रथम दौर में समाज को सुप्त अवस्था से जगाने का इन्होंने सराहनीय प्रयास किया था।

एक बात और कहना चाहूँगी कि नवजागरण की जोत जगाने में स्त्रियों की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं है। 1886-1900 ई. के दौरान कई पत्र-पत्रिकाएँ दक्षिण भारत से निकल रही थी जिनके संपादक या कार्यकर्ता महिला हुआ करती थी। गृहलक्ष्मी और हिंदूसुन्दरी को कौन विस्मृत कर सकता है। इन्होंने अपनी पत्रिकाओं में स्त्रियों की दिन-हीन दुर्दशा को उजागर किया और समाज से मुकाबला करते हुए अपनी स्थिति में सुधार लाने की प्रेरणा दी। मैं वीरेशलिंगम और स्त्री संपादकों से काफी प्रभावित हुई। हिंदी की 'स्त्री दर्पण' और 'चाँद' पत्रिका ने भी मेरे हृदय में अमिट छाप छोड़ी। इन पत्र-पत्रिकाओं में साहित्य, कला, समाज का एक साथ चित्रण बड़े ही सुंदर ढंग से नियोजित किया जाता था। इसी कारण मैंने अपने लेखन कार्य में स्त्रियों की समस्याओं को मुख्य आधार बनाया और स्त्री-हित की बात कही। मैं यहाँ गुरजादा वेंकट अप्पाराव द्वारा रचित 'कन्याशुल्कम' नाटक का जिक्र करना चाहूँगी। इस नाटक में बंगाल से लेकर आंध्रप्रदेश तक की बेटी बेचने की प्रथा का उन्मूलन किया गया है। इसमें बाल-विवाह की समस्या और वेश्याओं की समस्या को उठाया गया है। वेश्याओं को समाज हीन भावना से देखता है। उसे हमेशा दुत्कारा जाता है। वेश्याओं के प्रति सहानुभूति की भावना इस नाटक में देखी जा सकती है। वेश्या भी समाज का एक हिस्सा है, इस नाटक में इस बात पर बल दिया गया है। 'कन्याशुल्कम' नाटक का मंचन कई बार हो चुका है। आज भी यह नाटक प्रासंगिक है।

ज. सिंह : क्या वर्तमान में स्त्रियों की दशा सुधरी है ?

मणिक्व्यांबा : मुझे लगता है ज्यादा नहीं। आज भी स्त्री अपने हक के लिए निरंतर लड़ रही है। एक उदाहरण देना चाहूँगी। क्या जायदाद के प्रश्न पर बेटा-बेटी को समान हिस्सेदारी दी जाती है ? नहीं ना!! माँ-पिता के जायदाद का वारिस उसका पुत्र ही होता है, पुत्री नहीं। जब भी कोई बात स्त्रियों के हित से संबंधित होती है - हो हल्ला मच जाता है। संसद में देखें महिलाओं के हित से संबंधित बिल पारित करवाने में वर्षों लग गए। यानी जो स्थिति महिलाओं की कल थी आज भी है। कल भी संविधान में महिलाओं के अधिकार सुनिश्चित नहीं थे, आज भी नहीं हैं। कागजी कार्यवाही से क्या होता है। वह सब दिखावा है। असल बात कुछ और है। हाँ ! स्त्री पहले से सजग हुई है यह कहना चाहूँगी।

ज. सिंह : वर्तमान में स्त्री-विमर्श संबंधी मुद्दे क्या सही रूप से बाहर आ रहे हैं ? स्त्रियों के हित में क्या कदम उठाये जाएँ जिससे उनकी स्थिति में सुधार हो।

मणिक्व्यांबा : स्त्री-संबंधी वो मुद्दे बाहर आ रहे हैं। लोग अब बेहिचक होकर लिख रहे हैं। स्त्रियों के

प्रति हुए बेरहमी के दृश्य सचमुच उभरकर आ रहे हैं। आज संक्रमण-काल है। स्त्रियाँ बनाए हुए ढाँचे को तोड़ रही हैं। वह क्या चाहती है खुलकर कह रही है, परन्तु स्त्री के सामने एक कठिनाई उत्पन्न हो गई है। वह अपनी दिशा तय नहीं कर पा रही है कि क्या करें ? इसी संदर्भ में महादेवी वर्मा द्वारा कहे गए इस कथन की याद आ जाती है - “युगों से पैरों में जो जंजीर है उसे तोड़ने की अनुमति किसी से लेने की आवश्यकता नहीं है। इन जंजीरों को काटते समय कहीं हमारे पैर न कट जाएँ। नहीं तो आजादी का कोई महत्व नहीं है।” एक बंधन को तोड़ते हुए दूसरे में उलझ जाना यह आजादी नहीं है। स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। पुरुष स्त्रियों के दुश्मन नहीं है। यह सत्तात्मक व्यवस्था स्त्रियों की दुश्मन है जिसकी मानसिकता सड़ी-गली है। इस मानसिकता को बदलने के लिए स्त्री-पुरुष दोनों को बीड़ा उठाना होगा। प्रण लेना होगा। तभी जाकर समाज में शांति कायम हो सकती है। दोनों का सहयोग, आपसी सामंजस्य एक संतुलित समाज का निर्माण कर सकता है।

ज. सिंह : हिंदी और तेलुगु की तुलना करते समय आपको क्या दिखता है ?

मणिक्वांबा : भारत एक राष्ट्र है। हर राज्य की समस्याएँ लगभग एक जैसी हैं। हर राज्य की सारी व्यवस्थाएँ मिलती-जुलती हैं। मैं प्रयास करती हूँ कि दोनों भाषा-भाषियों के समाज की समस्याओं को उजागर कर उनका निदान दूँ। उत्तर और दक्षिण की मूलभूत समस्याएँ क्या हैं ? और इसका समाधान किस प्रकार हो सकता है ? यह बताने का मैं प्रयास करती हूँ। खासकर स्त्रियों की समस्याओं को मैं उजागर करती हूँ। मुझे लगता है यह मेरा कर्तव्य है। तेलुगु समाज इस मामले में काफी सुगठित है। हमारे यहाँ समाज में एकता ज्यादा है। तेलुगु साहित्य में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श हिंदी साहित्य की तुलना में कहीं अधिक है। दलित विमर्श मराठी से कम है।

ज. सिंह : आप अनुवादक के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। आपको कैसा लगता है ?

मणिक्वांबा : मैं ज्यादा कविता का अनुवाद करती हूँ। अनुवाद द्वारा मैं दो भाषा-भाषियों को जोड़ने का प्रयास करती हूँ। मैं हिंदी पाठकों को तेलुगु साहित्य की जानकारी देती हूँ और तेलुगु पाठकों को हिंदी साहित्य की जानकारी। मेरा यह प्रयास रहता है कि जो जिस साहित्य में नहीं है वह उस साहित्य में खुलकर आए। ‘जलगीत’ कविता का अनुवाद मैंने तेलुगु से हिंदी में किया। इसी तरह ‘यशोदानंद - गृहणी’ का अनुवाद किया। यह एक ललित-गद्य है। स्त्रीवादी कविताओं का भी मैंने अनुवाद किया है। साथ ही दलित कविताओं का भी अनुवाद तेलुगु से हिंदी में किया है। अनुवाद से मुझे उर्जा मिलती है।

ज. सिंह : ‘जलगीत’ आपकी प्रसिद्ध रचना है। क्या इसे पुरस्कार भी मिला है ?

मणिक्वांबा : ‘जलगीत’ का अनुवाद मैंने तेलुगु से हिंदी में किया है। ‘जलगीत’ के लिए मुझे दो पुरस्कार मिल चुके हैं। प्रथम पुरस्कार श्रेष्ठ अनुवाद पुरस्कार आन्ध्र प्रदेश हिंदी अकादेमी द्वारा दिया गया, जिसमें मुझे 25000 रुपए पुरस्कार स्वरूप दिये गए। दूसरा पुरस्कार केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा अनुवाद पुरस्कार के रूप में दिया गया। इसमें मुझे 1 लाख रुपए और प्रशस्ति पत्र दिया गया। ‘जलगीत’ एक लम्बी कविता है। इसमें जल के बारे में तात्विक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही जल के महत्व को उजागर किया गया है। जल के संदर्भ में वैज्ञानिक, तात्विक, राजनीतिक, सामाजिक दृष्टि से विवेचना प्रस्तुत की गई है। यह अब तक की मेरी उत्कृष्ट रचना है।

ज. सिंह : सुना है आपका विवाह अति शीघ्र हो गया था छ फिर एक स्त्री होने के नाते आपने वह मुकाम

हासिल किया जो प्रेरणा स्रोत है।

मणिक्वांबा : पहले मैं हिंदी नहीं जानती थी। स्वाध्याय से मैंने हिंदी सीखी। हाँ, बचपन में मैंने संस्कृत का अध्ययन किया था। मेरा विवाह 10वीं उतीर्ण होने के बाद हो गया था। विवाह के बाद पति का सहयोग बराबर बना रहा। मैंने 12वीं की परीक्षा उतीर्ण की। मेरे पति ने स्नातक उसमानिया विश्वविद्यालय में करने की प्रेरणा दी। यदि पति का प्रोत्साहन न होता तो मैं इस मुकाम तक न पहुँच सकती। वे हमेशा मेरे साथ खड़े रहते थे। मुझे स्वतंत्र बनाने में उनका पूर्ण योगदान था। जिस तरह मेरे घर में स्वतंत्र वातावरण था वैसा ही ससुराल में भी था। घर के खुले वातावरण में पति और बच्चों ने पूर्ण सहयोग दिया। पी-एच. डी. की डिग्री मिलने के बाद मैं चार वर्ष तक बैठी रही और उसके बाद मुझे नौकरी मिली। इसके बाद मैंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा।

ज. सिंह : अभी तक आपको किन पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है?

मणिक्वांबा : यह तो अपने मुँह मिया मिट्टू बनने की बात हो गई। फिर भी बताती हूँ। 'जलगीत' के लिए श्रेष्ठ अनुवाद पुरस्कार (आंध्र प्रदेश हिंदी अकादेमी द्वारा) और केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा अनुवाद पुरस्कार; समग्र साहित्यिक सेवाओं के लिए 'प्रतिभा पुरस्कार', भीम सेन निर्मल स्मृति पुरस्कार, के अलावा आठवाँ हिंदी विश्व सम्मेलन, न्यू यार्क में 'विश्व हिंदी सम्मान' (पूरे दक्षिण भारत से) भी मुझे प्राप्त हुआ है।

ज. सिंह : सुना है महादेवी वर्मा के अतिरिक्त आपने और भी कई साहित्यकारों से साक्षात्कार किया है?

मणिक्वांबा : महादेवी वर्मा के अतिरिक्त मैं जिन-जिन साहित्यकारों से मिली, वे हैं - फादर कामिल बुल्के, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. राम कुमार वर्मा, भगीरथ मिश्र, इंद्रनाथ मदान, नगेन्द्र, हरदेव बाहरी, नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह और कृष्णधर पालीवाल। इनसे रु-ब-रु होने के क्षण को मैं कभी विस्मृत नहीं कर सकती।

ज. सिंह : आज के विद्यार्थियों के मार्गदर्शन हेतु कोई सुझाव ।

मणिक्वांबा : जो आप का काम है उसे करते रहें। कभी हार न माने। मैंने अपनी नींद छोड़ी, तपी, तब जाकर यहाँ तक पहुँची। यदि आपमें लगन नहीं है तो फिर आप आगे नहीं बढ़ सकते हैं। विषय को गहराई से जानना होगा और एक जुनून के साथ अपने काम को करना होगा। यदि आपमें जुनून है तो आप सब कुछ पा सकते हैं। आपने जो ज्ञान अर्जित किया है उसे दूसरों को बाँटें, क्योंकि बाँटने से ज्ञान बढ़ता है और अपने पास दबा कर रखने से वह घटता है। महिलाओं के प्रति सम्मानजनक दृष्टि रखें उनका साथ दें। रचनाकार को काम पर विश्वास होना चाहिए फल पर नहीं। 'कालोंहययं निरवधिः विपुला पृथ्वी।" इसलिए कोई समान धर्म पैदा होगा और हमें पहचानेगा। यह भवभूति कहते हैं तब हमारी क्या बिसात है। अपने आप को निखारते हुए आगे बढ़ना, यही उद्देश्य होना चाहिए। खुद को निखार कर ही आगे बढ़ा जा सकता है।

ज. सिंह : आपने इतना समय दिया आपका बहुत-बहुत धन्यवाद !

मणिक्वांबा : धन्यवाद !



पुस्तक समीक्षा

- पुस्तक का नाम : महादेवी के साहित्य का गद्य पर्व
लेखक : प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी
प्रकाशक : अमन प्रकाशन, रामबाग, कानपुर (उ.प्र.)
मूल्य : 70.00 रु.

विश्व की प्रायः भाषाओं के साहित्य का आरंभ पद्य से हुआ है, लेकिन हिंदी के साहित्य का आरंभ गद्य से हुआ। ऐसा तब होता है जब किसी भाषा के साहित्यकार उस भाषा के साहित्य के आरंभकाल से ही मानवता की रक्षा के लिए संघर्ष करते हुए साहित्य रचना करते हैं। हिंदी भाषा और साहित्य के संदर्भ में यह बात अक्षरशः सटीक है। हिंदी का इतिहास एक देश के जातीय संघर्ष का इतिहास है जिसमें स्वतंत्रता और मानवता को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया। इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि भारत के जितने भी दिग्गज मानवतावादी हुए, उन सबने हिंदी भाषा और साहित्य को माध्यम बनाया। प्रेमचंद ने अपना समस्त साहित्य का लक्ष्य स्वतंत्रता प्राप्ति बताया तो गाँधीजी ने हिंदी के विकास के बगैर स्वतंत्रता को बेमानी करार दिया। इसी तरह हिंदी के अन्य साहित्यकारों ने भी अपने साहित्य के माध्यम से राष्ट्रीय आंदोलन में सहभागिता निश्चित की। इस संदर्भ में सबका आग्रह गद्यात्मक रचनाओं की तरफ ही रहा। भारतेन्दु युग से लेकर छायावाद के अंतिम समय तक इस प्रवृत्ति में निरंतर विकास देखा जा सकता है। यह अचानक नहीं था कि छायावाद की एक प्रतिष्ठित कवयित्री महादेवी का गद्य अपने परिष्कार एवं प्रभाव में न केवल सर्वोत्तम साबित हुआ, बल्कि उनके गद्य की अंतर्वस्तु मानवता की महत्त्वपूर्ण यात्रा बन गई। यह यात्रा सहानुभूति और विचारों की कोरी यात्रा नहीं है। इसमें बौद्धिकता और सहृदयता और कला का सुंदर सामंजस्य है। यह सामंजस्य इकहरा या केवल बाह्य नहीं है। इसमें पर्याप्त गहराई है। सामंजस्य की इस गहराई को समझे बगैर न तो महादेवी के कवि रूप का सही मूल्यांकन संभव है और न ही उनके राष्ट्रीय बौद्धिकता के प्रकर्ष को स्पर्श कर पाना।

प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी की पुस्तक 'महादेवी के साहित्य का गद्य पर्व' उक्त गहराई को निकट से पकड़ने का प्रयास करती है। यह पुस्तक महादेवी के गद्य साहित्य को परत-दर-परत उघाड़ती हुई उनकी लेखकीय आत्मा को मूर्त रूप देने का प्रयास करती है। पुस्तक नौ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय महादेवी के गद्य साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण पहलू को लेकर उपस्थित है। अध्यायों के आरंभ से पहले प्रो. तिवारी ने एक विज्ञप्ति भी दी है जिसमें बहुत कम शब्दों में महादेवी के गद्य का परिचय कराया है। यह परिचय अपने आप में प्रो. तिवारी की लेखकीय क्षमता और मूल्यांकन क्षमता का भी सुंदर परिचायक है। आप भी देखें -

“महादेवी वर्मा के अनुपम गद्य में आदर्श और यथार्थ समरूपी क्रम में है। वैसे, स्फीत-कथन करते बनता है कि महादेवी का गद्य उस अंतिम यथार्थ का स्पर्श कर सका था जिसे कम-से-कम उन दिनों किसी अन्य गद्यकार ने रेखाचित्र, संस्मरण और निबंध जैसी विधाओं में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उनका गद्यात्मक पर्व हिंदी गद्य की पराकाष्ठा भी बन गया और दुर्लभ्य प्राचीर भी। यह एक ऐसा गद्य है जिसे

एक कवयित्री लिख रही थीं और जिसमें विस्मयों वाली पुलकाकुलता के साथ-साथ समय की बेचारी, पीड़ा, द्वंद्व, संघात, त्रास और रुदन की भरी पूरी मात्रा थी। इस गद्य की अंतर्वस्तु और शैली की भारान्विता देखने योग्य है। यह सुललित किंतु टंकारों वाला गद्य है। महादेवी ने स्वयं अपने गद्य में उग्रता की गंध लक्षित की है। यह गद्य अनुरंजनकारी, त्रासद और समय की सच्चाई का बगलगीर है। यह कला का नमूना भी है; चित्रोपम और कारुणिक भी एक ही साथ!”

महादेवी के गद्य साहित्य का यह एक मुकम्मल परिचय है। इस परिचय में जिन बातों को सूत्र रूप में अभिव्यक्ति मिली है, पूरी पुस्तक में उसी का विस्तार है। इस विस्तार को समझने के लिए पाठक को पुस्तक के अन्य अध्यायों से गुजरना चाहिए है। प्रथम अध्याय में प्रो. तिवारी ने महादेवी साहित्य में सामंजस्य की अभिक्रिया के विभिन्न स्तरों को उद्घाटित किया है। दूसरे अध्याय में महादेवी के वैचारिक आग्रह को, तीसरे में उनकी सामाजिक चेतना, चौथे में उनका चिंतन और पांचवें में उनके स्त्रीवादी नजरिए को आलोचनात्मक ढंग से समझने व समझाने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त चार अन्य अध्याय भी हैं जिसे प्रो. तिवारी ने ‘यथार्थवादी नया पंचतंत्र’, ‘गद्य की भाषिक व्यवस्था’, ‘आधी आबादी नहीं आधा समाज’ और ‘सूक्तियाँ और सुभाषित’ नाम से अभिहित किया है। पुस्तक का कलेवर संक्षिप्त है। नौ अध्यायों और 112 पृष्ठों की यह पुस्तक महादेवी के समस्त साहित्य को समझने की जितनी सामग्री मुहैया कराती है, वह किसी एक पुस्तक में अबतक मुश्किल थी। अतः कुल मिलाकर यह पुस्तक न केवल पठनीय है, बल्कि संग्रहणीय भी है। पुस्तक का अंतिम अध्याय उन लोगों के लिए ज्यादा उपयोगी है जो फेसबुक, व्हाट्स एप्प, ट्विटर आदि पर पोस्ट करने के लिए सूक्तियों की तलाश बड़ी शिद्दत से करते रहते हैं। इन सूक्तियों से महादेवी का जीवन दर्शन उद्घाटित होता है और भारतीय समाज की गहरी समझ भी।

प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी की विश्लेषण शैली आकर्षक है। ऐसा लगता है वे सजावटी गद्य के आग्रही हैं। अपनी भाषा को प्रवाह देने और प्रभावी व सुंदर शब्दों के इस्तेमाल के प्रति तिवारी जी काफी सजग दिखाई पड़ते हैं। जाहिर है उनकी इस सजगता से पुस्तक स्तरीय बन पड़ी है और भाषा के दिग्गजों को आनंद प्रदान करने वाली है। परंतु साधारण पाठकों की बोधगम्यता की परीक्षा भी अवश्य लेगी। अस्तु, एक बेहतरीन पुस्तक के लिए प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी बधाई के पात्र हैं।

- आनन्द बिहारी



पुस्तक समीक्षा

- पुस्तक का नाम : हिन्दी भाषा और सम्प्रेषण
- लेखक : बलबीर कुन्दा
- समीक्षक : हरदीप कौर

हिन्दी साहित्य और हिन्दी पत्रकारिता जगत में अपनी विशिष्ट पहचान कायम करने वाली अलोचक डॉ० बलबीर कुन्दा की 'हिन्दी भाषा और सम्प्रेषण' की समीक्षात्मक कृति भाषा और सम्प्रेषण के विविध आयाम और परिदृश्य लिए हुए है। समीक्षात्मक दृष्टि से इसे चार ईकाइयों में बाँटा गया है। इस समीक्षात्मक कृति की विशेषता यह है कि पढ़ते समय सहज ही रोचकता एवं उत्सुकता पैदा होती है। साथ ही भाषा और सम्प्रेषण संबंधी विविध समस्याओं का हल हम एक ही पुस्तक से प्राप्त कर लेते हैं। आलोचक बलबीर कुन्दा ने नई लेखन शैली का प्रयोग किया है, जो युवाओं की मौखिक और लिखित क्षमताओं का विकास करने में निर्णायक सिद्ध होगी। अतः आलोचक की यह नई पद्धति हिन्दी भाषा और सम्प्रेषण के क्षेत्र में नवीनता का बोध तो करवाती ही है, साथ ही वैयक्तिक सम्प्रेषण के साथ सामाजिक सम्प्रेषण का भी बोध करवाती है जिससे पाठक आज की सूचना क्रांति के युग में सोशल नेटवर्किंग साइट्स (फेसबुक, ब्लॉग, ट्वीटर आदि) अर्थात् न्यू मीडिया, जिसे आज के युग में मीडिया का आधुनिकतम रूप कह सकते हैं, से पाठक का साक्षात्कार कराती है। इससे पाठक अपनी दृष्टि को व्यापक बनाने के साथ साथ हाईटैक भी बना सकता है। वस्तुतः बलबीर कुन्दा जी ने इस समीक्षात्मक कृति में हिन्दी सम्प्रेषण को व्यापक स्तर पर रेखांकित किया है। भाषिक सम्प्रेषण, सम्प्रेषण के प्रकार, सम्प्रेषण के माध्यम आदि को अभिव्यक्त करने का सफल प्रयास किया है। आजकल सर्वत्र प्रिंट मीडिया के साथ इलेक्ट्रॉनिक मीडिया रेडियो, टेलीविजन, इन्टरनेट का बोलबाला है और कैरियर की दृष्टि से कुशल वक्ता और लेखक होना परम आवश्यक है, ऐसे में इस कला को सीखने और विकसित करने में यह पुस्तक अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। डॉ. कुन्दा द्वारा दिए गए अमूल्य सुझावों को अपनाकर प्रभावशाली वक्ता और लेखक सहज ही बना सकता है।

इस समीक्षात्मक पुस्तक की शुरुआत हिन्दी भाषा और सम्प्रेषण से होती है, जिसके अन्तर्गत हिन्दी भाषा का इतिहास बताते हुए हिंदी भाषा की सम्प्रेषणशीलता, साथ ही, हिंदी भाषा की सम्प्रेषणशीलता में कहावतों और मुहावरों का योगदान बताया गया है। फिर सम्प्रेषण के प्रकार, माध्यम बताते हुये मौखिक और लिखित सम्प्रेषण किन किन पहलुओं को ध्यान में रख कर किया जाता है, बताया गया है। साथ ही अन्वय और अनुवाद के बारे में भी विस्तारपूर्वक बताया गया है। सबसे प्रमुख बात यह है कि इन पहलुओं को समीक्षक ने पत्रकारिता जगत से जोड़ने का सफल प्रयास किया है। इस पुस्तक को पढ़ते हुए हिंदी साहित्य और हिंदी पत्रकारिता पर लेखिका की मजबूत पकड़ का पता तो चलता ही है, उनकी सृजनात्मक दृष्टि और अपने हाईटैक होने का भी आभास होता है। सहज और सरल उदाहरणों का प्रयोग इनकी भाषा की शक्ति है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यह समीक्षात्मक कृति लेखिका के मूल उद्देश्य को समाज के समक्ष लाने में पूर्णतः सफल है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह रचना हिन्दी पाठकों और पत्रकारिता जगत से जुड़े बुद्धिजीवियों के बीच समान रूप से अपनी उपयोगिता साबित करेगी।



वृद्धोपसेविनः

□ आशुतोष मिश्र

वृक्षों में बरगद जितना पुराना होता है उसकी नवांकुर कोपलें उतनी ही ऊर्जावान और चमकदार होती हैं, जिनमें भावी पादपों का जीवन संरक्षित होता है और बड़ा होता हुआ वट अपने भावी संसार को देखकर स्वयं को संतुष्ट और सुरक्षित पाता है। परिवार में एक वृद्ध अपने भरे-पूरे परिवार में स्वयं को भावनात्मक स्तर पर संपोषित और आशान्वित पाता है। उसकी समस्त वर्जनाएँ, भावनाएँ नवागंतुक भावी पीढ़ियों की क्रीडास्थली में पनाह पा जाती हैं; जैसे, समुद्र की उठती-गिरती लहरें पुनः जल की अथाह राशि में विलीन हो जाती है ! बुजुर्ग बोझ नहीं विश्वास हैं हमारे अंधविश्वास के, आशा हैं हमारी निराशा के और विचार हैं हमारे चिंतन के। हमारे बुजुर्ग मूल्यवान संस्कृति के अमूल्य धारोहर हैं इसलिए हर कीमत पर उनकी सुरक्षा और संरक्षण का दायित्व हमारा है और यह दायित्व व्यक्ति और परिवार तक सीमित नहीं अपितु समाज, प्रदेश और राष्ट्र तक इसकी परिधि में आते हैं।

आज तुच्छ स्वार्थपरता और क्षणिक लोलुपता के कारण हम अपने जीवन्त धारोहरों का तिरस्कार, बहिष्कार और परित्याग कर रहे हैं क्या एक सभ्य समाज के लिए यह उचित है? जिस देश में गौरवशाली अतीत के भग्नावशेष खण्डहरों को बचाने के लिए न जाने कितने रुपए पानी की तरह बहाए जाते हैं, वहाँ बागवानों के प्रति ऐसी उपेक्षा गंभीर चिंता का विषय है। बुजुर्ग हमारे अतीत हैं और अतीत की नींव पर ही वर्तमान का महल तैयार होता है जो सदियों तक मानवता का मार्गदर्शन करता है। जाति, वर्ग, धर्म, सम्प्रदाय आदि स्वार्थगत मनोवृत्तियों से ऊपर उठकर एक व्यक्ति से अधिक विचारधारा के रूप में बुजुर्गों का रक्षण तथा पोषण होना चाहिए; क्योंकि विचारों और जीवनानुभव का जो संचित भण्डार इनके पास है, वह हमारे और हमारी पीढ़ियों के लिए अनमोल है। यह विचारणीय प्रश्न है कि तुच्छ स्वार्थपरता और लोलुपता से भरे आज के समय में जहाँ मानवतर प्राणियों में भी कभी-कभी मानवता की खबरें हमें मिल जाती हैं; जैसे - 'रोते हुए शिशु को कुतिया ने दूधा पिलाया' ... तो क्या हम अपने सम्मानीय बुजुर्गों के प्रति उनकी उचित देखभाल कर अपनी मानवता नहीं दिखा सकते? यदि ऐसा नहीं कर सकते तो यह हमारे और हमारे सभ्य समाज दोनों के लिए कलंक की बात है। सृष्टि के समस्त प्राणी में मनुष्य ही सबसे अधिक चिंतनशील, विवेकशील और संवेदनशील है इसलिए परिवार, समाज और देश के बारे में सबसे अधिक दायित्व उसीका है। एक समय होता है जब परिवार का मुखिया अपने समस्त दायित्वों को पूरा करते हुए सभी सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने का अथक प्रयास करता है। कोई अपने प्रयासों में पूरी तरह सफल हो जाता है तो कोई असफल लेकिन उन्हें अपने इन प्रयासों की सफलता पर संतोष होता है तो कोई असफलता पर उदास। परिवार का वही मुखिया जब पारिवारिक सदस्यों की गाड़ी को

आगे बढ़ते-बढ़ते जब शारीरिक और मानसिक रूप से अशक्त हो जाता है तब उसके सदस्यों को अपने दायित्व को समझना चाहिए। हमारा कर्तव्य ही हमारा कर्म है और सच्चा कर्म कभी स्वार्थी नहीं होता, वह केवल देता है कुछ पाने की इच्छा नहीं रखता। यदि इस भावना से हम मनुष्य अपना कर्तव्य करें तो न केवल अपना बलिक अपनी परम्परा, अपनी संस्कृति और अपने समाज का कल्याण कर सकते हैं। हमारी परम्परा, हमारी संस्कृति और हमारा समाज ये हमारे अस्तित्व की पहचान हैं। अगर ये नहीं तो हम नहीं, हम और हमारी पहचान दोनों ही समाप्त हो जाएँगे और हम मानसिक तथा शारीरिक रूप से गुलाम हो जाएँगे। हमारी हजारों वर्षों की गुलामी इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। हम तभी गुलाम हुए जब हमने अपने पूर्वजों के अनुभवों से न तो सीखा और न उन्हें अहमियत दी। हमारे बुजुर्ग हमारी परंपरा, संस्कृति की पहचान हैं। यदि हम और हमारी पीढ़ी आधुनिक हैं तो हमारे पूर्वज और हमारे बुजुर्ग परंपरा हैं। परंपरा को छोड़कर आधुनिकता आगे नहीं बढ़ सकती, ये दोनों हमारे दो पैर हैं। एक को पीछे किए बिना दूसरा आगे नहीं बढ़ सकता, परंपरा और आधुनिकता बुजुर्गों और भावी पीढ़ी के रूप में दो विचारधाराएँ हैं। विचार की दोनों धाराएँ जबतक आपस में मिलेंगी नहीं तबतक कोई तीसरी विचारधारा, जो दोनों को मिलाकर आगे ले चल सकें, नहीं बन पाएगी। विचारधाराओं का संगम अर्थात् दो सभ्यताओं, दो संस्कृतियों और दो मनोभावों का मिलन है। चाहे मनुष्यता के आधार पर हम बुजुर्गों के रूप में हम अपने उत्स को समझें या संवेदना के आधार पर, हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारा जीवन उन्हीं द्वारा संरक्षित और संपोषित हुआ है। इतिहास गवाह है कि जब-जब हम, हमारा समाज और हमारा देश दिग्भ्रमित हुआ है तब-तब समाज के तथाकथित बुद्धिजीवियों के रूप में राम, कृष्ण, बुद्ध, चाणक्य और गाँधी जैसे प्रतिनिधियों ने कर्तव्यभाव से हमारा उचित मार्गदर्शन किया है। बुद्ध और गाँधी के देश में हिंसा का ऐसा नग्न ताण्डव हमारी क्षुद्रता, लोलुपता, लापरवाही और बेईमानी की ओर संकेत करता है। आए दिन नरसंहारों में लिप्त हमारा समाज देश के लिए खुशी-खुशी फाँसी पर झूल जाने वाले उन अमर शहीदों के प्रति अपनी कर्तव्यहीनता, अकर्मण्यता और अघोषित अपराध के अघोषित अपराधी है। हमारे इन दुष्कृत्यों ने हमें शहीद-ए-आजम का गुनाहगार बना दिया है। वे भी हमारे बुजुर्ग थे, जिन्होंने अपनी भरी जवानी में खुद मौत को गले लगाकर हमें स्वतंत्र देश में साँस लेने का अवसर दिया है। उनके प्रति हमारे ये हिंसात्मक कार्य क्या गुनाह नहीं है मेरी नजर में तो यह ऐसा अपराध है जिसकी सजा फाँसी हो तो भी कम है। हत्या, बलात्कार और लूट जैसे जघन्य पाप की जो आग हमने अपने परिवार में सुलगायी है वह हम सभी को एक दिन जलाकर राख कर देगी, यदि हम चेत नहीं जाते हैं। ये जघन्य पाप हमारे तुच्छ स्वार्थ, कर्तव्यहीनता, अकर्मण्यता से जन्मे हैं और अब हमारी भावी पीढ़ियों ने इसी को अपना विचार बना लिया है जो एकल परिवार, अंतर्जातीय विवाह, स्वार्थपरता, अहम में जीने की लोलुपता आदि मनमर्जियों के रूप में दिखाई दे रही हैं। यही हमारी आधुनिक सभ्यता और संस्कृति है, जिसे हम नकल की संस्कृति कह सकते हैं। अपनी जानी-पहचानी संस्कृति को छोड़कर एक ऐसी विचारधारा को हमने अपनाया है जो न तो पहले कभी हमारी थी और न कभी हमारी होगी। यह कैसी विडम्बना है कि जो न तो कभी हमारी थी और न होगी, उसे हमने अपना मान लिया है। दिखावे की यह संस्कृति हमारे खान-पान, जीवन शैली, आचार-विचार और व्यवहार सभी में दिखाई देती है। इसने हममें स्वार्थपरता, व्यावहारिक कटुता परस्पर असहयोग की भावना भर दी है जो एकल परिवार, परस्पर द्वेष और परंपरा से विच्छिन्नता के रूप में आज दिखाई दे रही है। कम-से-कम ऐसी विचारधारा या परम्परा हमारी वह परम्परा नहीं हो सकती जो हमने अपने ऋषि-महर्षि और पूर्वजों से पायी है और जिसपर हम गर्व कर सकें। हमारी परम्परा तो दूसरे

की संस्कृति, प्रवृत्ति और विचारों का अपनापन की रही है; जैसे, भाषा के स्तर पर हमने विदेशी शब्दों को आत्मसात् किया है, वैसे ही भाव के धारातल पर इस्लामिक विचारों को अपना लिया है, चाहे वह वैवाहिक संबंध के रूप में हो या फिर धार्मिक परंपराओं के रूप में यह दिखाई देता है। जब हम दूसरे धर्म, लोक-संस्कृति को अपना रहे हैं तो क्या अपने परिवार के एक वैसे सदस्य को उसके विचारों के साथ नहीं स्वीकार कर सकते, जिसने अपनी भावी पीढ़ी के लिए जीवन के अनमोल क्षणों को समर्पित कर दिया है। वृद्ध जनों की सेवा उनके विचारों, भावों को अपनाकर की जानी चाहिए, क्योंकि इसके माध्यम से हम उनके समीप पहुँचते हैं। वैचारिक स्तर पर हमारे दुराव ने सामाजिक और पारिवारिक स्तर पर हमें उनसे अलग कर दिया है। यही कारण है कि अनेक सुविधाओं के बावजूद हमारे बुजुर्ग हमारे साथ आज नहीं रहना चाहते हैं। आज उन्हें हमारे प्रेम, सहयोग और सामीप्य की जरूरत है, जैसे कि बचपन में मुझे उनकी निकटता की सबसे अधिक आवश्यकता थी, जो हमने उनसे पाया है। यदि वह संयम हमें उनसे नहीं मिलता तो शायद हमें न तो हमारी पहचान मिल पाती और न मुकाम। इसलिए परस्पर सहयोग के इस अटल नियम को स्वीकार करते हुए इस विषय पर हमलोगों को एक स्वस्थ चिंतन करने की आवश्यकता है। इसप्रकार का चिंतन सकारात्मक सोच से संभव है, क्योंकि कोई भी रचनात्मक कार्य सकारात्मक विचारों से ही सम्पन्न होते हैं। इसी सकारात्मकता को गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' में 'जहाँ सुमति तहाँ संपति नाना। जहाकुमति हँ विपद निधाना॥' के रूप में स्वीकार किया है। परम्परा से ही हमारे देश में सुमति की प्रधानता रही है जो संयुक्त परिवार के ढाँचे के रूप में दिखाई देती है। वैचारिक एकता के अभाव में हमारी वह परंपरा आज एकल परिवार में बदल गई है। हमारे परिवार की यह स्थिति हमारी स्वार्थपरता, संकुचित सोच और वैचारिक भिन्नता को दर्शाते हैं। हमारी यह सोच जब परिवार के अन्य सदस्यों, जो नयी पीढ़ी के हैं और जो आधुनिक सोच और फैशन से प्रभावित हैं, उनसे मिल नहीं सकती तो फिर उन बुजुर्ग सदस्यों के पारम्परिक विचारों से कैसे मेल रख पाएंगी। एक विवेकशील प्राणी होने के नाते हम मानव को अपनी जीवन-शैली पर फिर से विचार करना होगा और उन जीवन-मूल्यों पर विश्वास करना होगा जो हमारे बुजुर्गों में संरक्षित हैं। बुजुर्गों के लिए अलग से वृद्धाश्रम बनाने की आवश्यकता नहीं, चिल्ड्रेन्स, 'मदर्स डे', 'फादर्स डे' की तरह 'वृद्ध डे' मनाकर केवल औपचारिकता भर पूरी करने की जरूरत नहीं, बल्कि उनके विचारों को समझते हुए उन्हें अपनापन की, उन्हें समझने की और स्वयं को उन्हें नए तरीके से समझाने की जरूरत है। बुजुर्गों को फिर से अपनी पहचान बनाने की आवश्यकता नहीं क्योंकि जिन परंपराओं, जीवन-शैली और विचारों के साथ वे आज तक रहते आए हैं, जो उनकी पहचान बन गई है क्या उसमें बदलाव संभव है? ये मिट्टी के पक्के बर्तन की तरह हैं जिनमें चाहकर भी कोई परिवर्तन संभव नहीं, हमारी सोच, हमारी मानसिकता, हमारे संस्कार मूल्यहीन होने के कारण कच्ची मिट्टी के बर्तन की तरह हैं, उनमें बदलाव संभव है। संस्कारों में मूल्यहीनता तब आती है जब वे विकृत होकर अपनी उपयोगिता समाप्त कर देते हैं। मेरी राय में आधुनिक भोगवादी विचारों से बने हमारे संस्कारों (जिसमें केवल स्वार्थपरता और क्षणिक सुख-भोग हैं) ने हमारे अर्थपूर्ण उद्देश्यों एवं मानवीय मूल्यों वाले विचारों को सबसे अधिक प्रभावित किया है और इसलिए हम अपने बुजुर्गों की अवमानना भी करने लगे हैं। हमारी परंपराएँ मूल्यवान हैं जो 'त्यक्तेन् भुंजीथाः' अर्थात् त्याग में ही भोग के रूप में, 'प्रातकाल उठि के रघुनाथा। मात-पिता गुरू नावहिं माथा' तथा 'अभिवादन शीलस्य नित्य वृद्धोपसेविनः ! चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्"॥ के रूप में दिखाई देती हैं। हमारी मूल्यवान परंपराएँ हमारा उचित मार्गदर्शन करती हैं पर आधुनिक सोच-विचार भोगवाद की ओर

प्रेरित कर हमें दिग्भ्रमित करती हैं। आधार और तथ्य से रहित फैशनपरस्त आधुनिक परम्पराएँ व्यक्ति से व्यक्ति को, परिवार से परिवार को, समाज से समाज को केवल तोड़ना सिखाती हैं, जोड़ना नहीं; क्योंकि ऐसी परम्पराएँ मैकॉले की शिक्षा पद्धति से जन्म लेती हैं, जिनमें मस्तिष्क का, बुद्धि का दुरुपयोग सिखाया जाता है, भावनाओं का, संवेदना का मजाक उड़ाया जाता है।

व्यक्ति से परिवार तक, समाज से साहित्य तक तथा राष्ट्रीय मंच से अन्तर्राष्ट्रीय मंचतक वृद्ध की सार्थकता अवस्था विशेष से अधिक वैचारिक स्तर पर सिद्ध होती है। अवस्था के रूप में वृद्ध किसी काल की सीमा में आबद्ध नहीं होता, अपितु वह अशक्तता, असमर्थता और अक्षमता के रूप में किसी भी देश, काल और परिस्थितियों में परिलक्षित होता है। वृ(ता एक परिपक्व विचार है जो संयमित, संतुलित और मर्यादित होती है जो किसी भी अवस्था विशेष के मनुष्य में हो सकती है जैसे उच्छृंखलता किसी भी अवस्था विशेष वाले मनुष्य में दिखाई दे सकती है। हमारी गौरवशाली परम्पराएँ उन परिपक्व विचारों में निहित होती हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' के किष्किन्धकाण्ड के हनुमान जी द्वारा समुद्र-लंघन प्रसंग में आवेशित हनुमान को शांत करते हुए रीछपति जाम्बवान् जी द्वारा कहवाया है- 'एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई।।' अतुलित बल के धम और ज्ञानियों में अग्रगण्य महावीर हनुमान को भी जीवनानुभूतियों के मार्गदर्शन की आवश्यकता पड़ जाती है तो क्या आज के दिग्भ्रमित युवा पीढ़ियों को इसकी जरूरत नहीं होगी? यह विचारणीय प्रश्न है। इसी प्रसंग में अपने बुढ़ापे को जाम्बवान जी ने 'जरठ' शब्द से व्यक्त किया है। यह शरीर की अवस्था विशेष को दर्शाता है। 'जरठ' का उल्लेख इस चौपाई में- 'जरठ भयएँ अब कहइ रिछेसा। नहिं तन रहा प्रथम बल लेसा।।' शरीर की अवस्था विशेष को दर्शाने के सन्दर्भ में किया (किष्किन्ध - 28-7) गया है। शरीर की इसी अशक्त अवस्था को 'बूढ़' शब्द द्वारा एक अन्य प्रसंग में जटायु के भाई सम्पाति द्वारा भी व्यक्त किया गया है- 'मैं देखउँ तुम्ह नहीं, गीधिह दृष्टि अपार। बूढ़ भयउँ न त करताउँ कछुक सहाय तुम्हारा' (किष्किन्ध - दो-28) समन्वयवादी साहित्यकार गोस्वामी जी ने इन प्रसंगों में बुढ़ापे की शारीरिक अवस्था और जीवनानुभूति में समन्वय स्थापित कर परहित भावना के मूल्य को जाम्बवान और सम्पाति दो पात्रों के द्वारा स्थापित किया है। जीवन मूल्य के संरक्षण की यह परम्परा हिन्दी के अन्य साहित्यकारों में भी मिलती है। भक्तिकाल में यह परम्परा निर्गुणोपासकों की जीवन-शैली में दिखती है। जीवनानुभूतियों के लिए शास्त्र-ज्ञान की भी बहुत आवश्यकता नहीं होती। 'मसि कागद छुयौ नहिं, कलम गहि नहीं हाथ। चारिउ जुग की महातमा मुख हि जनाई बात' को चारितार्थ करने वाले संत कबीर ने सदियों पूर्व इसे सिद्ध कर दिया था।

साहित्य में सामाजिक विचारों की अभिव्यक्ति होती है और समयानुसार ऐसे विचार साहित्य में प्रसंगानुकूल बदलते स्वरूप के साथ अभिव्यक्त होते रहे हैं। हिन्दी साहित्य में ऐसे विचार आदिकाल में वीरगाथात्मक स्वर में, भक्तिकाल में भक्त्यात्मक स्वर में, रीतिकाल में श्रृंगारिक भावों में तो गद्यकाल में जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति के रूप में दिखाई देते हैं। ज्ञान और चिंतन के क्षेत्र में आदियुग से ही अग्रगण्य भारतवर्ष विश्व को मर्यादा, संयम और अनुशासन की शिक्षा देता आ रहा है। 'भा' अर्थात् ज्ञान, तेज, प्रकाश और 'रत' का अर्थ 'लीन' इस प्रकार हमारा देश 'भारत' ज्ञानियों, महर्षियों का देश है जो हमेशा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के रूप में दिखाई देता रहा है। ऐसे विचार जो जाति, वर्ग, धर्म, सम्प्रदाय से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानवता का उचित मार्गदर्शन करे वही वृद्ध-विचार कहे जाते हैं और वही राष्ट्र या व्यक्ति बूढ़ा भी कहा जाना चाहिए। इस दृष्टि से भारत सम्पूर्ण विश्व का

अग्रज है और इन्हीं विचारों ने भारतवर्ष को कभी जगद्गुरु की उपाधि से विभूषित करवाया था। हमारा वंश, हमारा समाज, हमारा परिवार और हमारा देश सभी इन्हीं मूल्यवान परम्पराओं में सदियों से जीता आया हैं और यही हमारे साहित्य का केन्द्रबिन्दु भी रहा है। आध्यात्मिक मिथकों में छुपे वैज्ञानिक दृष्टिकोणों को हमने सदियों पूर्व स्वीकार किया था जिसमें संयुक्त परिवार की जीवन-शैली थी। परिवार की इस जीवन शैली को भगवान शिव के गृहस्थ जीवन से हमलोगों ने अपनाया है। संयुक्त परिवार की वह अवधारणा केवल मानव ही नहीं मानवेतर प्राणी जगत के प्रति संवेदनशील होने की प्रेरणा देता है। भगवान शिव का परिवार विरोधी प्रवृत्तियों वाले सदस्यों का परिवार है जिसमें मानव-दानव, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सभी हैं। उनमें यदि सिंह है तो बैल भी है, मोर है तो सर्प है, चूहा है ये सभी परस्पर विरोधात्मक प्रवृत्तियों वाले होते हुए भी शिव के तपोबल से प्रभावित होकर एक दूसरे के प्रति स्नेहभाव रखते हैं। संयुक्त परिवार की यह मूल्यवान परम्परा हमें त्याग और परोपकार की शिक्षा देता है जो वृद्ध-विचार के रूप में हिन्दी साहित्य में सम्पूर्ण भावों के साथ अभिव्यक्त हुई है। शिव और साहित्य अपने मूल रूप में सत्यं, शिवं और सुंदरम हैं जो भिन्न-भिन्न रूपों, प्रसंगों और परिस्थितियों के साथ साहित्य में व्यक्त होते रहे हैं। सत्य अपनी कुरूपता के साथ यदि परहित की भावना से लवरेज है तो वही सुन्दर है। वृद्धों के अनगढ़ विचार भी यदि परहितकारी हैं तो वही मूल्यवान और सुंदर है। इसीलिए संत कबीर के विचार लाठीमार भाषा में भी स्वीकार्य हैं। उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद के 'पंचपरमेश्वर' कहानी की वृद्धा पात्रा खालाजान के वाक्य 'बेटा/ बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे' अलगू चौधरी की सोई हुई आत्मा को जगा देते हैं। ऐसे वैचारिक मूल्य वाले वृद्धों की सेवा आजीवन भी करने से ही मित्रता के मूल्य सुरक्षित रहेंगे और परिवार तथा समाज में शांति कायम हो जाएगी। शांति का आधार कर्तव्य है, अधिकार नहीं। परिवार, समाज या देश अधिकारों से नहीं कर्तव्यों से चला करते हैं क्योंकि कर्तव्य से प्रेरित मनुष्य में सकारात्मक सोच जन्म लेती है जो उसे भावनात्मक स्तर पर परस्पर जोड़े रखती है। जैसा कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 'कुरुक्षेत्र' में लिखा है, 'शांति नहीं जबतक

तबतक सुखभाग न नर का सम हो
 नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
 नहीं किसी को कम हो।
 वही शांति राज करती है,
 तन पर नहीं हृदय पर।
 मन के ऊँचे विश्वासों पर,
 श्रद्धा, भक्ति, विनय पर।।”

विचारधारा वाली इन पंक्तियों में अधिकार के स्थान पर कर्तव्य भावना को स्वीकार किया गया है। पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय शांति कर्तव्य पथ से होकर जाने पर मिलती है, इसमें न मोह है, न लिप्सा है और न तुच्छ स्वार्थमय आसक्ति है। निर्द्वन्द्व, निस्पृह और निर्विकार भावना ने ही देश को स्वतंत्रता दिलवायी और अब शांति तथा सुव्यवस्था भी उसी रास्ते पर चलकर प्राप्त हो सकेगी, स्वार्थ और अधिकार के रास्ते पर चलकर नहीं। यही वृद्धत्व विचार है जिसमें शांति है, संयम है, मर्यादा और अनुशासन है, जो लोकोपकारी और सुविचारी है।

यदि हम अपना तथा अपनी भावी पीढ़ियों का भविष्य उज्ज्वल करना चाहते हैं तो वृद्ध एवं

वृद्ध-विचार दोनो के संरक्षण, सम्पोषण और संवहन का दायित्व लेना होगा, तभी हमारा परिवार सुखी, संतुष्ट और सुरक्षित रह पाएगा। हमारा यह दायित्व त्याग और संघर्ष से युक्त होना चाहिए, क्योंकि त्याग और संघर्ष के ताप से तपित होकर अहि, मयूर, मृग और बाघ जैसे विरोधी प्रकृति वाले मानव एवं मानवेतर प्राणी एक साथ समस्त विरोधात्मक प्रवृत्ति का दमन कर एक वट-वृक्ष के नीचे रह सकेंगे। जैसा कि कविवर बिहारी लाल ने 'कहलाने एकत बसत, अहि, मयुर मृग, बाघ। जगतु तपोवन सो कियो, दीरघ, दाघ, निदाघ।'

अपने इस दोहे में रीतिकाल के रीतिसिद्ध कवि बिहारीलाल जी ने मानवेतर प्राणीजगत के माध्यम से सकारात्मक वैचारिक मूल्य को ही उदघाटित किया है। इस प्रकार की सकारात्मक अवधारणा हमारे पारम्परिक पारिवारिक मूल्य की महत्ता को दर्शाते हैं। ऐसी वैचारिक अवधारणा की सुरक्षा प्रत्येक विवेकशील प्राणी का कर्तव्य हो जाता है और जो भी ऐसे वैचारिक मूल्यों को वहन करेगा वह संतुलित, मर्यादित और अनुशासित विचारवाला वृद्धों की श्रेणी में आएगा चाहे मानव हो या प्रकृति। प्रकृति हमारे प्रथम अभिभावक एवं बुजुर्ग हैं। वृक्षों, नदियों, पर्वतों, सूर्य, चन्द्र, पशु-पक्षी को अपनाकर उनके प्रति संवेदना और श्रद्धा भावना निवेदित करते हैं, तथा प्रकृति और पुरुष एवं समस्त चराचर जगत के स्वामी पशुपतिनाथ को अपना सबकुछ मानते हुए समर्पित हो जाते हैं कुछ वैसी ही संवेदनशीलता हमें एवं हमारी भावी पीढ़ी को अपने बुजुर्गों के प्रति रखनी होगी तभी हमसभी को उनका भी समुचित मार्गदर्शन प्राप्त हो सकेगा। यह हमारा अधिकार ही नहीं कर्तव्य भी है।



जबलपुर के स्वातंत्र्योत्तर पत्रकारों का साहित्य एवं समाज में योगदान

□ अर्चना चंदेल

पत्रकारिता राष्ट्र की प्रेरक शक्ति, चतुर्थ सत्ता एवं महनीय कर्म है। सामाजिक जागृति हेतु प्रखर तेजस्वी किरण है। साहित्य के लिए सारगर्भित ज्ञान की गंगोत्री, मंदाकिनी हैं। प्रसिद्ध यूरोपीय चिंतक बर्नार्ड शॉ पत्रकारिता का शाश्वत साहित्य की श्रेणी में रखते हुए लिखते हैं कि 'जो व्यक्ति अपने समय के बारे में लिखता है, केवल वही सचमुच समस्त मनुष्यता और सभी युगों के लिए लिख सकता है।' ऐतिहासिक नगरी जाबालिपुरम् (जबलपुर) के स्वातंत्र्योत्तर पत्रकारों की प्रतिष्ठित पीढ़ी ने इसे काफी हद तक निबाहा है।

उनके पास नवीन ऊर्जा, नव उत्साह, नए मानदण्ड, नूतन उद्देश्य, नैतिक आधार, चारित्रिक दृढ़ता, देशप्रेम, धर्म, भक्ति एवं मानवीयता सरीखे गुण भरे पड़े थे। वे आर्थिक लाभ की चिन्ता नहीं करते थे। हिंदी पत्रकारिता को इन्होंने 1947 से 1980 तक बेहतर संभाला। मार्गदर्शन भी दिया। प्रतिष्ठित पीढ़ी की बात है यह। उसके पश्चात् कुछ ही गिने-चुने पत्रकार वैसी प्रतिष्ठा पा सके हैं। जबलपुर के सभी पत्रकारों का साहित्य एवं समाज हित में विशिष्ट योगदान रहा है और सबकी अपनी शैली, अपने अभिमत, अपनी टीम स्पिस्टि रही है किन्तु वैमनस्य कभी नहीं रहा। इतिहास के अनुसार जो ज्ञात हुआ वह इस प्रकार है -

नींव का पहला आधार म. प्र. का पहला दैनिक 'लोकमत' 11/2/1930 को सेठ गोविंददास के सहयोग से प्रकाशित हुआ। 1947 पंद्रह अगस्त 'प्रहरी' संपादक श्री रामेश्वर प्रसाद गुरु, 1946 से 49 साठिया कुआँ से ब्यौहार राजेन्द्र सिंह का 'युगारंभ' बाद में 1950 'प्रदीप' सांध्य दैनिक की परंपरा श्री मोहन सिन्हा प्रारंभ करते हैं। जो 1972 में बन्द हो जाता है। उनके बाद श्री कुंजबिहारी पाठक इसे संभालते हैं। 1952 में श्री रजनीश 'मुकुल' मासिक प्रकाशन प्रारंभ करते हैं। सम्पादन सहयोगी श्री हरिकृष्ण त्रिपाठी, बैजनाथ शर्मा साथ देते हैं। 1953-54 ट्रेड यूनियन संगठन साप्ताहिक 'नई आवाज' संपादक हरिशंकर परसाई का आगाज होता है। 13 दिसंबर 1954 में 'जयहिंद' का विलीनीकरण। मोनो कम्पोजिंग मशीन का पहला प्रयोग 'नवभारत' जबलपुर जयहिंद पत्र में होता है। 7 दिसम्बर 1956 नरकेशरी प्रकाशन द्वारा 'युगधर्म' दैनिक के संपादक श्री भगवतीधर बाजपेयी लम्बी अवधि तक पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्यरत रहते हैं। श्री हरिकृष्ण त्रिपाठी सहयोग देते हैं। 1957 पं. गोविन्द मिश्र का दैनिक 'जनमत' अल्पजीवी होता है। 'जयहिंद' बंद हुआ तो 'जनसत्ता' शुरू हो गया। श्री मायाराम सुरजन दिसम्बर 1959 में 'नई दुनिया' इंदौर का जबलपुर संस्करण प्रारंभ करते हैं। सन् 1963 में श्रीमायाराम सुरजन सिटीजन

न्यूज पेपर लिमिटेड सान्ध्य दैनिक 'जबलपुर-समाचार' श्री नित्यगोपाल तिवारी से लेते हैं जो 'सार-समाचार' होकर 1971 में 'देशबन्धु' में विलीन हो जाता है। श्री नर्मदाप्रसाद सरीफ 'दैनिक समाज' के बाद 'नवभारत' से सम्बद्ध हो जाते हैं। 'नवभारत' जबलपुर का संपादन कार्य भार कई वर्षों तक श्री कालिका प्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' सम्हालते हैं। श्री निर्मलनारद विभिन्न समाचार पत्रों में जबलपुर का प्रतिनिधित्व करते हैं। 1957 में ही द्वितीय आम चुनाव के समय 'नेशनल होराइजन' साप्ताहिक दो भाषाओं में एक ही अखबार में आधी हिंदी, आधी अँग्रेजी में शुभचिंतक प्रेस से छपा। अल्पजीवी रहा। 1978 का 'जनपक्ष' लम्बा चला।

श्री मदनलाल माहेश्वरी, पत्रकारिता को गति देते हैं। कालिका प्रसाद दीक्षित कुसुमाकर की सेवा निवृत्ति के पश्चात् स्वातंत्र्योत्तर पत्रकारिता में बदलाव लाते हैं। 1975 के बाद उसे उत्कृष्ट, विस्तृत और अधुनातन बनाने का कार्य रामगोपाल माहेश्वरी 'नवभारत' के पाँच संस्करण एवं एम. पी. क्रॉनिकल के दो संस्करण के प्रकाशन से प्रारंभ करते हैं। जबलपुर का पहला आधुनिक अखबार 'हितवाद' ऑफसेट, फोटोकंपोजिंग के साथ तहलका मचाता है। संपादक पं. रामेश्वर गुरु, श्री हरिशंकर परसाई, 'वसुधा' में पहली बार कवि गजाननमाधव मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' धारावाहिक निकाल नव साहित्यिक विस्फोट करते हैं। श्याम सुंदर शर्मा श्री फतहचंद गोयल, श्री बाबूलाल बड़कुल, श्री हीरालाल गुप्त, श्री जयंत वर्मा, श्री आशीष शुक्ल आदि अनेक पत्रकारों ने साहित्य एवं समाज की प्रगति हेतु अपनी क्षमतानुसार योगदान किया। श्री माखनलाल चतुर्वेदी स्वतंत्रता से पूर्व जबलपुर पत्रकारिता से सम्बद्ध रहे। उर्दू भाषा में हैण्ड लिथो प्रेस पर मास्टर अशरफ़ी द्वारा 'आजाद हिंद', 1950 में नौशाद जौनपुरी द्वारा 'सफीना', 1951 में शहादत कुरैशी का 'फानूस' और 1953 से 1961 तक शहादत कुरैशी का 'हमारा अखबार' निकला। स्व. आनन्द मोहन अवस्थी दैनिक पत्र 'खबरें' भी अल्पजीवी रहा। शिक्षा सत्र 1966-67 में जबलपुर रानी दुर्गावती वि. वि. में पत्रकारिता पत्रोपाधि पाठ्यक्रम प्रारंभ हुआ। विभागाध्यक्ष पं. कालिका प्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' जी के साथ श्री हरिकृष्ण त्रिपाठी सरीखे वरिष्ठ पत्रकार ने अध्यापन, मार्गदर्शन किया।

अफसोस और आश्चर्य यह कि अनेक कर्मठ, त्यागी, प्रतिष्ठित पत्रकार समाज एवं साहित्य की सेवा करते रहे किन्तु इतिहासविदों ने इनके जीवन संघर्ष, पत्रकारिता - आदर्श, मूल्य एवं सामाजिक-साहित्यिक प्रदेय पर विचार नहीं किया। केवल नामोल्लेख करना ही पर्याप्त समझा।

जितना मैंने पढ़ा, जाना, समझा, उसमें कुछ बातें स्पष्ट उभरकर सामने आई हैं। इन सभी पत्रकारों ने समस्त मानव जाति का उत्थान अपना परमोद्देश्य समझकर पत्रकारिता की। साम्प्रदायिक झगड़ों को दूर करने का प्रयास किया। वे किसी धमकी या प्रलोभन में नहीं आए। वैचारिक मतभेद को स्वयं पर नहीं लादा। स्वतंत्र विचार रखे। परस्पर सद्भाव एवं प्रेम बनाए रखा। वे हिंदी का उपकार मानते हैं उस पर गर्व करते हैं। आत्मा की अंतर्ध्वनि सुनते हैं और आर्थिक कष्ट सहकर भी समाज एवं साहित्य की सेवा करते हैं। आदर्शों के प्रति आग्रह उनके लेखों, टिप्पणियों, संस्मरण, आदि में स्पष्ट दिखाई देता है।

इनकी पत्रकारिता ने समाज को भाषा, व्याकरण, साहित्य, व्यंग्य, राजनैतिक, साहित्यिक टिप्पणियाँ, विविध लोकप्रिय विषयों पर स्तरीय लेख कविता, कार्टून आदि माध्यम से जागरूक किया। एकता, देशप्रेम, भेदभाव संबंधी स्पष्ट विचार रखे। भारत के विकास में यह इकाई सहभागी बनी। स्वदेशी परंपरा, गाँधीवाद से सहमत रही। देशभक्ति को इन्होंने राजभक्ति नहीं बनने दिया। इन प्रतिष्ठित पत्रकारों के रहते पत्रकारिता, साहित्य और समाज कभी आपराधिक, स्वार्थी, असामाजिक एवं अराजक नहीं बना।

आजादी के बाद यद्यपि कुछ समय तक जबलपुर की पत्रकारिता अपनी प्रतिज्ञाओं के प्रति काफी अंश तक सजग रही तथापि परवर्ती काल का परिदृश्य श्री हीन हो रहा है।

स्वदेश के वर्तमान को उदास, धूमायित, उद्देश्यविहीन देखकर हृदय व्यथा से भर जाता है। मनुष्य स्वतंत्रता के स्थान पर भोजन, ऐश्वर्य सुख, सत्ता के पिछलग्गू बनना अधिक पसंद कर रहा है। 1960 के बाद की पीढ़ी मूल्यों के संहार की, मानव धर्म को भुलाने वाली, अपराध-उत्तेजना परोसने वाली, यथार्थ के नाम पर नग्नता दिखाने वाली बनने वाली। उसका ध्येय, व्यवसाय कौशल, स्वार्थ और संवेदनशून्यता ही रह गया। क्योंकि 'अब संचालक और व्यवस्थापक सर्वेसर्वा है। सम्पादक कुछ नहीं। 'आजकल पत्र निकालकर सफलतापूर्वक चलाना बड़े-बड़े पूंजीपतियों एवं संगठित कम्पनियों का काम हो गया है। विज्ञापनों की भरमार, उत्तेजक चित्र, मनोरंजन, ज्ञानवर्धक सामग्री, गंभीर विवेचन - विश्लेषण, सूचना, व्यापार आदि वैविध्य के साथ सभी कुछ समाचार पत्रों में पत्रकार भेजते हैं; किन्तु, समाचार पत्र जीवंत नहीं लगते। मैंने सिवनी के पत्रकारों संजय जैन संजू 'राज एक्सप्रेस' और अय्यूब कुरैशी 'दैनिक जागरण' से प्रश्न पूछा कि शिक्षा के क्षेत्र में चल रही अनियमितता एवं प्राध्यापकों-शिक्षकों की वास्तविक समस्या अखबार में क्यों नहीं देते। साहित्यिक टिप्पणियाँ देने पर नहीं छापते तो उत्तर मिला संपादक को यह सब नहीं चाहिए, क्योंकि अखबार इनसे कम बिकता है।

पत्रकार का काम हिंदी पाठक के मर्म तक पहुँचने हेतु उचित मार्ग तलाश करने का है जो जबलपुर की प्रतिष्ठित पत्रकार पीढ़ी ने बखूबी किया। किन्तु अब सस्ते, हलके, भोंड़े, अश्लील, आसान रास्ते खोजकर तथा पाठक को प्रोपेगण्डा और बौद्धिक असमंजस में उलझा कर उसे सत्य से दूर रखा जा रहा है। पत्र पाठकों के जीवन मूल्यों का निर्माण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वर्तमान अखबार पाठकों को अर्धसत्य वह भी गोल-मोल भाषा के प्रति सजग नहीं है। नई पीढ़ी के अधिकांश पत्रकार हिन्दी-पाठकों को संस्कारों की परम्परा से दूर कर रहे हैं। यह गलत है। कारण यह कि मानवीयता, देशहित, धर्म, दर्शन, अध्यात्म, जीवन मूल्य सब बिकाऊ हैं। व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के प्रति पूर्व की अनास्था आज साहित्यिक रुचि को व्यावसायिक लाभ पाने के लिए स्तरहीन रुचि की ओर ले जा रही हैं। अन्याय के विरुद्ध जन जागरूकता में कमी आ गई है। अपवादों को छोड़कर।

साहित्य जीवन जीने का हौसला देता है और समाज जीवन जीने का हौसला छीन लेता है। मनुष्य को विकलांग, उत्तेजक, अपराधी, विकृत और हताश बनाने वाली समाजव्यवस्था के विरुद्ध कोई क्रांति बीज नहीं उगाता। जबसे समाजशास्त्र जानकारी दे रहा है तबसे समाज और अधिक बिगड़ा है। समाज सेवाएँ प्रायः प्रसिद्धि के लिए की जा रही हैं। साहित्य को हाशिए पर रखने के कारण आंतरिक प्रेरणा एवं पारस्परिक विश्वास सुप्तप्राय हो रहा है। स्वतंत्रता से पूर्व पत्रकारिता एक मिशन थी। उसका मूल्य समर्पण, त्याग, कष्ट सहकर दूसरों को सुख एवं ज्ञान देना था। स्वतंत्रता के पश्चात् जबलपुर की प्रतिष्ठित पत्रकार पीढ़ी ने भरसक प्रयास किया कि आपसी सद्भाव एवं प्रेम से आदर्श पाठक समाज की स्थापना हो। पत्रकारिता के मूल्य बेहतर बनें। संस्कार, संस्कृति की रक्षा हो सके। आधुनिकता के साथ भारतीयता का उचित समन्वय विश्वास के साथ हो। फिर भी व्यावसायिकता ने अपना जाल बिछा ही दिया और उन्हें यह आघात सहना पड़ा। पत्रकार की भावुकता तब समझ में आती है जब पत्रकार मानव उद्धार के लिए सीढ़ी बनाता है और अपने खून की स्याही में कलम डुबोकर लिखता है।¹³

प्रतिष्ठित पीढ़ी के पत्रकार, साहित्यकार श्री हरिकृष्ण त्रिपाठी, श्री कालिका प्रसाद दीक्षित, श्री भगवतीधर बाजपेयी, श्यामसुंदर शर्मा, जयंत वर्मा, श्री मायाराम सुरजन आदि एवं उनके साथियों की तरह

आज मेरा जबलपुर की नई पीढ़ी के पत्रकारों से विनम्र अनुरोध है कि अपने माध्यम एवं अंतःप्रेरणा से साहित्यिक सामाजिक दायित्व का निर्वहन करते हुए समाचार पत्र-पत्रिकाओं की लोकप्रियता, लोकरुचि स्तर की रक्षा करते हुए सामाजिक उन्नयन और संस्कार करने की जिम्मेदारी समझकर सद्भाव से कार्यरत रहें।

यह सच है कि पत्रकारिता के क्षेत्र में खतरे बढ़ गए हैं। पत्रकार भी साधारण मनुष्य की तरह अपने परिवार के भरण-पोषण हेतु चिंतित रहता है। वह अब मृत्यु से डरने लगा है क्योंकि समाज या प्रशासन 'मृत परिवार' (मुखिया न रहने पर यही होता है)के असहाय सदस्यों को जीवन जीने के लिए आर्थिक सहायता या रोजगार नहीं देता। इक्का दुक्का प्रसंग छोड़कर। पत्रकार की समाज सेवी, साहित्य सेवा से सत्ता का कोई सरोकार तब नहीं रहता। यह बड़ी विचित्र बात है कि इस देश में शहीदों और सच्चे भारत सेवियों की ओर राजा का ध्यान नहीं जाता। न उनके परिवारों के लिए कोई आर्थिक सम्बल का उपाय करता है। फिर भी पत्रकार को अब अधिक सजग, अधिक सतर्क, अतिरिक्त श्रम करने वाला तथा आदर्शों के प्रति आग्रह रखने वाला बनने का प्रयास करना चाहिए। जनता उन पर विश्वास रखती है उसे बनाए रखने के लिए।

आजकल टीम स्पिरिट में कमी आ गई है। तथ्यों का पुनः परीक्षण कम हो गया है। छानबीन, पूछताछ भी कम होती जा रही है इसलिए अब वर्तमान पत्रकारों का दायित्व अधिक बढ़ गया है। उन्हें अधिक श्रम करना पड़ेगा तभी समाचार लेख, ज्ञानवर्द्धक, उत्साह ऊर्जा से भरपूर जानदार होंगे। वरना पत्रकारिता का धर्म केवल सूचनापरक ज्ञान ही रहेगा।

समाचारों के कारण ही 'पत्रकारिता' जनमानस की सही अभिव्यक्ति का आधार स्तम्भ बनती है। प्रत्येक पत्रकार की अपनी भूमिका होती है। वह विविध विषय क्षेत्रों में समाचार-सृष्टि-सृजन करता है। वैचारिक साझेदारी और सहभागिता बढ़ाना उसका दायित्व है। इस हेतु वह भाषा चाहिए जो सामाजिक-राजनीतिक कुकर्मों पर बेलाग टिप्पणी करती हो और मूल्यों के संरक्षण का विश्वास उत्पन्न कर सके पर आज पत्रकारिता की भाषा राजनीतिज्ञों के आचरण एवं झूठे आश्वासन तथा बड़ी घोषणाओं की तरह संदिग्ध हो चुकी है। पत्रकारिता आजकल राजनीतिज्ञों की प्रतिध्वनि बनने लगी है। साम्राज्यशाही प्रवृत्ति के कारण भाषा की विश्वसनीयता टूट रही है और सांस्कृतिक संकट समक्ष उपस्थित है। इस सांस्कृतिक संकट को जबलपुर की प्रतिष्ठित पत्रकार पीढ़ी ने अपने साहित्य एवं भाषा प्रेम से दूर करने का प्रयास किया।

हालाँकि, जबलपुर के सभी पत्रकारों का साहित्य में योगदान रहा है। किन्तु मेरी रुचि काव्य में होने के कारण मुझे श्री हरिकृष्ण त्रिपाठी की कृति 'जबलपुर की काव्यधारा' विशेष प्रिय है। यह जबलपुर के साहित्यिक परिचित-अपरिचित कवियों का संक्षिप्त इतिहास है। इस कृति में श्री हरिकृष्ण त्रिपाठी ने पूरी ईमानदारी, सदाशयता, पत्रकार की सजगता, तथ्यों का परीक्षण, साहित्य चयन की अभिरुचि एवं औदात्य को प्रस्तुत किया है। रचनाओं में देश प्रेम, गाँधी जी से सहमति, धर्म, प्रकृति, अध्यात्म, आदर्श, जीवन मूल्य, स्वदेशी भाव इत्यादि परिलक्षित होते हैं। श्री हरिकृष्ण त्रिपाठी ने 'जबलपुर की काव्यधारा' कृति के लिए अगाध श्रम किया है और जबलपुर तथा अन्य आंचलिक साहित्य प्रेमियों के लिए अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनका यह योगदान श्लाघनीय है। नई पीढ़ी के जिज्ञासु, कर्मशील पत्रकार एवं साहित्य जगत के पाठकों का यह सौभाग्य है कि आज भी उनके साथ श्री हरिकृष्ण त्रिपाठी एवं श्री भगवतीधर बाजपेयी का बरगद सा सायेबान है। श्री कैलाश नारद खोजी पत्रकारिता में

विशेष स्थान बना सके हैं। जयंत वर्मा ने सिवनी में पत्रकारिता विषय के अंतर्गत कार्यशाला रखी और छात्राओं को इस सम्बन्ध में बताया। जहाँ बरगद सी छाँव और आश्रय होता है वहाँ नई पीढ़ी को आगे बढ़ने का साहस एवं मार्गदर्शन स्वतः उपलब्ध हो जाता है।

संदर्भ:

1. वृहद हिंदी पत्रकारिता कोश : लेखक प्रतापनारायण टंडन, अध्याय 2, पत्रकारिता की नैतिकता और आचार संहिता, पृष्ठ संख्या 639.
2. बाबूराव विष्णु पराङ्कर, पत्रकारिता : इतिहास और प्रश्न, पृष्ठ संख्या 109, कृष्ण बिहारी मिश्र, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली 110002
3. ठाकुर दत्त शर्मा आलोक : हिंदी पत्रकारिता के बढ़ते चरण प्राक्कथन से लिया गया।
4. हिन्दी पत्रकारिता एवं जनसंचार : डॉ. ठाकुर दत्त शर्मा आलोक
5. 'जबलपुर की काव्यधारा', श्री हरिकृष्ण त्रिपाठी
6. मध्यप्रदेश में पत्रकारिता का इतिहास, सम्पादक विजयदत्त श्रीधर प्रकाशक मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।



प्रवासी कवियों की काव्य-संवेदना : एक सर्वेक्षण

□ दिलीप राम

सभ्यता के उद्भव एवं विकास के आरंभिक काल से ही हमारे पूर्वजों का अनेक कारणों से एक जगह से दूसरे जगह आना-जाना लगा रहा है। आने-जाने के क्रम में वे स्थानीय परिवार-समाज के साथ अन्तरंग संबंध स्थापित करते, वहाँ बसते और उनकी पारिवारिक-सामाजिक मान्यताओं तथा संस्कारों को अंगीकार करते आए हैं। इस परस्पर संसर्ग तथा मिलवर्तन से अनेक नई भाषाओं-उपभाषाओं (बोलियों), साहित्य और सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण हुआ है। पारिभाषिक शब्दकोश में 'प्रवास' के लिए अंग्रेजी में 'Migration' शब्द मिलता है संज्ञावाची शब्द 'प्रवासी' के लिये 'Migrat' है जिसका सीधा अर्थ 'Migration of Labour' यानी 'Migratory workers' से है। अतः यह कहा जा सकता है कि मॉरिशस, सूरीनाम, फीजी, दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में प्रवास करने वाले भारतीयों के लिए ही हम 'प्रवासी भारतीय' शब्द का प्रयोग करते हैं, और उनके द्वारा रचित साहित्य को 'प्रवासी साहित्य' की सज्ञा देते हैं।

प्रवासी भारतीयों का हिंदी साहित्य विगत दो सौ वर्षों के दौरान देश (भारत) से बाहर गए-बसे लोगों का साहित्य है, जिन पर हिन्दी की भोजपुरी, अवधी आदि बोलियों के प्रभाव के साथ-साथ वहाँ के अपनाए गए सामाजिक संस्कारों का असर परिलक्षित होता है। विश्व के विविध देशों में प्रवास करने वाले भारतवासियों की हिंदी भारत की परिनिष्ठित खड़ी बोली हिन्दी नहीं होते हुए भी किंचित परिवर्तित रूप में स्थानीय भाषा-संस्कृति और हिंदी की बोलियों-उपबोलियों के विविध रंग संजोये हुए हैं, जिसमें साहित्य की विविध विधाओं यथा- कहानी, उपन्यास, कविता आदि का विपुल सृजन प्रवासी साहित्यकारों द्वारा हो रहा है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रवासी भारतीय साहित्यकारों के अन्दर आज भी अपने पूर्वजों के देश के प्रति प्रेम एवं यहाँ की मिट्टी, सामाजिक रीति-नीति के प्रति गहरी आस्था एवं संवेदना शेष है? क्या प्रवासी कवियों की काव्य संवेदना अपने पूर्वजों के देश की मिट्टी, संस्कृति के प्रति आस्था एवं व्यामोह की द्विधाग्रस्त एवं द्वन्द्वात्मक अभिव्यक्ति है? इन प्रश्नों पर विचार आवश्यक है।

प्रवासी भारतीयों की संख्या उपलब्ध आँकड़ों के मुताबिक लगभग दो करोड़ चालीस लाख है। इन्हें दो कोटियों में रखा जा सकता है। पहले वर्ग में वे भारतीय हैं जो 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध से 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक मॉरिशस (1834), गुयाना (1838), त्रिनिनाद (1845), दक्षिण अफ्रीका (1860), सूरीनाम (1879), तथा फीजी (1873) आदि देशों में गिरमिट के रूप में विदेशी एजेंटों द्वारा गन्ने के खेतों में काम करने के लिए प्रलोभन देकर एवं बहला-फुसलाकर, सुखद भविष्य का सपना दिखाकर विदेश ले जाए गए थे और फिर गिरमिट की अवधि पूरी होने पर विदेश में ही बस गए, जिनकी चौथी-पाँचवी पीढ़ी आज भी रह रही है। इनमें से बहुतों का भारत आना कभी नहीं हुआ पर वे भारत को अपने पूर्वजों

की भूमि मानते हुए भारत से आत्मीय लगाव रखते हैं। वे अपने पूर्वजों के जीवन-मूल्यों का सम्मान करते हैं और अपनी भाषा की सुरक्षा और प्रतिष्ठा के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं। प्रवासी भारतियों ने गिरमिट जीवन की कठोर यंत्रणाएँ वहीं पर गिरमिट की अवधि पूरी होने पर अपने स्वदेश नहीं लौटते हुए नए देश को अपनाते हुए उसके पुनर्निर्माण में महती भूमिका निभायी। शिवराम गुलाम (मॉरिशस), महेन्द्र चौधरी (फ़ीजी) तथा वासुदेव पांडे (त्रिनिनाद) ने अपने-अपने देश का नेतृत्व किया।

दूसरी कोटि में वैसे भारतीय प्रवासी आते हैं जो भारत के स्वाधीन होने (1947) के बाद अभियांत्रिकी, चिकित्सा, सूचना प्रौद्योगिकी और तकनीक आदि विविध विषयों की शिक्षा तथा कुशल/अकुशल श्रमिक कार्य के लिए गए और वहाँ की नागरिकता प्राप्त कर वहीं बस गए। इस श्रेणी के प्रवासी भारतीयों का अपनाए गए देशों के नवनिर्माण में कोई विशिष्ट भूमिका नहीं रही, लेकिन आज भी उनके मन में अपने पूर्वजों की भूमि के प्रति लगाव है।

इन दोनों श्रेणियों के प्रवासी भारतीयों के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि परिवर्तित दूसरी संस्कृतियों के प्रभाव के बाद भी प्रवासी भारतीयों के मध्य हिंदी का स्वरूप गिरमिट काल में जो बना वह उनकी अपनी बोलियों और भारतीय भाषाओं का सम्मिश्रित रूप था जिसमें स्थानीय भाषाओं के शब्द घुले-मिले हैं और प्रवासी कवियों की कविताओं में उनकी अस्मिता की सबसे बड़ी पहचान बनी हुई है।

भाषा, संस्कृति का मुख्य घटक है। प्रवासी कवियों की कविताओं (काव्य-भाषा) में उन कवियों की प्रवासीय संवेदना की मार्मिक अनुगूँज स्पष्ट सुनाई पड़ती है। उनके अन्दर की पीड़ा का सहज अनुमान उनकी कविताओं से हो जाता है।

फ़ीजी के कमला प्रसाद मिश्र, विवेकानंद शर्मा, रामानारायण, महावीर मिश्र, काशीराम कुमुद, ज्ञानी सिंह, सुब्रमणी; मॉरिशस के अभिमन्यु अनंत, प्रह्लाद रामशरण, बृजेन्द्र कुमार भगत मधुकर, मुनीश्वरलाल चिंतामणि, रामदेव धुरंधार, बीरसेन जारासिंह, सोमदत्त बखौरी, सुमति बुधान, पूजानंद नेमा; सूरीनाम के मुंछी रहमान खाँ, अमर सिंह रमण, सुरजन परोही, जीत नराइन; त्रिनिनाद की ममता लक्ष्मना, हरिशंकर आदेश; गुयाना के रंडल बूटी सिंह, राम लाल; दक्षिण अफ्रीका के पंडित तुलसीराम पांडेय, प्रो० राम भजन सीताराम, उषादेवी शुक्ल, राम बिलास, भवानी प्रीतिपाल, चम्पा वशिष्ठ मुनि, मालती रामबली इत्यादि हिंदी के प्रसिद्ध रचनाकार हैं।

फ़ीजी के कमला प्रसाद मिश्र, जोगिंदर सिंह कंवल, अमरजीत कौर, प्रोफेसर सुब्रहसणी एवं प्रोफेसर रेमंड पिल्लई; सूरीनाम के जीत नराइन, श्रीनिवास, रामनाथ सिब्दीन, चित्र गयादीन, आशा राजकुमार; अमेरिका के गुलाब खंडेलवाल, अंजना संधीर, रामेश्वर अशांत, विजय कुमार मेहता, वेदप्रकाश बटुक, विनोद तिवारी, सत्यदेव गुप्ता, भूदेव शर्मा, रजनीकांत लहरी, सुषमा बेदी; इंग्लैंड की अंचला शर्मा, उषाराजे सक्सेना, उषा वर्मा, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, कीर्ति चौधरी, कृष्ण कुमार, सत्येंद्र श्रीवास्तव, तेजिंदर सिंह, कनाडा के अश्विनी गोपी, राजेंद्र सिंह, स्नेह ठाकुर; नार्वे के सुरेश शुक्ल, अमित जोशी इत्यादि प्रवासी भारतीयों ने प्रवासी भारतीय साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है तथा हिंदी में निरंतर लिख रहे हैं।

प्रवासी भारतीय हिंदी साहित्य के लगभग डेढ़ सौ वर्षों के इतिहास में प्रवासी कवियों/लेखकों की मूल संवेदना 'प्रवास की पीड़ा' है जो साहित्य में आद्यंत परिलक्षित होती है यद्यपि उसका स्वरूप विविध सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के कारण बदलता गया है। प्रवास में जहाँ व्यक्ति के मन

में एक ओर नई जगह जाने का उत्साह है, चुनौती है, नई आशाएँ और कामनाएँ हैं वहीं दूसरी ओर विछोह की पीड़ा है, विस्थापन का दर्द है और भविष्य के प्रति अनिश्चितताएँ और आशंकाएँ हैं।

प्रवासी कवियों की काव्यगत संवेदनाओं के विविध आयाम एवं पक्षों के स्पष्टीकरणार्थ कुछ काव्यगत उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

“धवल सिंधु-तट पर मैं बैठा अपना मानस
बहलाता
फीजी में पैदा होकर भी मैं परदेशी
कहलाता
यह है गोरी नीति, मुझे सब भारतीय अब
भी कहते
यदपि तन-मन धन से मेरा फीजी से ही है
नाता”

- क्या मैं परदेशी हूँ? - कमला प्रसाद मिश्र (फीजी)

तन-मन-धन से फीजी का होने के बाद भी परदेशी कहलाने का दंश एवं पीड़ा का सहज बोध कवि के अन्तर्द्वन्द्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। कमला प्रसाद मिश्र का फीजी में पैदा होने के बाद भी परदेशी कहलाने का दुःख है। प्रवासी कवियों की यह आत्मदैन्य-भाव कुंठा और हताशा को जन्म देती है।

भारतवंशियों को पग-पग पर कंटको से सामना करना पड़ता है। कठिन परिश्रम के बल पर 'जंगल को मंगल' का रूप-स्वरूप देने वाले इन प्रवासी भारतीयों के भाग्य में दो वक्त का चैन नहीं। फिर भी वे हताश नहीं होते, उन्हें अपने पुरुषार्थ और कर्म पर दृढ़ आस्था है, वहीं अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते रहने की क्षमता और साहस और भविष्य के प्रति आशा भरी दृष्टि-

“साहस है, हम सब सह लेंगे हम भयभीत नहीं होंगे
पता नहीं कब गति बदलेगा कालचक्र जग का त्रता।

- कमला प्रसाद मिश्र (क्या मैं परदेशी हूँ।)

लोक-कंठ (मौखिक-साहित्य) में रचे- बसे गिरमिट गीतों में प्रवास के दंश को महसूस किया जा सकता है-

“जो मैं ऐसा जानती फीजी आए दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती फीजी न जइयो कोय।।”

गिरमिट मजदूर के रूप में गयी प्रवासी स्त्री की ऊपर्युक्त दुःखपूर्ण करुण गीतों में प्रवास के दंश को स्पष्ट महसूस किया जा सकता है। अपनों का, अपनी मिट्टी का विछोह प्रवासी भारतवंशियों के मन में गहरी कसक पैदा करती है-

“वही दिनवा जब याद आवेला अँखिया में भरेला पानी रे
हिंदुस्तान से भागकर अइली, यही है अपनी कहानी रे
भाई छूटा, बाप छूटा और छूटी महतारी रे।

अरकटिया खूब भरमवलीस कहै पैसा कमैबू भर-भर थाली रे
वही चक्कड़ मा पड़-गइली, बचवा याद गइल नानी रे।
मारिया भौ कै जंगल मा बीती मोरी जवानी रे
तब भी कमाय कमाय के लड़कन के खूब पढ़वली रे।
हम त सरनामवा के जंगल काट-काटकर
उन्नति खूब करवली रे
जब सुख करने का बेरिया आवा,
तब यही दसा हम पावली रे।”

- अमरसिंह रमण (सूरीनामा- आप्रवासी यादगार)

इसी प्रकार की व्यथा-कथा गायाना के प्रवासी कवि राम लाल की कविताओं में सुनाई पड़ती है-

“कलकत्ता छोड़ा, मदरास छोड़ा, / हमारा मुलुक अपनाई कै, / कुली नाम धराई कै।।
घर छोड़ा, रिश्ता छोड़ा / बाहर आने कमाई कै।।
गोरन के हंटर लात खाए / दुःख सहे नया देस बनाई कै।।”

मजदूर, कुली तथा दासों के रूप में गए भारतीय अपने श्रम से नए राष्ट्र का निर्माण करते तो हैं लेकिन उनके मन में हमेष्ठा अपने वतन की(अपनी भाजा एवं संस्कृति के प्रति गहरी आसक्ति एवं लगाव बनी रहती है। वे अपने जीवन-मूल्यों के साथ जीना चाहते हैं क्योंकि यही उनकी स्वगत पहचान है-

“धर्म न छोड़ा, भाषा न छोड़ी,
संस्कृति रक्खी बचाई कै।।”

- राम लाल (गायाना)

उन्हें अपने वंश-परंपरा पर नाज है- वे हिन्दी हैं और हिन्दी-भाषा एवं साहित्य को विश्व में फैलाने के लिए प्रतिबद्ध दिखाई पड़ते हैं-

“एक बिरिछ की हम फूल पाती, / भारत मूल बनाई कै।
सगं-सग हम रहबे ले भया, / हिंदी विश्व में फैलाई कै।”

- रामलाल (गायाना)

प्रवासी कवि अपने पूर्वज को उनके पराक्रम, अथक परिश्रम एवं त्याग को याद करते हैं और अपनी माँ से पूछते हैं-

“के रहा उ मैया / के रहा उ जौन / सबेरे तड़के उठा के / प्रार्थना के बाद
गाय बैल, मुर्गी-मुर्गा के / देखभाल करके / लड़कन के सेवा में / लग जात रहा।
अपना बोट में लड़कन के / बैठाइके / सरमक्का-नदी में / खे-खेके
ना केवल पानी / के हलफा पे / बाकी जीवन के / के हलफा पे भी
विजय प्राप्त करिस / धर्म-जाति रक्षक / बनाइ के / अमर होइगे
हमार नानी / हमार आजी, / सबके रानी।”

-मार्तिन हरिदत्त लछमन श्रीनिवास (सूरीनाम), ‘के रहा उ’

अभिमन्यु अनत मॉरिशस के प्रतिष्ठित प्रवासी साहित्यकार हैं। ये बड़ी साफगोई और बेबाक शब्दों में लिखते हैं -

भूकंप के बाद ही / धरती के फटने पर / जब दफनायी हुई सारी चीजें / ऊपर को आएँगी
जब इतिहास के ऊपर से / मिट्टी की परतें धूल जाएँगी / मॉरिशस के उन प्रथम / मजदूरों के
अधगले पंजरों पर के चाबुक / और बांसों के निशान / ऊपर आ जाएंगे / उस समय
उनकी तपिश से / द्वीप की संपत्तियों पर / मलिकों के अंकित नाम / पिघलकर बह जाएंगे।

लेकिन उनका मानना है कि

“पर जलजला उस भूमि पर / फिर से नहीं आता / जहाँ समय से पहले ही
उसे घसीट लाया जाता है / “इसलिए अभी उन कुलियों के / बे अधगले पंजर
जमीन की गर्द में सुरक्षित रहेंगे / और - “शहरों की व्यावसायिक संस्कृति
के कोलाहल में / मानव का क्रंदन अभी / और कुछ युगों तक / अनसुना रहेगा।

लेकिन -

“और कलका जो इतिहास होगा / नकारने का / इतिहास होगा / अधगले पंजरों पर /
सपने उगाने का।”

- अधगले पंजरों पर (अभिमन्यु अनत)

सचमुच कल का इतिहास प्रवासी भारतीयों का होगा जिसकी बुनियाद वे Migratory worker हैं जो भूकंप के बाद धरती के फटने के बाद उगते हुए सपनों को देख पाएंगे।

अभिमन्यु अनत की कविता में एक आग है, गिरवी पड़ी किरणों की लपटें हैं। प्रवासी भारतीयों के लिए एक संदेश है तथा एक क्रांतिकारी संकेत भी है। अस्तित्ववादी दर्शन की स्पष्ट छाप भी है।

“सूरज की परिक्रमा करके / इस्पात की धार ने / गिरवी पड़ी सभी किरणों को
जड़ से काट दिया / गाजर मूली की तरह / उन्हें अब चाहो तो
मेरे खून-पसीने से गीली पड़ी / धरती के चारों ओर / प्रतिरोपित करके
सूरज की मृत्यु से पहले / एक नया सूरज बनालो।”

- गिरवी पड़ी किरणें (अभिमन्यु अनत)

प्रकृति मानव-जाति के विकास एवं पतन की कारक रही है। संघर्षरत, विपन्न तथा संकटापन्न मानव-जाति का प्रकृति ने हमेशा पथ-प्रदर्शन किया है, साथ दिया है। उत्कृष्ट विश्वसाहित्य प्रकृति-चित्रण के बगैर संभव नहीं। प्रकृति ने मानव जाति को संबल दिया है उसके बदले मनुष्य ने साहित्य के माध्यम से प्रकृति के उस उपकार का कर्ज अदा किया है। प्रवासी कवियों की कविताओं में प्रकृति के आलंबन रूपों का वर्णन प्रवासी जीवन की, प्रवास की कुंठा, आत्म-संघर्ष, दुर्दर्श निर्मम-दुर्दम जीजीविषा की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन पायी है।

“रेवा में जीवन का उल्लास छिपा है / मृदु-प्रकृति-परी का अनुपम हास छिपा है
किस तरह जान पाएंगे रेवा वासी / इन लहरों में क्या-क्या इतिहास छिपा है
उस दास-प्रथा के दुख से व्याकुल होकर / क्या जाने कितने भारतीय रो रो कर
पहुँचे होंगे रेवा की शांत शरण में / वे होंगे अब चिर-निद्रा में दुख खोकर
रमणीय पूर्णिमा के अति उज्ज्वल पल में / है स्वर्ग उतर आता रेवा के जल में

शशिकला और नक्षत्रों की मृदु-छाया / है नाचा करती रेवा के अंचल में
नित हर्ष-तरंगों में उछलो तुम रेवा। / यमुना-तट की स्मृतियों का चिंतन करके
मेरे मानस से उमड़ चलो तुम रेवा।”

- कमला प्रसाद मिश्र (रेवा नदी के प्रति)

कमला प्रसाद की कविता ‘रेवा नदी के प्रति’ पर छायावदी प्रकृति-चित्रण का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होती है। ‘मृदु-प्रकृति-परी का अनुपम हास, ‘शशिकला और नक्षत्रों की मृदु-छाया है नाचा करती रेवा के अंचला में’ मानवीकरण का सुन्दर उदाहरण है।

हिन्दी-साहित्य में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ‘कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता’ लिखकर स्त्री-विमर्श के लिए नये पथ की ओर संकेत किया। कालान्तर में गुप्त ने यशोधरा’ जैसे काव्य की रचना की जिसमें स्त्री (नारी) के त्याग-बलिदान के महत्व को प्रतिपादित किया गया। निराला छायावाद में ‘विधवा’ तथा ‘तोड़ती पत्थर’ जैसी कविताएँ लिखते हैं। फीजी के प्रवासी कवि रामानारायण की कविता ‘हाँ, मैं मंथरा हूँ’ रामायण की प्रमुख स्त्री-पात्र मंथरा को केन्द्र में रखकर लिखी गई एक लम्बी कविता है। रामायण की मंथरा अयोध्या के राजा दशरथ के दरबार की दासी (नौकरानी) है।

‘रामायण की कथा हकीकत हो या दास्तान इस विवाद में न पड़ते हुए, इस महाकाव्यात्मक कृति में मध्यकालीन समाज-व्यवस्था एवं राज-व्यवस्था के रूप-स्वरूप का सांकेतिक तथा प्रतीकात्मक दर्शन-दिग्दर्शन तो होता ही है।

दास के रूप में रह रही स्त्रियाँ मध्यकालीन भारतीय राजतंत्रीय-व्यवस्था का हिस्सा हों या फिर मजदूर एवं दासों के रूप में अंग्रेजों द्वारा दूर देश ले जाए गए प्रवासी भारतीय स्त्री-पुरुष, दोनों की नियति एक ही है। स्त्रियाँ हमेशा से उपेक्षित रहीं। मंथरा के साथ तो और भी दूसरी बात है एक तो वह नारी, दूसरे दासी। दोहरे अभिशाप से अभिशप्त। फिर भी किसी दूसरे परिवार, समाज तथा राष्ट्र के निर्माण-नवनिर्माण में स्त्रियों की भूमिका अहम् रही है। रामानारायण की कविता ‘हाँ, मैं मंथरा हूँ’-स्त्री-विमर्श से संबंधित सशक्त प्रवासी कविता है, जिसमें स्त्री-शक्ति के नाकारात्मक स्वरूप में छुपे लोक निर्माणकारी शक्ति की पहचान की गई है। जिसके कारण मंथरा का चरित्र उपहास, घृणा, लांक्षणा से मुक्त हो स्नेह एवं प्रेरणादायी बन गई है। मंथरा अपने पक्ष में अकाट्य तर्क देती है जिसका आधार हिन्दू पुराणकथा आधारित प्रसंग विविधा प्रसंग हैं। वह गर्व से कहती है-

“हाँ, मैं मंथरा हूँ। / कलकित और घृणा के सागर में डूबी
मानस की उपहसित पात्र / कुरूप, कुबड़ी और कुमति
जैसे विशेषणों से विभूषित / ताड़न की अधिकारी नारी पात्र।
‘हाँ, मैं मंथरा हूँ। / हाँ मंथरा कि जिसने
कैकेयी के श्रीमुख से / सरस्वती को हटा दिया
प्रेयसी के रूप जाल में फंसे दशरथ को / पुत्र-विछोह की आग में जला दिया
कौशल्या, सुमित्र और कैकेयी की मांग को / चिंता के अंगारों से सजा दिया।”

लेकिन इस अमंगल एवं विध्वंसक स्वरूप के पीछे उसका लोकमंगलकारी रूप भी है जिसकी वह स्वयं बोध कराती है-

“मैं न होती तो बतलाओ / कौन जानता राम को / दसरथ के पुत्र भरत
रह गए होते इतिहास में। / हाँ, मैंने ही सीतापति राम को
मनुष्य के लघुतम रूप से खींच / पहुँचाया परमात्मा की परम पराकाष्ठा पर।”

और इस प्रकार वर्तमान समाज के सामने यह प्रश्न करती है कि

“अब बता सकते हो? / पहचान सकते हो? / कौन हूँ मैं?”

घृणा के सागर में डुबोई / कलंकित, उपहसित ताड़न की अधिकारी नारी मंथराया
कि फिर; रामत्व की निर्मात्री / अहिल्या की उद्धारक / केवट का अहोभाग्य
शबरी का जीवन स्वप्न / जटायु की मुक्ति दात्री।”

तार्किक-चिंतन के आलोक में रचित रामनारायण की कविता स्त्री-विमर्श की शशक्त कविता है, स्त्री-अस्मिता की तलाश और पर्दाफास की कविता है।

भाषा एवं शैली गत विचार :

विगत डेढ़ सौ वर्षों में विविध भाषिक शैलियों फीजी, सूरीनाम, दक्षिण-अफ्रीका जैसे देशों में प्रवासी भारतीयों के कारण, जो मूलतः अवध एवं भोजपुर क्षेत्रों से हैं, विकसित हुई हैं। परिनिष्ठित हिन्दी में लिखी गई कविताओं में व्याकरणगत अशुद्धियाँ, साहित्यिक कलात्मकता का अभाव, छंदगत व्यतिक्रम दिखता है लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि परिनिष्ठित हिन्दी उनकी अपनी भाषा नहीं है। यह उनकी सायास सीखी हुई दूर देश की भाषा है जिसे भारत के प्रति आत्मिक लगाव के कारण उन्होंने सीखा है। अतः प्रवासी भारतीय लेखन को हिन्दी साहित्यिक जगत में मान्यता मिले, हमें, हम भारतीयों को भी उनके लेखन की विस्तृति के लिए सहयोग की अपेक्षा है।

स्थापनाएँ :

भारत से हजारों मील दूर देश में रची जाने वाली रचनाएँ प्रवासी भारतीयों की संघर्ष कथा के साहित्यिक दस्तावेज हैं जिनका ऐतिहासिक, भाषाई और समाजशास्त्रीय महत्व तो है ही ये रचनाएँ हिन्दी के विश्वव्यापी स्वरूप का परिचय देने वाली रचनाएँ भी हैं। विगत दो सौ वर्षों के दौरान देश (भारत) से बाहर गए-बसे गिरमिटिया मजदूरों ने नव्यतम समाज-व्यवस्था को अंगीकार तो किया, लेकिन उनके अन्दर आज भी अपने देश एवं देश की माटी, बोली तथा भाषा के प्रति उतना ही प्रेम एवं उतना ही लगाव है। प्रवासी कवियों की काव्य-संवेदना द्विधाग्रस्त कवि की द्विधविभक्त संवेदना है जहाँ एक ओर प्रवास में जहाँ व्यक्ति के मन में एक ओर नई जगह जाने का उत्साह है चुनौति है, नई आशाएँ और कामनाएँ हैं वहीं उसी ओर विछोह की आशंकाएँ। इन्हीं भावों में प्रवासी कवियों का मन डूबता-उतरता प्रवास का निश्चय करता है।



गोपाल सिंह नेपाली की राष्ट्रीय चेतना : स्वरूप और वैशिष्ट्य

□ आर्य सिंधु

“जिसको न निज गौरव तथा निज देश का
अभिमान है वह नर नहीं नरपशु निरा है,
और मृतक समान है।”¹

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की ये पंक्तियाँ हमेशा लोगों को अपने देश के प्रति सजग और समर्पित होने की प्रेरणा देती हैं। सचमुच वही सच्चा देशभक्त हो सकता है, जिसमें राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी होती है, जिन्हें अपने देश की मिट्टी, सभ्यता और संस्कृति से लगाव होता है। राष्ट्रीयता एक अक्षुण्ण, अभेद्य और अजेय भाव है, जिसका आधार राष्ट्र होता है। इतिहास साक्षी है कि जब किसी राष्ट्र की राष्ट्रीयता पर आँच आती है, राष्ट्रवासी उसका प्रतिकार करने को उठ खड़े होते हैं। यह एक प्रकार की आत्मचेतना है और इसे ही राष्ट्रचेतना कहते हैं। यहे अन्तः सलिला की तरह जनगण के मन-प्राण में निरंतर प्रवाहित होती है। कवि-मनीषियों ने इसी राष्ट्र-चेतना को निरंतर मुखरित कर जनमानस को निरंतर उद्वेलित किया है। छायावादोत्तर काल के कवियों में शुमार गोपाल सिंह नेपाली भी एक ऐसे देशभक्त कवि हुए हैं, जिन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से लोगों में राष्ट्रीयता की लहर जगा दी-

“हुआ देश खातिर जनम हैं हमारा
कि कवि हूँ तड़पना करम है हमारा
कि कमजोर पाकर मिटा दे ना कोई
इसी से जगाना धरम है हमारा।”²

नेपाली ने अपनी काव्य-यात्रा 1926 में तब शुरू की थी जब महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक, सुभाष चन्द्रबोस, भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, अशफाकुल्ला ख़ाँ इत्यादि के नेतृत्व में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन लोगों को देश के लिए मर-मिटने के लिए प्रेरित कर रहा था। तत्कालीन अंग्रेज शासक उस आंदोलन को कुचलने के लिए हर तरह के प्रयास कर रहे थे। दमन के अलावा वे देश की एकता को जाति, वर्ण, संप्रदाय, भाषा क्षेत्र आदि के आधार पर खंडित कर आंदोलन को कमजोर करना चाहते थे। नेपाली ने देश को कमजोर करनेवाली बातों को परखा। वे गुलामी की पीड़ा, अपमान और विवशता को भलीभाँति जानने लगे। इसलिए देश के स्वतंत्र होने के बाद भी वे देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए उन बातों के प्रति हमेशा सजग रहने लगे, जिनसे देश कमजोर होता है। देश की एकता को बनाए रखना ही देश को सशक्त करने का एकमात्र उपाय है। इसलिए उन्होंने लिखा -

‘एक देश, एक राष्ट्र, एक राष्ट्रभाषा,

एकता स्वतंत्र देश की ज्वलन्त आषा,
लाख अंधकार धिरे, दामिनी प्रचंड गिरे,
एकता अखंड रहे तो सदैव भाग्य फिरे।³

इस प्रकार नेपाली ने अपने गीतों के माध्यम से शुरू में ही यह संकेत दे दिया था कि वे सच्चे अर्थों में देश के 'वन मैन आर्मी' हैं। युद्ध सिर्फ सीमा पर ही नहीं लड़ा जाता है। असली युद्ध तो देश के आंतरिक मोर्चों पर भी लड़ा जाता है, जहाँ सैनिकों और देशवासियों का मनोबल बढ़ाने और बनाए रखने के यत्न किए जाते हैं। यह काम तो एक भारत माँ का सच्चा सपूत ही कर सकता है। नेपाली में ये भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी।

राष्ट्र के कुछ आवश्यक, अनिवार्य व महत्वपूर्ण तत्व होते हैं- राष्ट्रभूमि, राष्ट्रीय सभ्यता, संस्कृति, समष्टिजनमानस, शासन की संप्रभुता आदि। नेपाली ने इन सभी को अपने काव्य का प्रसाद दिया है। उनकी रचना का एक सबल केन्द्र है- राष्ट्र, उसकी स्वतंत्रता, उसकी समृद्धि और उसकी अस्मिता। नेपाली की इस राष्ट्रीय चेतना में मुक्ति की आकांक्षा है, प्रगति की अभिलाषा है, सुरक्षा की चिन्ता है तथा इसके एक एक कण से गहरी आत्मीयता भी।

नेपाली ने उमंग, रागिनी, पंचमी, नीलिमा, हिमालय ने पुकारा तथा कई अन्य अप्रकाशित रचनाओं के जरिए देश की मिट्टी के प्रति अपनी अटूट आस्था एवं समर्पण दिखाया है। देश का कण-कण उनके लिए महान, प्रिय एवं पवित्र है। देश की माटी में ही उनका अस्तित्व रचा-बसा है-

‘मैं इसी देश की मिट्टी का पुतला
इसको जिसने कुचला, मुझको कुचला’⁴

देश को समर्पित उनकी कविताएँ कई प्रकार की हैं। कुछ कविताओं में राष्ट्र के प्रति उनका अटूट प्रेम झलकता है। दूसरी तरह की कविताओं में उन्होंने अपने राष्ट्र की उन्नति के लिए कुछ कर गुजरने की प्रेरणा दी है। बाकी कविताएँ राष्ट्र पर आए हुए संकटों के समय देशवासियों को उसकी रक्षा के लिए प्रेरित करती हैं। उत्कट देशप्रेम की भावना तथा भारत की मिट्टी की सौंधी महक उनके मन-प्राणों में हमेशा स्फूर्ति प्रदान करती है उनके रोम-रोम से एक ही पुकार प्रस्फुटित होती है -

‘हृदय रहा अधार हृदय का पत्थर भी दिलदार रहे
खिसक पड़ें कड़ियाँ बंधन की लगा नेह का तार रहे।
सेवा का व्रत लेकर विचरूँ जग के कोने-कोने में,
मैं न रहूँ न सही, पर मेरा भारत गुलजार रहे।’⁵

अपने राष्ट्र को संबोधित करते समय कवि की दृष्टि में भारतवर्ष के संपूर्ण मानचित्र सामने उपस्थित रहता है। इसलिए तो भारत के उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम सभी ओर कवि की दृष्टि जाती है। राष्ट्र को एक केन्द्र में रख कर उसके चारों ओर विखरे प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्र खींचते हुए कवि का हृदय कह उठता है-

‘सागर जननी की दो बाँहों पर मणिबंध बना है
आँगन पर रवि-शशि-तारों का विमल वितान तना है
हिमकिरीट डाले मस्तक पर प्रहरी है कैलास
नीचे समतल पर, तरू मरू पर कोटी-कोटी का वास
दुनियाँ में जिस राष्ट्र वृक्ष को गंगा का जल सींचे

धूलि-धूसरित जिसके पद पर सागर निचे उलीचे।⁶

भारतभूमि के सौन्दर्य में नेपाली का हिमालय के प्रति विशेष मोह प्रकट होता है। उनके संपूर्ण काव्य-संसार के केन्द्र में उनका अपना प्यारा देश, देश का गौरव पर्वतराज हिमालय, देश में दूर-दूर तक फैली प्रकृति की मनोरम छटा तथा देश के लोगों के बीच अपना प्रेम बाँटने की उत्कृष्ट अभिलाषा ही है-

‘गिरिराज हिमालय मेरा है प्रहरी
प्रेमांजलि मेरी सागर की लहरी
मेरी मधुर उमंगे वन की कलियाँ
दे ग्राम नगर मेरी जीवन गलियाँ
मैं इसी देश की मिट्टी का पुतला
इसको जिसने कुचला, मुझको कुचला
मेरी स्नेहमयी आँखों को देखो
श्यामल यमुना का निर्मल जल छलका
मैं पथिक सदा प्यासा गंगाजल का।⁷

हिमालय के प्रति इतना मोह और सम्मान कवि के रूधिर में ही घुला-मिला था। उनके पूर्वज नेपाल में हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र में ही जनमें थे। उनका अपना जन्म हिमालय की तराई में अवस्थित कभी चंपक वन के रूप में प्रसिद्ध रहे चम्पारण में हुआ था। तभी तो उन्होंने लिखा-

‘गिरिराज हिमालय से भारत का कुछ ऐसा ही नाता है
चालीस करोड़ों का जल्था, गिर-गिर कर भी उठ जाता है
इतनी उँची इसकी चोटी कि सकल धरती का ताज यही
पर्वत-पहाड़ से भरी धरा पर केवल पर्वतराज यही
अम्बर में सिर,पाताल चरन
मन इसकी गंगा का बचपन
तन वरन- वरन, मुख निरावरन
उसकी छाया में जो भी है, वह मस्तक नहीं झुकाता है।⁸

नेपाली के अनुसार देश की सुरक्षा की दृष्टि से हिमालय की पहरेदारी, उसकी महत्ता का स्मरण तथा उनकी भव्यता के प्रति भारतवासियों के मन में आदर का भाव उत्पन्न करते रहना अत्यंत आवश्यक है। कवि का स्पष्ट विचार है कि भारत की सीमा पर अवस्थित हिमालय पर किसी अन्य का दावा भौगोलिक ही नहीं, आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि से भी गलत है-

‘जो शिव का पुजारी है, शिवालय है उसी का
जो हिन्द में जन्मा है, हिमालय है उसी का।⁹

कहा जाता है कि भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है। जिसकी सत्तर प्रतिशत जनता गाँवों में निवास करती हो, उस देश का राष्ट्रीय कवि भला गाँवों की खुशबू से दूर कैसे रह सकता है। गाँव में भूखा-सूखा होने के बावजूद उन्हें शहरों की तुलना में गाँव कहीं अधिक जीवनदायी प्रतीत होता है। इसलिए तो ‘उमंग’ में ‘देहात’ शीर्षक कविता में नेपाली को अपना गाँव सब तीर्थों का तीर्थ प्रतीत होता है-

‘यही है जग का न्यारा देश, देश का यही प्रान्त वीरान,
यही है दलितों का संसार, यहीं पर रहते हैं भगवान
फूल का यही बसा घर-बार ? प्रकृति का यही सदन अभिराम
यही है सब तीर्थों का तीर्थ, यही पर नर देवों का धाम।’¹⁰

गाँव से प्रेम करनेवाला यह कवि समाज में बदलता राजनीतिक परिदृश्य के कारण गाँवों की
दुरवस्था पर आँसू भी बहाता है -

‘सुलग-सुलग कर पूरी भटी गंगा यमुना की रेती,
देश दहन के ऐसे दिन ये, किसे सूझती है खेती।’¹¹

नेपाली गाँधी जी से पूरी तरह प्रभावित थे। यह वह समय था, जब महात्मा गाँधी राष्ट्रनायक
के रूप में सर्वमान्य हो गए थे। उन्होंने लिखा -

‘शाही महलों तक कुटियों से तुझे हमारा ध्यान रहा
मोहन पर कुर्बान बराबर सारा हिन्दुस्तान रहा
उजलों के काले दिल पर तूने सच्चा नक्षा खींचा
उजड़ा लंकाशायर अपने गीले आँसू से सींचा।’¹²

उन्होंने यह भी लिखा-

“क्या छोटा सा गाँव और क्या वह दिल्ली रजधानी है
उस बूढ़े गाँधी की बातें आज सभी ने मानी है
गाँधी के दृढ़तप की कीमत जनता ने पहचानी है
कुर्बानी के लिए खड़े सब क्या मूरख क्या ज्ञानी हैं
गाँधी की यह आँधी चलती चाल बड़ी तूफानी है।”¹³

नेपाली जब अपनी रचना लिख रहे थे, उस समय भारतीय राजनीति के केन्द्र में गाँधी और नेहरू
छाए हुए थे। यही कारण था कि नेपाली भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। लेकिन जब देश
पर इतना जुर्म हो रहा हो, तो भला नेपाली चुप कैसे बैठते। इसलिए गाँधी की अहिंसा और स्वतंत्रता के
बाद नेहरू का पंचशील उन्हें प्रिय नहीं लगा। इसलिए नेपाली ने जोर देकर कहा -

“ओ राही! दिल्ली जाना तो, कहना अपनी सरकार से
चर्खा चलता है हाथों से, शासन चलता तलवार से
यह राम-कृष्ण की जन्मभूमि! पावन धरती सीताओं की
फिर कमी रही कब भारत में, सभ्यता-शांति-सद्भावों की
पर नये पड़ोसी कुछ ऐसे, पागल हो रहे सिवाने पर
इस पार चराते गौएँ हम, गोली चलती उस पार से
ओ राही ! दिल्ली जाना तो कहना अपनी सरकार से
तुम उड़ा कबूतर अम्बर में, संदेश शांति का देते हो
चिट्ठी लिखकर रह जाते हो, जब कुछ गड़बड़ सुन लेते हो
वक्तव्य लिखो कि विरोध करो, यह भी कागज वह भी कागज
कब नाव राष्ट्र की पार लगी, यों कागज की पतवार से
ओ राही! दिल्ली जाना तो, कहना अपनी सरकार से।”¹⁴

नेपाली राष्ट्र की मुक्ति और विकास के लिए युवक-युवतियों का भाई-बहनों के रूप में आह्वान करते हैं। भाई-बहन कवि की अत्यन्त ही प्रसिद्ध कविता है, जिसमें जागरण को एक नया स्वर दिया गया है। उन्होंने लिखा है -

“तू चिनगारी बनकर उड़ री, जाग-जाग मैं ज्वाल बनूँ
तू बन जा हहराती गंगा, मै झेलम बेहाल बनूँ।
आज बसंती चोला तेरा, मै भी सज लूँ लाल बनूँ
तू भागिनी बन क्रांति कराली, मै भाई विकराल बनूँ।”¹⁵

नेपाली के देश प्रेम में एक आह्वान है जो न केवल पुरुष बल्कि नारियों को भी स्वतंत्रता समर में कूदने के लिए उद्वेलित करता है। वे भले ही अहिंसक क्रांति के समर्थक रहे हों, लेकिन देश की मुक्ति के लिए गर्दन कटा देने में उन्हें कोई संकोच नहीं है -

“है अपूर्व यह युद्ध हमारा, हिंसा की न लड़ाई है
नंगी छाती की तोपों के ऊपर विकट चढ़ाई है
तलवारों की धार मोड़ने गर्दन आगे आई है
मर मिटने में ही होता है मान यहाँ बलवानों का
ऐसी-वैसी यह न लड़ाई महासमर मरदानों का
जिसमें अंत नहीं आहुति का, प्राणों के बलिदानों का।”¹⁶

गुलामी की पीड़ा कवि को चैन से सोने नहीं देती। गुलाम भारत की दुरवस्था का चित्र खींचकर कवि लोगों को दिखाना चाहता है कि आज हमारे देश की कैसी स्थिति हो गई है ताकि देशवासियों की सवेदना जाग जाए -

“मानचित्र भारत का अंकित कृषकों की कृश काया में
सब रहस्य है छिपा हमारी इस निद्रा की माया में
जाकर देखो, कैसे कटता सूत प्रेम का विमल-विमल
पूने में, यरबदा जेल में, तरू रसाल की छाया में।”¹⁷

नेपाली की कृति ‘उमंग’ में भी कई ऐसी कविताएँ हैं जिनमें स्वतंत्रता की ओर देशवासियों को अग्रसर करने का रचनात्मक प्रयत्न है और इस प्रयत्न में नेपाली का देश-प्रेम पूरी तरह व्यक्त हो रहा है-

“आज यहाँ का बच्चा-बच्चा पिटने का अभिमानी है
देश दंग है देख-देखकर, यह कैसी कुर्बानी है
न्योछावर आजादी पर युवकों की मस्त जवानी है
बूढ़ों की अब जीर्ण जरा भी पगली है, दीवानी है
अब स्वतंत्र होने की भारत के कण-कण ने ठानी है
आज कही जाती दुनिया में घर-घर यही कहानी है
अब स्वतंत्रता की कीमत इस भारत ने पहचानी है।”¹⁸

अपने ‘नवीन’ काव्य संग्रह में कवि ने तो मनुष्य की स्वतंत्रता के लिए एक नवीन कल्पना कर उसे हकीकत में बदलने की कोशिश की है। वे पूछते हैं कि जब सृष्टि की हर वस्तु पर्वत नदियाँ आदि स्वतंत्र हैं तो मनुष्य क्यों परतंत्र रहे -

“आकाश है स्वतंत्र, है स्वतंत्र मेखला
यह श्रृंग भी स्वतंत्र ही खड़ा, बना ढला
है जल प्रपात काटता सदैव श्रृंखला।
आनन्द शोक जन्म और मृत्यु के लिए
तुम योजना करो, स्वतंत्र योजना करो।”¹⁹

इसी संग्रह की एक कविता ‘भारतमाता’ राष्ट्र को संबोधित नेपाली की श्रेष्ठ कविताओं में से एक है। यह कविता कवि की अपार देशभक्ति को दर्शाती है-

“गंगा लेकर चली अर्घ्य जल, यमुना लेकर फूल
सागर लाने चला उमड़कर कर जननी की पदधूल
दीप लिये गंडकी पधारी, पद्या गाती वंदन
भारत माता के आँगन में आज जननि पद पूज”²⁰

‘पंचमी’ काव्य-संग्रह में संकलित ‘विशाल भारत’ शीर्षक कविता में भी कवि ने भारतवासियों और भारतमाता का सुंदर चित्र खींचा है -

“भारतवासी
जहाँ कोटि जन
जिनका जीवन
जिनका यौवन
जिनका तन मन
सब न्योछावर
स्वतंत्रता पर
बैठे घर पर
दिए जलाकर
वन्दन करते हैं, वृद्ध बाल
भार अखण्ड, भारत विशाल।”²¹

आजादी मिलने के बाद 1948 में भारत से तुरंत अलग हुए पाकिस्तान ने जब देश की उदारता और सदाशयता को कमजोरी समझकर भारत पर हमला कर दिया, तब नेपाली ने जोर देकर यह कहा-

“जंजीर टूटती न कभी अश्रुधर से,
दुख-दर्द दूर भागते नहीं दुलार से,
हटती न दासता, पुकार से गुहार से।”²²

नेपाली की अपार देशभक्ति की पराकाष्ठा उनकी अंतिम कृति - ‘हिमालय ने पुकारा’ में देखने को मिलती है। 1962 में जब चीन ने पंचशील की शपथ को निर्ममता के साथ तोड़ते हुए भारत पर आक्रमण कर दिया, तब नेपाली ने स्वयं को ‘वन मेन आर्मी’ घोषित करते हुए नगर-नगर और गाँव-गाँव में घूमकर-घूमकर लोगों को जगाना शुरू कर दिया-

“शंकर की पुरी, चीन ने सेना को उतारा
चालीस करोड़ों को हिमालय ने पुकारा

हो जाये पराधीन नहीं गंग की धारा
गंगा के किनारों को शिवालय ने पुकारा।”²³

हिमालय की इस पुकार को सुनने के लिए हजारों की भीड़ उमड़ पड़ती थी। उन दिनों दूरदर्शन नहीं था, आज की तरह के श्रव्य-दृश्य उपकरण नहीं थे और न आज जैसी संचार क्रांति ही हुई थी। लेकिन देश के एक कोने से दूसरे कोने तक घुमते हुए कवि ने ‘हिमालय ने पुकारा’ को जन-जन का गीत बनाने में अपार सफलता प्राप्त की। एक सैनिक पिता का बेटा उसकी विरासत को कवि होते हुए भी एक सैनिक के भाव से ही ढो रहा था। देश की सुरक्षा के प्रति सावधान और सचेष्ट कर रहा था-

“भूला है पड़ोसी तो उसे प्यार से कह दो,
लम्पट है, लुटेरा है तो ललकार के कह दो
जो मुँह से कहा है, वही तलवार से कह दो
आये न कोई लूटने भारत को दुबारा।
चालीस करोड़ों को हिमालय ने पुकारा।”²⁴

शासन की भूल का शमन जनता अपने दृढ़ आत्मविश्वास, साहस और देश के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देने का भाव प्रदर्शित करके ही कर सकती थी। इस काम के लिए नेपाली जैसा आम जन कवि ही लोगों की समझ में आ सकने वाली भाषा में उसे उद्बलित कर सकता था। राष्ट्र की अस्मिता के इस उनमुक्त गायक ने जिसके मन में राष्ट्र के प्रति प्रेम, आर्कषण और असीम भक्ति थी, भारतवर्ष की महानता के प्रति भारतवासियों के हृदय में श्रद्धा का अपूर्व भाव भर दिया-

“हटा है जो रण से, जन्म वह गँवाता है
आजादी है तो फिर, स्वर्ग यही धरती है
जो रण से डरती है, जाती वही मरती है
लड़ने से राष्ट्रों की आत्मा निखरती है
तलवारों के बल पर, जिन्दगी उभरती है
युद्धों से जीवन की रागिनी सँवरती है
मर्द की हथेली पर, चाँदनी उतरती है।”²⁵

इस प्रकार नेपाली ने अपना संपूर्ण काव्य व जीवन राष्ट्र-देवता के पावन चरणों में समर्पित कर दिया है।

संदर्भ:

1. प्रभात खबर, दैनिक पत्र, दिनांक- 14.08.13 /02
2. गोपाल सिंह नेपाली- समग्र- 1/सम्पादिका-सविता सिंह नेपाली /457
3. वही/523
4. वही/394
5. वही/131
6. वही/409
7. वही/394
8. वही/476

9. वही/480
10. वही/107
11. वही/159
12. वही/122
13. वही/129
14. वही/514
15. वही/180
16. वही/121
17. वही/126
18. वही/129
19. वही/373
20. वही/408
21. वही/211/212
22. वही/496
23. वही/473
24. वही/474
25. वही/527



‘महुआचरित’ : एक बीता हुआ कल

□ कृष्णा सिंह

वरिष्ठ कथाकार काशीनाथ सिंह का लघु उपन्यास है, ‘महुआचरित’। इस उपन्यास में काशीनाथ सिंह ने कुछ नया करने की कोशिश की है। बहुत सारे लोगों को शायद यह उपन्यास पसन्द न भी आया हो, मगर यह एक प्रयोग तो निश्चित तौर पर है ही। कविता की शैली में उपन्यास लिखने का नया प्रयोग। पुराने उपन्यासों के शिल्प से थोड़ा अलग हटकर यह उपन्यास एक नई दिशा की ओर संकेत करता है।

काशीनाथ सिंह ने अपने अन्य कथाओं की तरह ही इस उपन्यास (महुआचरित) में भी मध्यवर्गीय जीवन कहे मध्यवर्गीय परिवार को ही दिखाया है। काशीनाथ जी के उपन्यासों की खासियत उनके शीर्षक पर ही टिकी रहती है, क्योंकि कहीं न कहीं शीर्षक की खोज या शीर्षक के इर्द-गिर्द ही उनका उपन्यास घूमता रहता है। इससे अलग वे कहीं भटकते नहीं हैं। जैसे ‘काशी का अस्सी’ उपन्यास में ‘अस्सी’ ‘रेहन पर रघू’ उपन्यास में ‘रघू’ तथा ‘महुआचरित’ उपन्यास में ‘महुआ’ के आस-पास उपन्यास घूमती दिखाई देती है।

हर एक व्यक्ति के जीवनकाल में चाहे स्त्री हो या पुरुष, एक बीता हुआ कल या बीती हुई यादें जरूर रहती हैं। इस उपन्यास में पुरुष समाज की सोच और स्त्री की इच्छा दिखाई गई है। ‘महुआ’ इस उपन्यास की मुख्य पात्र है, 29 साल की उम्र होने के बाद भी उसकी शादी नहीं हो पाती है, जिसके कारण उसके जीवन में अकेलेपन की घटाएँ छाई रहती हैं। बुजुर्ग पिता हमेशा कहते रहते हैं कि बाहर निकलो थोड़ा घूमो-फिरो और खुश रहो, लेकिन महुआ के जितने भी दोस्त थे लगभग सभी की शादी हो चुकी है, इसलिए वह उनसे बातें करना भी बंद कर देती है क्योंकि वे सभी अपनी शादी, हनीमून, परिवार, बच्चे आदि की बातें करते रहते हैं जो महुआ के दिल को कचोटता रहता है। प्यार करने का मौका मिला तो था कॉलेज की जिन्दगी में, लेकिन उसने उसे नकार दिया था – “जब तक मैंने पढ़ाई खत्म नहीं कर ली तब तक प्यार की अहमियत मेरे लिए ‘फुटनोट’ से ज्यादा नहीं थी”। इन दोनों हर्षुल नाम का एक लड़का उसका दीवाना था, लेकिन महुआ ने उसके प्यार को कभी अहमियत नहीं दी।

महुआ अपने जीवन से, घर की माली हालात से और अपने करियर से बहुत चिंतित रहती है, एक दिन शाम को वह अपने घर के छत पर गई। इस उपन्यास में देखा जाए तो उस शाम उसके छत पर जाना ही उसके जीवन में एक ‘टर्निंग पॉइंट’ साबित हुआ। “एक अबूझ सिम्फनी थी जो मेरे भीतर गूंजती रहती थी। देखते-देखते यह छत मेरी सहेली बन गई।”² उस समय उसको अहसास हुआ कि उसका भी देह है और उसकी भी कुछ जरूरतें होती हैं। महुआ एक आम परिवार की लड़की है।

उसकी सोच भी एक आम लड़की की तरह है। आज के समय में एक आम लड़की की सोच में भी प्यार है, वह अपने प्यार को जगह-जगह खोजती भी है, ठीक उसी प्रकार 'महुआ' भी अपने प्यार को खोजती है, लेकिन वह अपने ईमान से ही प्रेम करती है। इसलिए तो वह सोचती है कि "यह अजीब सी बात है कि जो मुझ पर आसक्त होते थे, उन्हें मैं बच्चा समझती थी और जिन पर मैं आकृष्ट होती थी, वे मुझे बच्ची समझते थे। यह कौन सा मनोविज्ञान है ?"³

एक दिन जब शाम को 'महुआ' अपनी सहेली (छत) के पास गई तो उसे कुछ आवाजें सुनाई दी, गुनगुनाने की। यह आवाज थी एक मनोविज्ञान के लेक्चरर की, जो उसका पड़ोसी और नया किराएदार था। महुआ के पापा अपने पड़ोसी से नाराज इसलिए ज्यादा नहीं थे कि वह मुसलमान है, ज्यादा नाराजगी इसलिए थी कि उसके रहन-सहन खान-पान आदि में मुसलमान होने का भाव नहीं दिखता था - "घर में बरमूडा पहनता था और उसके बच्चे मदरसा में नहीं, सेंट जोसेफ में पढ़ते थे।"⁴ उसका नाम साजिद, दो बच्चों का पिता भी था। 'महुआ' और साजिद की चंद मुलाकातों के बाद ही दोनों में जिस्मानी सम्बन्ध भी बन जाते हैं। मुलाकात तो छत पे ही हुई, लेकिन सम्बन्ध हैदराबाद में बना। 'महुआ' हैदराबाद घर से झूठ बोल कर चली तो जाती है लेकिन कहीं न कहीं भयग्रस्त भी थी। मन में तरह-तरह की बातें आती हैं। उसे लगता है कि कहीं उसके मम्मी-पापा थाने में गुमशुदकी की रिपोर्ट न लिखा दें ? बहुत डरी हुई भी थी। डर इसलिए कि कहीं अखबारों में यह समाचार आ गया कि एक हिन्दू लड़की को एक मुसलमान लड़का भगा कर ले गया। अगर ऐसा हुआ तो फिर शहर में दंगे को कोई रोक नहीं सकता। 'महुआ' का मन दुविधा में भी है। दुविधा इसलिए की वह साजिद को ठीक से जानती भी नहीं है कि वह कैसा आदमी है ? ऐसा जरूरी भी तो नहीं है कि जो ऊपर से अच्छा दीखता है वह अन्दर से भी उतना ही अच्छा होगा। ऐसे ही ढेर सारी दुविधाएँ उनके मन में चल रही हैं - " लड़की यह तुम्हारा भ्रम है। तुम इसमें फड़फड़ा सकती हो, उड़ नहीं सकती छ जिन दीवारों में तुम घिरी हो, उन्हें सिर्फ हथौड़े ही थोड़ सकते हैं और यह तो सिर्फ सेंध है।"⁵ साजिद को महुआ अपना प्यार न ही कभी मानती थी और न ही मानती है - " साजिद मेरा प्यार नहीं था, एक सम्मोहन था। सिर्फ सम्मोहन। मैं उसके गले और आवाज की दीवानी थी।"⁶ महुआ को 'कोई' की जरूरत थी और ये 'कोई' ही साजिद था, इससे ज्यादा कुछ नहीं।

'महुआ' के लिए तो साजिद एक माध्यम ही है जो उसके जीवन के कुछ अनछुए पल की ओर ले जाता है। कुछ दिनों के बाद 'महुआ' गर्भवती हो जाती है उसको कुछ भी समझ नहीं आ रहा है अब क्या करे ? क्या होगा ? उसके मन में लगातार कुछ बातें घूम रही होती है कि 'कुंवारी माँ' और 'बाप मुसलमान'। दूसरे ही पल उसके मन में ये बात भी चल रही होती है कि इस बच्चे को जन्म देकर समाज में एक अलग तरह की मिसाल को पेश किया जाए यह बच्चा सिर्फ 'मनुष्य' होगा, इसकी न ही कोई 'जाति' होगी और न ही कोई 'धर्म'। काफी सोच विचार करने के बाद उसने 'अबॉर्शन कराने का फैसला कर लिया, अपने शहर से दूर, शहर के बाहर एक नर्सिंग होम में बाहरी नर्सिंग होम इसलिए क्योंकि वहाँ किसी परिचित के होने की गुंजाइश नहीं थी।

एक दिन अचानक 'महुआ' के जीवन में उसका पूर्व प्रेमी रहा 'हर्षुल' उसके घर आता है। परिवार के सभी सदस्यों के साथ बैठकर बातचीत करता है और बातों ही बातों में वह कह देता है कि 'महुआ' अगर तुम चाहों तो हम दोनों का विवाह हो जाएगा। हर्षुल की बातें सुनकर महुआ के मम्मी-पापा बहुत खुश होते हैं खुद 'महुआ' भी कहीं न कहीं खुश जरूर होती है। मन ही मन बीते हुए कल और

आज के दिन की तुलना करने लगती है। हो जो भी, लेकिन इतना तो जरूर था कि महुआ को साजिद ने पुरुष को देखने का नजरिया बदल दिया था। उसके मन में लगातार वही बातें चल रही होती कि परसों 'अबार्शन' करने के बाद वह कितनी अकेली हो गई थी और ये आज का दिन, इसे संयोग ही कहे जिसने उसे मेरे घर भेजा है ? खुलासा बाद में होता है कि हर्षुल के जिन्दगी में भी वर्तिका नाम की लड़की थी।

कुछ दिनों के बाद दोनों की शादी हो जाती है। दोनों बहुत खुशी-खुशी रहते; इसी बीच महुआ की मम्मी-पापा की सेहत में गिरावट आनी शुरू हो जाती है, गिरावट इसलिए क्योंकि उन्हें अब किसी बात की चिंता नहीं है और चिन्ता है उनके लिए उन्ही की बेटी 'महुआ', जो उसके विवाह के उपरांत समाप्त हो चुकी है। कहते हैं न कि जब तक मनुष्य के अन्दर चिंता होती है, तभी तक जिन्दगी बनी रहती है, चिंता खत्म तो जिन्दगी भी खत्म। विवाह के बाद 'महुआ' अपने को अपराध बोध से ग्रस्त समझती है जो उसके विवाह के पहले किया था। क्योंकि 'महुआ' अब तक हर्षुल के सत्य को नहीं जानती, किन्तु अपना सत्य तो जानती ही थी कि हर्षुल उसके जीवन का पहला पुरुष नहीं है। ऐसा कहा भी जाता है कि दूसरों के नजर में गिरकर उठना आसान है लेकिन खुद की नजरों में गिरना ये सबसे बड़ा अभिशाप है। उपन्यास में हर्षुल और वर्तिका के बीच संबंध को कहीं न कहीं दिखाया भी गया है। लेकिन महुआ पर उसका अपना अपराध इस कदर हावी था कि वह सब कुछ स्वीकार करने पर मजबूर थी, वह सोचती है कि- "दिल और दलदल एक जैसी होती है। दलदल में पाँव फँस जाय तो बाहर आना मुश्किल, दिल में कोई बात धंस जाय तो निकलनी मुश्किल।" 'महुआ' अपने पति (हर्षुल) से बहुत प्यार करती है, क्योंकि हर्षुल महुआ के लिए दोस्त की तरह है, दोस्त के तरह ही व्यवहार भी करता है।

काशीनाथ सिंह को अपने कथा का अंतिम रूप देने में महारथ हासिल है। 'महुआचरित' उपन्यास का अंत भी निर्णायक ही साबित हुआ। उपन्यास को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि 'महुआ' चरित्रहीन लड़की है, लेकिन मैं ऐसा नहीं मानता। कहीं न कहीं 'उसके बीते हुए कल' को समझना भी जरूरी है। प्रेम करने के समय में वह अपने भविष्य के बारे में सोचती थी और अपनी पढ़ाई-लिखाई पर ज्यादा से ज्यादा ध्यान को केन्द्रित करती है, लेकिन समय एक जैसा नहीं चलता है। ये बात भी 'महुआ' के जीवन को देखकर सार्थक साबित हुआ। जब उसकी जिन्दगी में स्थिरता आ जाती है तब उसके जीवन में खाली पड़े जगहों के बारे में सोचती, कारण कुछ भी हो सकते हैं। हमारे समाज की यह विडम्बना है कि 'महुआ' जैसी लड़की को देखने का पहचानने का ढंग कुछ अलग ही है तथा ऐसी लड़की को न ही कोई अपना अधिकार होता है और न ही समाज में जगह होती है। एक दिन हर्षुल को 'महुआ'-साजिद के संबंधों के बारे में पता चल जाता है तो वह उसे घर से निकाल देता है। अंत में वह हर्षुल से कहती है- "मैंने तुमसे कभी नहीं पूछा कि पिछले तीन साल से ही नहीं, आज भी तुम वर्तिका बनर्जी के साथ क्या कर रहे हो ? क्या कर रहे हो, जानती हूँ लेकिन नहीं पुछूँगी। इतना याद रखना।"⁸ सब कुछ समाप्त होने के बाद भी 'महुआ' अपने भविष्य के प्रति काफी सजग दिखती है, घर से जाते समय गाड़ी के ड्राइवर से कहती है कि "हाँ अब चलो भैया लेकिन आराम से, कोई जल्दी नहीं है।"⁹ अंत में इस संवाद से यह साबित तो हो ही जाता है कि काशीनाथ सिंह कितने वरिष्ठ और मंजे हुए कथाकार हैं, कहीं न कहीं वे कुछ निर्णय हम जैसे पाठकों के ऊपर या समाज के ऊपर छोड़ देते हैं कि वह किसका और कैसे चुनाव करता है ?

सन्दर्भ :

1. काशीनाथ सिंह, महुआचरित, पृष्ठ- 09
2. वही, पृष्ठ - 17
3. वही, पृष्ठ - 18
4. वही, पृष्ठ- 31
5. वही, पृष्ठ-35
6. वही, पृष्ठ- 40
7. वही, पृष्ठ- 78
8. वही, पृष्ठ- 100
9. वही, पृष्ठ- 100



मार्कण्डेय की कहानियों में चित्रित ग्रामीण समाज

□ विजय कुमार चौबे

रचनाकार जिस समाज में जीवन जीता है उस समाज का प्रतिबिम्ब साहित्य में उतरता ही है, फिर चाहे उसकी दृष्टि आदर्शवादी हो या यथार्थवादी। मार्कण्डेय भी इसके अपवाद नहीं है। उन्होंने भी तत्कालीन ग्रामीण समाज का यथार्थ वर्णन अपनी कहानियों में किया है। मार्कण्डेय के कहानी-साहित्य में सम्बन्धों की माला कभी जुड़ती है, कभी टूटती है, कभी बिड़ती है तो कभी संवरती है। ग्राम तो मानवीय एवं पारिवारिक सम्बन्धों की शृंखला की कड़ी है। जिसे सजीव और यथार्थ रूप में मार्कण्डेय ने अपनी कहानियों में अभिव्यक्त किया है।

मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण समाज में स्थित मनवीय संवेदना प्रभूत मात्रा में दृष्टिगत होता है। 'गनेसी' कहानी में गनेसी ग्रामीण की रक्षा करने के लिए जंगली सुअर को मार गिराता है और इसी क्रम में उसकी मृत्यु हो जाती है। यहाँ पर गनेसी की मानवता स्पष्ट परिलक्षित होती है। 'गुलरा के बाबा' कहानी में चौतू बाबा का एक प्रतिद्वंद्वी है। लेकिन जब उसकी टाँग का जोड़ सरक जाता है तब बाबा ही उसकी टाँग का उपचार करते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि वे चौतू की टूटी छान्ह के लिए सरपत भी कटवाते हैं - "बड़े सवरे पलाशों की लाली पर सूरज की किरणें एक-एक कर उतर रही थीं - गुलरा की सरपत में पच्चीस मजदूर लगे थे- कटाई हो रही थी। सुखई ने पुछा, 'क्या होगी सरपत, बाबा ?' चैतुआ की छान्ह टूट गई है रे !' बाबा ने उत्साह से कहा।" 'मुंशी जी' में सरुपिया बिधवा ब्राह्मणी की पुत्री बड़ी हो गई थी।" लेकिन धन के अभाव में कन्या की शादी रुकी हुई थी। और जब सरुपिया मुंशी जी के आगे हाथ पसार कर गिड़गिड़ाने लगती है तो उन्हें दया आ जाती है और वे अपनी पत्नी का सारा जेवर बेचकर बिधवा ब्राह्मणी की पुत्री का कन्यादान करते हैं। यहाँ पर रचनाकार ने मुंशी जी की मानवतावादी भावना का स्पष्ट उदघाटन किया है।

मार्कण्डेय अपनी कहानियों में पारिवारिक संबंधों को तत्कालीन परिवेश के परिप्रेक्ष्य में रूपायित करने में सिद्धहस्त कहानीकार हैं। आधुनिक जीवन शैली व्यक्ति-स्वातंत्र्य, अहंभावना आदि के चलते स्वातंत्र्योत्तर काल में पारिवारिक रिश्तों में परिवर्तन के स्वर ध्वनित हो रहे हैं, जिसे लेखक ने अभिव्यक्त किया है। मार्कण्डेय ने कहानियों में ग्रामीण समाज में स्थित पारिवारिक संबंधों में पति-पत्नी, अभिभावक और संतान, भाई-बहन, सास-बहू आदि रिश्तों को बहुत बारीकी के साथ प्रचुर मात्रा में रेखांकित किया है। "दौने की पतियाँ" कहानी में भोला-गुलाबी के पति-पत्नी संबंध मार्कण्डेय के कहानी साहित्य में सबसे अधिक जीवंत, साक्षात् और आत्मीयता भरे लगते हैं। जब भोला ग्राम के लोगों से तंग आकर ग्राम छोड़ने की बात करता है, तब गुलाबी अपने पति को समझते हुए कहती है- "काहे गाँव छोड़ रहे हो? कहाँ जाओगे इतनी रात ? बनी बनयी गिरहथी है भुल्लू के बाबू, सोच समझ लो ! जहाँ चार जन रहेंगे, कुछ - न - कुछ....., फिर हम नीच जात के हैं.... चाकरी करने वाले का मान-जान कब

हुआ है ! इतनी छोटी-सी बात के लिए गाँव छोड़ रहे हो।”¹² यहाँ पर पति-पत्नी के आपसी रिश्तों में अपनेपन का लगाव दिष्टगोचर होता है। ‘भूदान’ का रामजतन जब खेतों पर से घर लौटता है तब उसकी पत्नी जसवंती चिबोला करते हुए कहती है- “आज ठाकुराइन बड़ी मोहाय गयी थीं क्या। कुछ पेट में भी गया है कि बस इतना ही !कहो, इतनी जून तक करते का रहे वहाँ ? दुनिया में सब लोग हरवायी करते हैं, कि तुम ही?”¹³ इससे ज्ञात होता है कि इन सभी ग्रामीण स्त्रियों में अपने पति के प्रति अटूट प्रेम निहित है। लेकिन मार्कण्डेय की कुछेक कहानियों में नशाखोरी और वासनात्मक कमजोरी के कारण पति-पत्नी के संबंधों में खटास भी दिखाई देती है। इन कहानियों में ‘कल्यानमन’, ‘सोहगइला’, ‘वासवी की माँ’, ‘सात बच्चों की माँ’ आदि प्रमुख हैं।

मार्कण्डेय की कतिपय कहानियों में अभिभावक और संतान के संबंधों का उत्कृष्ट चित्रण हुआ है। इन संबंधों का चित्रण ‘दौने की पत्तियाँ’, ‘बादलों का टुकड़ा’, ‘कल्यानमन’, ‘मुंशी जी’ आदि कहानियों में दृष्टिगत होता है। दौने की पत्तियाँ कहानी को संबंधों की गाथा कहना असंगत नहीं होगा। प्रस्तुत कहानी में भोला को गाँव वाले सताते हैं और इन्हीं परेशानियों से उचट कर वह एक दिन ग्राम छोड़ने की बात सोचता है और अपने पत्नी गुलाबी से कहता है- गुलाबी, अब तो वही रहेंगे, जहाँ चाहे सूखी रोटी ही मिले पर किसी कि गलियाँ न सहनी पड़े। भुल्लू को बचाये रहो !”¹⁴ कहानी में वर्णित अपनी संतान से असीम प्रेम करते हैं। ‘बादलों का टुकड़ा’ में पूरा परिवार आर्थिक तंगी में जी रहा है। इसी समय बेटे कुनाई को ज्वर हो जाता है। इससे माता-पिता चिंतित हो जाते हैं। ज्वर कम नहीं होता है तो जसमा रोते हुए अपने मर्द से कहती है - “दो पैसे की धार-तपावन भी नहीं कि डिह बाबा को चढ़ाकर मनौती करूँ। जाने क्यों नाराज हैं देवता दानी।”¹⁵

मार्कण्डेय ने अपने कहानी-साहित्य में संयुक्त परिवार के विघटन को भी रेखांकित किया है। ‘मन के मोड़’, ‘धूल के घर’, ‘घूरा’ आदि कहानियों में इसका बखूबी चित्रण हुआ है। मानव की अहंभावना, वैयक्तिक महत्वाकांक्षा, धन-संपत्ति और पारिवारिक कलह के कारण वर्तमान समय में परिवार टूट रहे हैं। “परिवार में विघटन की स्थिति तब ही होती है जब सदस्यों में भूमिकाओं को लेकर संघर्ष प्रारंभ हो जाए; जैसे, पति-पत्नी, माता-पिता व बच्चों में सास-बहू में या भाई-भाई में।”¹⁶

‘धूल के घर’ में लेखक ने सांकेतिक रूप से संयुक्त परिवार के विघटन को वर्णित किया है। मनी और राम छोटे चचेरे भाई-बहन हैं। मनी नींबू के पेड़ के नीचे एक धूल का घरौंदा बनाती है और घरौंदे के भीतर परिवार के प्रत्येक सदस्य के लिए अलग-अलग घर बनाती है। “कई दिनों की लगातार मेहनत के बाद यह घरौंदा तैयार हुआ है इसमें चाचा का घर है, दादा का घर है, गुड्डे-गुड्डे का घर है, कक्कू का घर है, पर राम की कोठरी एकदम किनारे एक ओर है।”¹⁷ इसके साथ ही लेखक ने ‘मन के मोड़’ कहानी में टूटे हुए संयुक्त परिवार का चित्रण किया है। “स्वतंत्रता के कारण ही व्यक्ति एक प्रकार से आत्मकेन्द्रित हुआ जिसके कारण संयुक्त परिवार की इकाइयाँ टूटी और छोटे-छोटे परिवार अस्तित्व में आए।”¹⁸

मार्कण्डेय की प्रायः कहानियों में नैतिक-मूल्यों का विघटन दृष्टिगोचर होता है। यह नैतिक मूल्यों का विघटन ‘मुंशीजी’, ‘माई’, ‘धूल का घर’, ‘नौ सौ रूपए और एक ऊँट दाना’, पान-फूल’, ‘सात बच्चों की माँ’ आदि कहानियों में दिखाई देता है। इस संबंध में विवेकी राय लिखते हैं - “ग्रामीण समाज का जितना नैतिक पतन स्वराज के बाद के बीस वर्षों में हुआ उतना 300 वर्षों की अंग्रेजी अमलदारी में नहीं हुआ था।”¹⁹ ‘सात बच्चों की माँ’ कहानी की सन्तो सात बच्चों की माँ होते हुए भी

ग्राम के युवक के साथ निकल जाती है। इससे ग्राम में चारों ओर कोहराम मच जाता है। लोग कहने लगते हैं - “बड़ा बुरा जमाना लग गया है बबुआ। अब तो सात-सात बच्चों की माँ भी नए मनसेधु के साथ भागने लगीं, इस गाँव से।”¹⁰ ‘मुंशी जी’ कहानी में मुंशी जी का बड़ा बेटा मिलिटरी में है। वह छुट्टियों में ग्राम आता है। लड़के के स्वागत में एक दारू लायी जाती है। छोटा बेटा गाँजा लाने के लिए फौरन दुकान जाता है। “बहुत दिनों पर, एक बार फिर चिलम गरम हुई, बाप-बेटे ने एक-दूसरे की ओर देखा और गाँजे के लंबे धुएँ में, दोनों की आँखें तैरने लगीं।”¹¹ एक बकरा लाया जाता है और शाम को भोज का आयोजन होता है, इसी शोर-गुल में छोटा लड़का बड़े लड़के के पैसे चुरा लेता है। घर में जब पैसें को लेकर हलचल मचती है तो पिता कहता है, जाने दो, जो हुआ सो हुआ। कुछ ही समय बाद के बाद चुपके से पिता छोटे लड़के से गबन में हिस्सेदारी मांगता है। यहाँ पर नैतिक दृष्टि से पिता ने अपने दायित्व का निर्वाह नहीं किया। फलतः आज “ग्राम-जीवन में नैतिक-मूल्यों की पकड़ ढीली होती जा रही है।”¹²

ग्राम में ईर्ष्या एवं द्वेष की भावना भी प्रचुर मात्रा में परिलक्षित होती है। इसी ईर्ष्या एवं द्वेष की भावना का जीवंत चित्रण मार्कण्डेय ने ‘बीच के लोग’ और ‘माई’ कहानी में किया है। हरिजन बुझावन के खेत के आलू हरदयाल के लटैत उखाड़ लेते हैं। ‘माई’ में भी मुराई के पूरे खेत के पौधे उखाड़कर एक मोड़ पर रख दिए जाते हैं। ‘घूरा’ कहानी में रुपयों के चलते लंबरदार की बेटे का तिलक रुक जाता है तो घूरा दिलासा देते हुए लंबरदार से कहती है - “कन्या की बात है, बबुआ, जैसे तुम्हारी तैसी हमारी, पर बबुआ... देखो, रात को बताऊँगी...।”¹³ घूरा रात में ही पैसें का इंतजाम करके लंबरदार को दे देती है। कुछ दिनों के बाद घूरा जब लंबरदार से रुपए माँगती है तो वह साफ मुकर जाता है। घूरा गुस्से में कहती है - “यही तुम्हारा दीन-धरम कहता है न, बबुआ ! जाओ समझ लूँगी, लड़की के कन्यादान पर दे दिया, पर तुम्हारी नियत का फल भगवान तुम्हें जरूर देंगे।”¹⁴

मार्कण्डेय प्रगतिशील चेतना के लेखक हैं। अतः वे स्त्री-पुरुष की समानता को भली-भाँति समझते हैं। सामाजिक जीवन में स्त्री और पुरुष दोनों की महत्ता को स्वीकारते हुए स्त्रियों पर होने वाले अन्याय, शोषण और प्रताड़ना का मुखर विरोध करते हैं। मार्कण्डेय उस तथाकथित पुरुष सत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था को स्त्री-शोषण का मूल कारण मानते हैं, जो स्त्री-शोषण को बढ़ावा देती है। साथ ही ग्रामों में व्याप्त अंधविश्वास, अशिक्षा तथा रूढ़िवादी मानसिकता को भी वे उत्तरदायी ठहराते हैं। ग्राम जीवन से संबद्ध होते हुए भी मार्कण्डेय के नारी चरित्र पुरुष सत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध जूझते दिखाई देते हैं; जैसे, ‘कल्यानमन’ की मंगी, ‘सात बच्चों की माँ’ की सन्नो, ‘घूरी’ की घूरा, ‘सवरइया’ की महाराजिन, ‘महुए का पेड़’ की दुखना, ‘सोहगइला’ की रनिया, ‘माई’ की माँ, ‘भूदान’ की जसवंती, ‘बिंदी’ की बिंदी, ‘बादलों का टुकड़ा’ की जसमा, ‘बीच के लोग’ की भक्तिन, संगीत, आँसू और इंसान’ की सोना आदि अनेक ऐसी स्त्रियाँ हैं जो भिन्न-भिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करती हैं, फिर भी शोषण और उत्पीड़न के स्तर पर बराबर हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय ने ग्रामीण समाज के मानवीय एवं पारिवारिक संबंधों का चित्रण बड़े ही सजग और यथार्थपरक दृष्टि से अपनी कहानियों में किया है। व्यक्तिवादिता आत्मकेन्द्रित और स्वार्थलोलुपता के कारण इन कहानियों में संयुक्त परिवार टूटते हुए नजर आते हैं। आजाददी के बाद ग्रामीण नैतिक-मूल्यों में आए हुए परिवर्तनों को रेखांकित करते हुए उन्होंने नारी-समस्या को भी चित्रित किया है।

संदर्भ:

1. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती, इलाहाबाद, संस्करण 2002, पृ. 09.
2. वही, पृ. 200.
3. वही, पृ. 273.
4. वही, पृ. 200.
5. वही, पृ. 476.
6. राम आहूजा, भारतीय सामाजिक व्यवस्था, रावत पब्लिकेशन, जयपुर प्रकाशन, 1995, पृ. 61.
7. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती, इलाहाबाद, 2002, पृ. 268.
8. पुष्पपाल सिंह, समकालीन कहानी : सोच और समाज, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1986, पृ. 12.
9. विवेकी राय, स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और ग्राम जीवन, लोकभारती, इलाहाबाद, 1974, पृ. 84.
10. मार्कण्डेय की कहानियाँ, पृ. 70.
11. वही, पृ. 167.
12. उत्तम भाई पटेल, ऑचलिक उपन्यासों में ग्राम-जीवन, क्वालिटी बुक्स पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, 1999, पृ. 46.
13. मार्कण्डेय की कहानियाँ, पृ. 35.
14. वही, पृ. 36.



मार्कण्डेय की कहानी : हंसा जाई अकेला

□ सुनीता कुमारी साव

प्रेमचंदोत्तर ग्राम्य यथार्थ के प्रस्तोता कहानीकारों में मार्कण्डेय (सन 1930-2010) का विशिष्ट स्थान है। सन 1954 में मार्कण्डेय का पहला कहानी-संग्रह “पान-फूल” प्रकाशित हुआ, जिसमें ग्रामीण समाज के बदले हुए यथार्थ के दर्शन हुए। स्वातंत्र्योत्तर मोहभंग से घिरी हुई ग्राम्य जनता की पीड़ा और संत्रास के वे बड़े पैरवीकार बन गए। उनके कथा परिक्षेत्र में उत्तर-भारत के कृषक एवं मजदूर पड़ते हैं। अपने परवर्ती कहानी-संग्रहों “महुए का पेड़ (1955)”, “हंसा जाई अकेला (1957)”, “भूदान (1958)”, “माही (1962)”, “सहज और शुभ (1964)” तथा “बीच के लोग (1975)” में उन्होंने ग्राम-कथा को महत्त्व देकर लिखा। अपनी कहानियों के माध्यम से मार्कण्डेय ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि आजादी के बाद के माहौल में चालाकी, छल, फरेब, बेईमानी और कलह आदि से लबालब भवसागर में मासूमियत डूब रही थी। यही लोप होती मासूमियत उनकी कहानियों की मुख्य धुरी भी है। विवेच्य कहानी ‘हंसा जाई अकेला’ इसी नाम के कहानी-संग्रह की प्रमुख कहानी है। कहानी की कथावस्तु कथानायक हंसा के इर्द-गिर्द घूमती है, जो निरक्षर तथा भोला-भाला ग्रामीण गवैया है। उसे गाँधीजी की आदर्शवादी नैतिकता एवं स्वाधीनता-संग्राम से अटूट लगाव है। गाँव में चुनाव के सिलसिले में हंसा और सुशीला का परिचय होता है, जो प्रेम में बदल जाता है। चुनाव में हंसा और सुशीला ने मिलकर गाँव में आजादी की लड़ाई को उम्दा बनाने की कोशिश की, जिसके कारण सुशीला को लोग बदनाम करते हैं। बावजूद इसके हंसा अपने गाँधीवादी आदर्शों से पीछे नहीं हटता है। वह चुनाव के शोर में महसूस करता है कि आजादी के इतने वर्षों बाद भी जनता की लड़ाई खत्म नहीं हुई है। अतएव वह रामायण के मंचन में रावण का भेष धारण कर पूरी कथा को बदल देता है तथा रावण की जीत होती है। परंतु इस जीत के साथ ही हंसा को एक सदमा लगता है जब निमोनिया के कारण सुशीला जी की मृत्यु हो जाती है। तत्पश्चात उसके प्यार का संसार सुनसान हो जाता है और वह विक्षिप्त सा हो जाता है। इस प्रकार विवेच्य कहानी प्रेमकथा के माध्यम से स्वतन्त्रता प्राप्ति की विसंगतियों की ओर संकेत करती है।

यह कहानी एक कबीरपंथी गीत को आधार बनाकर लिखी गयी एक ऐसी कहानी है जिसमें कथानायक हंसा का अकेलापन एक सामाजिक यथार्थ के रूप में दृष्टिगोचर होता है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जो पात्र समाज में उपेक्षित या हास्य के पात्र होते हैं, वे लेखकों को प्रिय भी रहे हैं। दरअसल ऐसे पात्रों के माध्यम से ही रचनाकार समाज की विसंगतियों को पाठक वर्ग के समक्ष प्रस्तुत करना चाहता है। यहाँ हंसा भी मूर्ख समझा जाने वाला एक ऐसा चरित्र है, जो समाज द्वारा उपेक्षित है। हंसा के सहज और स्नेहशील व्यक्तित्व को इस प्रकार देखा जा सकता है, “उसे लोग हंसा कहते हैं, कालाचिट्टा बहुत ही तगड़ा आदमी है। उसके भारी चेहरे में मटर सी आँखें और आलू सी नाक उसके व्यक्तित्व के विस्तार को बहुत ही सीमित कर देती है।” इस प्रकार अपनी विचित्रता के बावजूद गाँव के बच्चों और बूढ़ों

के साथ इस तरह घुला-मिला रहता है कि लोगों कि गाली को भी वह उनकी दुआ मानता है। हंसा रतौंधी का रोगी है। खेती बारी और घर दुआर के बावजूद वह अविवाहित है जो उसकी आर्थिक बदहाली का सूचक है। इस प्रसंग में ग्राम्य मानसिकता को इस प्रकार देखा जा सकता है - “गूंगे-बहरे, कुत्ते-बिल्ली सबका तो ब्याह रचाते रहते हैं, पर तुम्हारा धियान नहीं करते। खेत बारी, जगह जमीन सब तो है।”² यहाँ भारतीय अर्थ व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है, क्योंकि यदि गूंगे-बहरे की शादी हुई तो देश की अर्थव्यवस्था शोचनीय ही होगी। इसके अलावा हंसा अकेला इसलिए भी है क्योंकि उसका जीवन कहानीकार फणीश्वरनाथ ‘रेणु’ की ‘तीसरी कसम’ एवं ‘लालपान की बेगम’ जैसी कहानियों के कथानायक की तरह ही लोक के लिए समर्पित है। हंसा द्वारा गाँधी की आदर्शवादिता एवं स्वाधीनता संग्राम से लगाव स्पष्टतः देखा जा सकता है, जब गाँव में चुनाव का माहौल बनता है तो हंसा चुनाव के प्रचार-प्रसार में पूरी तरह जुट जाता है। लेकिन इसके साथ ही उस ग्राम्य समाज की संकीर्ण मानसिकता को भी दिखाया गया है जो गाँधीजी के आदर्शों को नहीं मानता। वहाँ के ग्रामीण आमजन जब प्रेम के हर रूप को अपवित्र मानते हैं तथा उसको शंका की दृष्टि से देखते हैं, तब ऐसे माहौल में ढोलक पीटकर अपने लोकगीत के माध्यम से मीटिंग करवाने की दावेदारी पेश करता है तथा मीटिंग सफल भी हो जाती है। आजादी के बाद गाँव में हो रहे पहले चुनाव से समस्त ग्राम्य-समाज प्रभावित होता है। चुनाव के समय कई घृणित कार्य किए जाते हैं। चुनाव में कांग्रेसी और राजा साहब के बीच प्रचार-युद्ध छिड़ता है। दोनों पार्टियाँ अपना-अपना प्रभुत्व जमाने के लिए गंदी नीति का प्रयोग करते हैं। एक पार्टी इशतेहार टाँगती है तो दूसरी पार्टी उसे उखाड़ कर फेंक देती है। किसानों को धमकाया जाता है कि उनकी हलवाही बंद कर दी जाएगी, जानवरों को हँकवा दिया जाएगा। इसके साथ ही हंसा-सुशीला की प्रेम कहानी का कुप्रचार करवाकर गाँधीजी तक को बदनाम किया जाता है। उधर हंसा कांग्रेस का खद्दरधारी स्वयंसेवक बनकर बगल में बिगुल लटकाए बापू के संदेश की पर्ची बांटते हुए कहते फिरता है, “बाबू साहब जो कहेँ मान लो। पूड़ी-मिठाई राजा के तम्मू में खाओ। खर्चा खोराक बाबू साहब से लो और मोटर में बैठो। लेकिन कांग्रेस का बस्सा याद रखो। वहाँ जा कर, खाना पीना भूल जाओ? कांग्रेस तुम्हारे राज के लिए लड़ती है। बेदखली बंद होगी। छुआछूत बंद होगा। जनता का राज होगा। एक बार बोलो, बोलो गन्धी महात्मा की जय!.....जय....”³ इस प्रकार भाषणबाजी करके गाँव के लोगों को आश्वासन दिये जाते हैं। उक्त प्रसंग यदि एक ओर राजनीतिक भ्रष्टता, जातिवाद, सामाजिक सड़ांधता एवं नैतिक पतन को उजागर करता है तो दूसरी ओर हंसा के रूप में एक अशिक्षित भोला-भाला ग्रामीण कांग्रेसी का उत्साह पाठक समाज को आकृष्ट भी करता है।

अर्थपूर्ण सांकेतिकता मार्कण्डेय की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता है, जो पाठक को प्रत्यक्ष यथार्थ की तुलना में अधिक समृद्ध करती है। प्रस्तुत कहानी में भी हंसा और सुशीला का प्रेम कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु की ‘तीसरी कसम’ कहानी की भाँति कथित न होकर व्यंजित है। हंसा को अपने पहले प्रेम की प्रतीति इस रूप में होती है - “मीठी मीठी थकान भरी आवाज और डाल के ताजे फल जैसी सुगंध। वह बड़ा खुश है।”⁴ इस प्रकार लेखक ने यहाँ रोमानी यथार्थ के साथ-साथ स्त्री की गरिमा को भी उकेरा है। विवेच्य कहानी घटनाओं से ज्यादा बदलाव की प्रक्रिया की कहानी है। धीरे धीरे हंसा में चेतना का संचार होता है। वह चुनाव के शोर में महसूस करता है कि स्वतन्त्रता के बाद भी जनता की लड़ाई खत्म नहीं हुई है। अतएव वह रामायण के मंचन में रावण का भेष बनाकर पूरी कथा को बदल देता है जो उसकी नयी सोच को इंगित करता है। उस समय ग्राम्य समाज में रामलीला में उच्च वर्ग के

लोग राम का तथा निम्न वर्ग के लोग रावण का अभिनय करते थे। ऐसे में हंसा गाँधीवादी आदर्शों पर चलने के कारण रावण का अभिनय करके भी सबकी वाह-वाही हासिल कर लेता है। प्रस्तुत कथा के माध्यम से कथाकार मार्कण्डेय अपने समय की कथा कहते हैं जो पूरी तरह से आंदोलनात्मक थी, क्योंकि स्वतन्त्रता संग्राम की पूरी चहल-पहल का एक लघु संस्करण कहानी में मिलता है। हंसा द्वारा गाँव की रामलीला में धर्म और राजनीति का विखंडन करना जनक्रान्ति का ही आह्वान है - “भाइयों! राम राजा था। देखो, छोटी जाति का कोई राम नहीं बनने पाता है। राक्षस सब बनते हैं। बिराहिम, कालू, भुलई और फेदर, सभी की पालटी है हमारी! यह जनता की लड़ाई है। बोल दो धावा।”⁵ यहाँ जातिवाद पर व्यंग्य के साथ साथ इस ओर भी संकेत है कि ग्रामीण जीवन के छोटे छोटे सांस्कृतिक कार्यक्रमों के भीतर से भी कैसे क्रांतिकारी अभिव्यक्तियाँ जन्म ले सकती हैं। चुनाव में कांग्रेस की जीत होती है। लेकिन इस जीत के साथ ही निमोनिया से सुशीला की मृत्यु हंसा के लिए विक्षिप्तावस्था का कारण बनती है। चारों ओर से घिरते-पसरते अंधेरे में हंसा के लिए सुशीला का न होना उजाले की उस लकीर की तरह था जो उसे जिलाए रखा था। दरअसल सुशीला की मृत्यु एक तरह से गाँधीवादी आदर्शवाद के अंत की भी सूचना है। स्वतन्त्रता के पश्चात हंसा को कुछ रुपये मिलते हैं; उसे लेकर वह खूब हँसता है और उनमें से एक-एक रुपये गाँव की दीवारों पर लगा देता है। लोग उसे पागल समझते हैं, मगर ऐसा नहीं है। दरअसल उसे रुपये पाने की खुशी नहीं है बल्कि खुशी है तो आजादी मिलने की, जिस आजादी को लेकर उसने स्वराज्य के सपने देखे थे। कथाकार द्वारा हंसा के माध्यम से आम आदमी का मोहभंग, किसानों की निराशा, उद्विग्नता और बेगानेपन को इंगित करना ही मुख्य उद्देश्य रहा है। इस संदर्भ में डॉ० पुष्पपाल सिंह का यह कथन सटीक ही है - “हंसा का पागल हो जाना यह प्रतीकीकृत करता है कि आजादी की असली लड़ाई लड़ने वालों का यही हथ्र हुआ है। यह भावबोध नई कहानी के बुनियादी भावबोध के नजदीक है।”⁶

विवेच्य कहानी में प्रगतिशीलता की ओर संकेत है क्योंकि एक दलित द्वारा जनक्रान्ति का बिगुल तथा रामलीला में रावण की जीत एकदम नयी परिघटना है, क्योंकि इससे पहले किसी दलित को इतनी आजादी नहीं थी कि वह विरोध कर सके। इसी परिघटना से नयी कहानी की शुरुआत होती है। इस प्रकार ग्राम्य-समाज में करवट बदलता जीवन ही उनकी कहानियों की मुख्य धुरी है; क्योंकि वे जानते थे कि नया समाज सुधारवादी रुख से कभी नहीं बनता, अपितु परिवर्तन से बनता है।

विवेच्य कहानी के संदर्भ में मधुरेश लिखते हैं, “इस कहानी का महत्त्व इसलिए है क्योंकि यह सारे परिवेशगत सामाजिक संदर्भों के बीच आदमी के अकेलेपन की नियति और पीड़ा को उभारती है।”⁷ अतएव यह कहा जा सकता है आजादी के बाद मोहभंग के दौर को जिस गंभीरता से मार्कण्डेय ने कहानी के माध्यम से प्रस्तुत किया, वह तब की एक बहुत बड़ी जरूरत थी; क्योंकि आज ग्रामीण जन-जीवन का पुनर्स्थापन अपने देश की प्रमुखतम आवश्यकता है इसलिए उनकी कहानियों की आधारभूमि ही है - ‘स्वातंत्र्योत्तर भारतीय गाँव एवं बदलता परिवेश।’

संदर्भ:

1. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण : 2010, पृष्ठ - 211
2. वही, पृष्ठ 213

3. वही, पृष्ठ 218
4. वही, पृष्ठ 216
5. वही, पृष्ठ 219
6. पुष्पपाल सिंह, हिन्दी कहानी : विश्वकोश (प्रथम खंड), पृष्ठ 173
7. मधुरेश, नयी कहानी : पुनर्विचार, पृष्ठ 162



प्रेमचन्द के साहित्य में दलित स्त्री-विमर्श

□ हर्दीप कौर

दलित स्त्री-विमर्श शब्द सुनते ही हमारे मन में स्त्रियों के प्रति असमानता, लैंगिक असमानता, उनके प्रति समाज की उपेक्षा, ब्राह्मणवादी पितृसत्ता आदि भाव उत्पन्न हो जाते हैं। समाज में सभी को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष सभी को संविधान द्वारा समान अधिकार दिए गए हैं। चाहे वह अधिकार स्वतन्त्रता का हो, समानता का हो या सामाजिक न्याय का हो। फिर भी ध्यान पूर्वक देखा जाए तो क्या समाज में दलित स्त्री को पुरुष के बराबर यह सभी अधिकार मिल पाते हैं? अगर यह सभी अधिकार मिल पाते तो समाज में प्रस्तुत बुराईयाँ चाहे वह कन्या भ्रूण-हत्या हो, दहेज प्रथा हो, वेश्यावृत्ति और बलात्कार जैसी समस्याएँ समाज में उत्पन्न ही नहीं होती। वह पुरुष की भोग्या, उसके मनोविनोद और विलास का साधन-मात्र ही बनकर न रह जाती। आज भी वह सामाजिक बन्धनों, मान्यताओं और मर्यादाओं में जकड़ी हुई है। नारी की ऐसी ही स्थिति हमें प्रेमचन्द के साहित्य में भी दृष्टिगोचर होती है। वह कफन, रंगभूमि, गोदान दूध का दाम, पूस की रात अर्थात् प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य में कहीं न कहीं दृष्टिगोचर होती है। एक जागरूक कलाकर की भाँति प्रेमचन्द ने अपने युग का वास्तविक प्रतिनिधित्व किया है। प्रेमचन्द इस बात को बखूबी समझते थे कि समाज में नारी और पुरुष दोनों ही अनिवार्य हैं। दोनों को ही समान महत्त्व और अधिकार मिलने चाहिए। इसलिए प्रेमचन्द के साहित्य में भी हमें यह दृष्टि गोचर होता है। “प्रेमचन्द ने नारी को न केवल प्रेरक शक्ति के रूप में देखा वरन् राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में कन्धा से कन्धा लगाकर कार्य करने वाले साथी के रूप में देखा। साहित्य और व्यावहारिक जीवन में उन्हें नारी अत्यधिक प्रगतिशील तथा कर्तव्य परायण मिली है।

व्यष्टि रूप में प्रेमचन्द ने नारी को पत्नी, माता आदि पदों पर पाया है और समष्टि रूप में उसके स्वरूप में वह वस्तु देखी जो हमारे सामाजिक, राजनैतिक जीवन का स्पर्श करती है। अनुभूति एवं कल्पना की सम्मिलित शक्ति के आधार पर प्रेमचन्द ने नारी के मनोगत भावों का विश्लेषण और विवेचन किया है। प्रेमचन्द का महत्त्व इसलिए भी है कि उन्होंने नारी जीवन के सम्पूर्ण पक्ष एवं व्यक्तित्व को ग्रहण किया है। एक मानवविज्ञान-वेत्ता के रूप में प्रेमचन्द ने नारी के व्यक्तित्व के सभी पक्षों का अध्ययन किया। उसी गहन अध्ययन एवं अनुभूति के आधार पर उन्होंने नारी जीवन के जिन सुन्दर चित्रों को अंकित किया है वे बहुत समय तक पुराने न होंगे। उन्होंने नारी हृदय की उन शाश्वत भावनाओं को लेकर उपन्यास और कहानियों की कथा को बल दिया है जो युगों से उपेक्षित रहे हैं।”

प्रेमचन्द की दलित और दलित-स्त्री विषयक कहानियों को तीन भागों में रखा जा सकता है। “शुरुआत की कुछ कहानियों पर आर्य समाज का प्रभाव देखा जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि 1911 में प्रकाशित कहानी ‘दोनों तरफ से’, 1913 में प्रकाशित ‘सिर्फ एक आवाज’ और 1924

में प्रकाशित 'सौभाग्य के कीड़े' में सवर्ण पात्र वर्ण-व्यवस्था और छुआछूत का विरोध करते हुए अपनी जाति से विद्रोह करते हैं।

बहरहाल, प्रेमचन्द की कहानी 'दोनों तरफ से' इस बात का प्रमाण है कि ब्राह्मणवाद के विरुद्ध कुछ सवर्णों ने आवाज उठाई थी। इस कहानी का नायक पंडित श्यामस्वरूप पटना के एक नौजवान वकील हैं। वे शाम में कचहरी से आकर बगल के सारे देहात में चले जाते हैं और 'वहाँ कहीं चमारों' के साथ बैठे बातें कर रहे हैं, कहीं डोमों के बीच में बैठे हैं - आखिर यहाँ तक नौबत पहुँच गई कि एक बार चमारों के चौधरी की लड़की की शादी में उन्होंने उनके साथ खाना भी खा लिया।" बस यह बात फैलते ही हंगामा शुरू हो गया। सवर्ण लोग पंडित श्याम स्वरूप पर थूकने लगे। औरतों के ताने सुन-सुन कर परेशान हो चुकी पंडित जी की पत्नी कलेसरी देवी ने अपनी जान और प्यार का वास्ता देकर उन्हें दलितों की बस्ती में जाने से रोक दिया। जब कई दिनों तक दलितों की बस्ती नहीं गए तो एक-एक कर दलित भाई पंडित जी का हाल-चाल पूछने उनके घर आ गए। दलितों की इस सहृदयता को देखकर कलेसरी का हृदय परिवर्तन होता है" प्रेमचन्द की 'कफन' कहानी में दलित स्त्री का यर्थाथवादी चित्रण हुआ है। "कहानी के नायक घीसू माधव निहायत कामचोर और निठल्ले हैं। अन्दर माधव की पत्नी प्रसव वेदना में तड़प रही है और बाहर धीसू माधव बैठे आलू भूनकर खा रहे हैं। माधव अन्दर अपनी मरती हुई पत्नी को इसलिए देखने जाना नहीं चाहता कि कहीं घीसू आलुओं पर हाथ न फेर दे। घीसू-माधव के माध्यम से प्रेमचन्द ने दलितों की उस विडम्बनात्मक स्थिति का चित्र खींचा है, जिसमें आदमी जन्म तो लेता है मनुष्य के रूप में, मगर जानवरों की तरह लतियाता हुआ, दुत्कारा जाता हुआ जीवन जीता है। अगर पूरी कहानी देखें तो पाएंगे कि प्रेमचन्द की निगाह में दोष उस ब्राह्मणवादी व्यवस्था का है जिसमें दमन, शोषण और अत्याचार के चलते ऐसे अकर्मण्य और असंवेदनशील पात्र जन्म लेते हैं जो अपनी मरी हुई पत्नी का कफन तक बेच खाएं। प्रेमचन्द के गोदान में भी दलित स्त्री सिलिया और ब्राह्मण युवक मातादीन के प्रेम का चित्रण है। जब मातादीन सिलिया के प्रेम के बदले में उसे पत्नी कहलाने का अधिकार नहीं देता तो सारी दलित बिरादरी आकर मातादीन को फटकारती है। सिलिया का बाप ठाकुर झिंगुरी-सिंह को कहता है, "झगड़ा कुछ नहीं है ठाकुर, हम आज या तो मातादीन को चमार बना के छोड़ेंगे या उनका और अपना रक्त एक कर देंगे। सिलिया कन्या जात है, किसी न किसी के घर जाएगी ही। इस पर हमें कुछ नहीं कहना मगर उसे जो कोई भी रखे, हमारा होकर रहे। तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मगर हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह सम्भव नहीं है तो फिर तुम भी चमार बनो। हमारे साथ खाओ-पियो हमारे साथ उठो-बैठो। हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धर्म हमें दो।" (गोदान, पृ. 156-157)

प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य में दलित आन्दोलन दृष्टिगोचर होता है 'घासवाली' कहानी में दलित पात्र के विद्रोही तेवर देखे जा सकते हैं, और यह विद्रोह की शुरुआत स्त्रियाँ ही करती हैं। 'दूध के दाम' का मंगल, जिसकी माँ का दूध पीकर जमींदार का बेटा सुरेश पला है, के लिए घोड़ा बनने से इनकार करता है और बराबरी का हक मांगते हुए वह भी सवारी की बात करता है। मंगल की त्रासदी यह है कि वह अपने स्वाभिमान को बचा नहीं पाता और जूठन खाने पर मजबूर होता है। मंगल कुन्डा से कहता है, "लोग कहते हैं दूध का दाम कोई नहीं चुका सकता और मुझे दूध का यह दाम मिल रहा है"।

इस कथावत के माध्यम से सवर्णों की अमानवीय निरंकुशता ही तो सामने आती है। जब आज भी दलितों का सामूहिक नरसंहार किया जाता है और दलित स्त्री को नंगा घुमाया जाता है। हमारे सामने

‘गोहाना’ घटित होता है फिर हम कैसे यह शिकायत कर सकते हैं कि प्रेमचन्द के दलित पात्र बन्दूक क्यों नहीं उठाते और नियति के शिकार होते हैं। इसका सबसे बेहतर प्रमाण दलित-आत्मकथा हो सकती है जिसमें दलितों के ऊपर सवर्णों द्वारा होने वाले जुल्म का प्रामाणिक चित्रण तो मौजूद है, पर संघर्ष और विद्रोह गौण है।¹⁴ रंगभूमि का नायक अपने त्याग, संघर्ष, मेहनत और चरित्रवान होकर अपने अधिकार के लिए लड़ रहा है। वह दलित आदिवासी की तरह है जो अपने जल-जंगल-जमीन की लड़ाई लड़ रहे हैं। सूरदास के साथ अर्थात् दलित के साथ सोफिया, इन्दु, रानी, जाह्नवी और सुभागी के साथ पूरा महिला वर्ग जुड़ता है “शायद उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द डॉ. आम्बेडकर के दलित और महिला आंदोलन की दिशा को समझ रहे थे ‘उपन्यास में गाँधीवाद के साथ-साथ आम्बेडकर जी की दबे-कुचले विभिन्न समुदायों का समवेत आन्दोलन था। उसको लेखक साथ-साथ लेकर चलता है।”¹⁵

प्रेमचन्द की ‘ठाकुर का कुआँ’, ‘सद्गति’, ‘पूस की रात’ आदि कहानियों में भी दलित के प्रति समाज के कठोर यथार्थ को चित्रित हुआ है। दलित चेतना की यह सशक्त कहानियाँ हैं। इनमें प्रेमचन्द ने स्त्रियों के साथ हो रहे दुर्व्यवहार का मार्मिक चित्रण किया है। “प्रेमचन्द ने अपनी इन कहानियों के माध्यम से शोषकों के प्रति चाहे वे जमींदार हों, पुरोहित हों, अथवा भारत की घृणित ब्राह्मणवादी जातीय व्यवस्था इन सब के प्रति नफरत, हिंकारत, घृणा पैदा करते हुए उनके अन्दर गहरे बैठी दलितों, वंचितों और गरीबों के प्रति क्रूरता, जातीय हिंसा और अमानवीयता का चित्रण किया है। इसके विपरीत दलित, शोषित, उत्पीड़ित वंचित वर्ग के प्रति सहानुभूति, सहृदयता, मानवीयता और समानता का भाव पैदा कर उनके आक्रोश, विरोध को उनकी मानवीयता की लड़ाई को समर्थन देने का काम किया है। दलित और स्त्री भारतीय समाज में सबसे ज्यादा उपेक्षित है। प्रेमचन्द ने इसी वर्ग के हितों में लिखने की भरपूर कोशिश की है।”¹⁶

अतः प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में दलित स्त्री विमर्ष का यथार्थ चित्रण किया है उनका साहित्य दलित साहित्य की भावभूमि तैयार करने के लिए आज भी प्रांसगिक है।

संदर्भ:

1. प्रेमचन्द प्रतिभा - इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ 191
2. स्त्री: संघर्ष और सृजन-श्रीधरम, पृष्ठ 74
3. समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध - अनिता भारती, पृष्ठ 106
4. स्त्री: संघर्ष और सृजन - श्री धरम, पृष्ठ 79
5. समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, अनिता भारती, पृष्ठ 114
6. समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, अनिता भारती, पृष्ठ 125



मृणाल पांडे की कहानियों में पारिवारिक उदारता : एक नई खोज

□ सुषमा चौबे

प्राचीन अवधारणा के अनुसार सृष्टि, प्रकृति और ईश्वर एक है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार हमारे यहाँ प्रकृति ही ईश्वर है। और नारी ? नारी प्रकृतिस्वरूपा है। अतः प्रकृति की तरह वह भी पूज्य है। ये अलग बात है कि वह प्रकृति की तरह मौन रहने और किसी स्पर्धा में न शामिल होने के कारण सहिष्णुता की मूर्ति बनी रही है, जिसकी पूजा करो और सहिष्णुता की परीक्षा भी लो। बहरहाल, इस स्थिति में काफी बदलाव आया है। स्त्रियाँ अब सहिष्णुता की मूर्ति नहीं हैं। अब वे एक व्यक्ति हैं और श्रेष्ठ व्यक्तित्व की साधना में पुरुषों के समकक्ष खड़ा होने की स्पर्धा में शामिल हो चुकी हैं। मृणाल पांडे ऐसी ही शिखरयत हैं, जिनका साहित्यिक व्यक्तित्व ऊँचे धरातल पर अवस्थित है। उनके साहित्यिक व्यक्तित्व में भारतीय स्त्रियों के आवाज़ की प्रत्येक भंगिमा इस तरह शामिल है कि मृणाल और भारतीय स्त्रियों के आवाज़ को अलग करना लगभग मुश्किल है। मृणाल पांडे भारतीय स्त्रियों को उनके सामाजिक परिवेश में जाकर तलाशती हैं। इस तलाश में तटस्थता भी है और सहृदयता भी। संभवतः यही कारण है कि वे एक तरफ परंपराओं की जड़ तक पहुँचकर उसकी पोल खोलती हैं तो दूसरी तरफ परंपराओं के बीच से गुजरते हुए नारी की शक्ति और उसके सौंदर्य का दर्शन भी कराती हैं। भारतीय नारी का सौंदर्य और उसकी शक्ति उसके उदारता में छिपी है। इस बात को मृणाल जिस नजरिए से देखती हैं, वह बिलकुल नवीन है। इसलिए यह उनकी एक नई खोज है।

समकालीन कथाकारों में महिला कथाकारों की संख्या तीव्रता से बढ़ी है। नारियों की विभिन्न समस्याओं को नारी-दृष्टि मिली है। मृणाल ने अपने लेखन में हर वर्ग की नारियों को दिशा-निर्देश दिया है, संघर्ष करने की प्रेरणा दी है। मृणाल इन नारियों को यह संदेश देती हैं कि पुरुष अपने अधिकार को सहजता से नहीं छोड़ सकता और न ही उसके मन में नारियों के प्रति सहानुभूति का भाव ही है। महादेवी वर्मा ने भी पुरुषों के प्रति इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है—“पुरुष भी विचित्र है। वह अपने छोटे-से-छोटे सुख के लिए स्त्री को बड़ा-से-बड़ा दुःख दे डालता है और ऐसी निश्चिंतता से मानो वह स्त्री को उसका प्राण्य ही दे रहा है। सभी कर्तव्यों को वह चीनी में ढकी कुनैन के समान मीठे-मीठे रूप में ही चाहता है। जैसे ही कटुता का आभास मिला कि उसकी पहली प्रवृत्ति सब कुछ जहाँ-का-तहाँ पटक कर भाग खड़े होने की होती है।”¹

अर्थात् नारियों को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए घोर संघर्ष की आवश्यकता है। अपनी रचनाओं में मृणाल ने हर वर्ग की नारी को यही संदेश दिया है। यह मृणाल की नई खोज है, नया पड़ाव है। वस्तुतः यह नई खोज नारियों की अस्मिता की खोज है, अधिकार की खोज है, अस्तित्व की खोज है।

इस नयी खोज की पहली आवश्यकता सदियों से चली आ रही परम्पराओं का परिवर्तन करना है। हमारे समक्ष हमारी देवियों का उदाहरण दिया जाता है। यहीं से नारियों पर लांछन लगाना भी प्रारंभ हो जाता है। इस मुद्दे को मृणाल ने बड़ी बारीकी से समझा और उभारा है। अपने उपन्यास 'देवी' में पहली बार इन्होंने देवियों को हम मानवी के समान देखा। आज जैसे नारियों पर पुरुष यौन शोषण करते हैं तो क्या देवियों के साथ ऐसा नहीं हुआ है? इस क्रम में उन्होंने देवी सरस्वती का उदाहरण दिया है जिसमें कहा गया है कि अपनी मानस-पुत्री की अद्वितीय सुन्दरता को देखकर ब्रह्मा भी मुग्ध हो गए। "लेकिन अपनी मानसपुत्री पर दृष्टि ही सर्जक के मन में कामना जाग उठी। काम-लोलुप पिता से बचने के लिए किशोरी सरस्वती इधर-उधर भागने लगी लेकिन ब्रह्मा कौन-से कम थे। हर दिशा में अपनी पारद चंचल बेटी को ढूँढ़ने के लिए उन्होंने चटपट चार सिर और उगा लिए और पंचमुखी हो गए। फिर भी सरस्वती उनके हाथ नहीं आई।

ब्रह्मा कुपित हो गए। वे तो सर्जक थे, सर्वशक्तिमान, तमाम पिताओं की तरह !ब्रह्मा ने येन-केन अपनी बेटी से उसकी अनिच्छा के बावजूद विवाह करके उसके मस्तिष्क से संयुति बनाई और यूँ चार वेद पैदा हो गए।"¹²

क्या आधुनिक वर्तमान नारियों से साम्य नहीं है सरस्वती के जीवन में। यही कारण है कि सरस्वती सदैव अन्यमनस्क रहीं, कभी प्रफुल्लित नहीं रहीं।

हम सभी प्रजापति दक्ष की बेटी सती का जल मरना तो जानती हैं, लेकिन मृणाल ने यहाँ भी एक नयी अभिव्यक्ति दी। उनके कथन से सती के मरण में पति के प्रति निष्ठा कम इस समाज से विद्रोह अधिक है। जिस समाज में पिता, माता, बहन, पति सब बदल जाते हों- उस समाज में सती जिंदा रहना नहीं चाहती और मर जाती हैं।

पार्वती की गोद में गणेश का होना-भी-संकेत है- विकलांग संतान के प्रति सहानुभूति का। आज समय की मांग है कि माँ की गोद रूपी पाठशाला में हमें उदारता, स्नेह और सद्भाव मिले। जब तक हम स्नेह और सद्भाव रूपी जल से सिंचित नहीं होंगे- हम पुष्पित-पल्लवित होने के बजाय सूख जायेंगे। प्रेमचंद ने कर्मभूमि में कहा था- "जिंदगी की वह उम्र जब इंसान को मुहब्बत की सबसे ज्यादा जरूरत होती है, बचपन है। उस वक्त पौधों को तरी मिल जाय तो जिंदगी भर के लिए उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। उस वक्त खुराक न पाकर उसकी जिंदगी खुश्क हो जाती है।"¹³

पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर हम अपनी व माता-पिता की भी उपेक्षा कर रहे हैं। मृणाल ने अपनी मौलिक सभ्यता-संस्कृति को कायम रखने का संदेश दिया है और उस खोजी उदारता, स्नेह, सद्भाव को वापस करने पर जोर दिया है। पंत जी ने भी कहा था-

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल,
भूतियों का दिगन्त छवि जाल, ज्योति चुंबित जगती का भाल।"¹⁴

आधुनिक कहानी की शिल्प-संरचना भी कफी परिवर्तित है। पुरानी मान्यताओं के बदले नया शिल्प गठित किया गया है। कथानक का महत्व न होकर कथ्य का महत्व अधिक हो गया है। "कहानी की सही जमीन उसका कहानीपन ही है। शिल्प की सार्थकता उसी कहानीपन को उभारने में है; हालाँकि यह नामुमकिन है कि सही अभाव में कहानीपन सार्थक हो जाये।"¹⁵

आधुनिक कहानियों का शीर्षक पारंपरिक नहीं रह गया है। मृणाल जी की कहानियों में भी इस

प्रकार की विशेषताएँ हैं। कहीं पात्र के आधार पर शीर्षक दिया गया है तो कहीं घटना की विशेषता पर आधारित है। कहीं व्यंग्य प्रधान शीर्षक है तो कहीं प्रतीकात्मक। यथा- रूबी, यानी एक बात थी, बचुली चौकादारिन की कढ़ी, कर्कशा, चार दिन की जवानी तेरी, कोहरा, और मछलियाँ, चिमगादड़े। कुछ शीर्षक जातिगत है तो कुछ व्यक्तिगत। लड़कियाँ, सुपारी, फुआ, गुन्नुचा की अजब कहानी आदि क्रमशः इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

प्रारंभ और अंत भी आधुनिक ही है। वर्णनात्मक प्रथा का जैसे अंत ही कर दिया गया है। कोहरा और मछलियाँ का प्रारंभ सूक्ष्म प्राकृतिक चिह्न से होता है- “ताल के मासूम तल को तोड़ती मछली फिर उछलीछुलुक्!”⁶

“यानी कि एक बात श्री” का प्रारंभ घटना की संभावना से होता है- “जो होते-होते रह गयी और वैसे देखा जाये तो अब वह बात पुरानी हुई भी।”⁷ “शब्दबेधी” का प्रारंभ घटना की प्रधानता से होता है। “एक नीच ट्रेनेकी” भी घटनाओं से भी प्रारंभ होता है। “तुम और वह और वे” प्रतीकात्मक शीर्षक की कहानी है।

पात्रों के नामकरण में भी मृणाल की कहानियों में आधुनिकता की छाप है। सामान्य नामकरण परिवेश के अनुरूप तो हैं ही लेकिन “समुद्र की सतह से दो हजार मीटर ऊपर” में ‘मैं’ और ‘वे’ के बीच कहानी कही गयी है। बहुत सी कहानियों में पात्रों का नाम व्यक्तिवाचक भी हैं। मृणाल की कहानियों में व्यंग्य यत्र-तत्र समाविष्ट रहते हैं। कहानियों में यत्र-तत्र हम पात्रों को स्वगत कथन करते या मन में सोचते हुए भी देखते हैं, जिससे उनके विचारों से हम अवगत होते हैं ।

अस्तु, मृणाल की कहानियों में आधुनिक रचना-शिल्प को तो सहजता से स्वीकारा ही गया है, साथ ही, इनके लेखन में कथा को एक नया पड़ाव भी मिला, जो नितांत प्रशंसनीय है। यह सवाल स्वाभाविक है कि क्या पति के संपूर्ण सहयोग के बिना स्त्री का अपने घर के सीमित परिवेश से बाहर निकलकर बाहरी जीवन और कार्य क्षेत्र की बड़ी ‘स्पेस’ के लिए काम करना संभव नहीं है? शायद यही सच है। या तो पति का संपूर्ण सहयोग या संपूर्ण असहयोग ही किसी सकारात्मक दिशा की और आगे बढ़ा सकता है। पति के साथ एक ही छत के नीचे रहकर पति के असहयोग से जूझते हुए किसी भी क्षेत्र में ऊँचाइयों को छूने वाली किसी महिला के व्यक्तित्व का उदाहरण मिले तो उसके संघर्ष कथा एक अलग मिसाल प्रस्तुत करेगी।⁸

संदर्भ:

1. अतीत के चलचित्र- महादेवी वर्मा-पृ0 44
2. देवी, मृणाल पांडे, पृ0 64
3. कर्मभूमि, प्रेमचन्द, पृ0 114
4. परिवर्तन, पंत, पृ0 34
5. सुरेन्द्र, नयी कहानी : प्रकृति और पाठ, पृ0 84
6. कोहरा और मछलियाँ, मृणाल पांडे, पृ0 11
7. यानी कि एक बात थी, मृणाल पांडे, पृ0 250
8. कथादेश, अक्टूबर 2004, पृ0 54



मनुस्मृतिकालीन सामाजिक अनुशासन एवं राजदर्शन

□ मंजरी

आज समाज में जो अनुशासनहीनता और उच्छृंखलता सर्वत्र देखी जा सकती है। समाजशास्त्र के अनुसार उसके तीन मुख्य कारण माने गए हैं; एक तो धर्म, धार्मिकता और नैतिकता का ह्रास। दूसरा, समाज में उपभोक्ता संस्कृति की वृद्धि और तीसरा है - अनुशासनहीनता, जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अनुशासन भंग करने वाले, सामाजिक अपराध करनेवालों को दण्ड नहीं मिलता है और दण्ड मिलता भी है तो न्यायिक प्रभाव दूरगामी नहीं होता। मनुस्मृति में सामाजिक शिष्टाचार, सामाजिक संबंधों की पवित्रता पर यथेष्ट ध्यान दिया गया है। वहाँ समाज को धर्म परायणता की सीख दी गई है। सभी वर्णों को धर्म के अंदर रहने की नैतिक शिक्षा पर बल दिया गया है। दूसरे सामाजिक शिष्टाचार के उल्लंघन करनेवालों को इतने कठोर दण्ड देने का प्रावधान है कि दण्ड के भय से विरले ही वैसे अनर्गल व्यवहार का दुःसाहस करें।

उपर्युक्त प्रसंग के प्रमाण मनुस्मृति के आठवें अध्याय में मिलते हैं। पर-स्त्री के स्पर्श मात्र करनेवालों को देश निकाला का दण्ड मिलता था। संग्रहण करने हेतु कठोर दण्ड का विधान था। मनु ने संग्रहण उसे कहा है जिसमें पर-स्त्री से हँसी मजाक करना, उसके भूषण, वस्त्र आदि अस्पृश्य स्थानों का स्पर्श करना, एक चारपाई पर बैठना आदि समाज वर्जित आरचण आते हैं। इस प्रकार के अपराध हेतु 250 पण का जुर्माना निश्चित था।¹

अतः सादा रहन-सहन और उच्च-धर्म जन्य विचार के प्रसार के साथ कठोर दण्ड का ऐसा भय रहता था कि सामाजिक भ्रष्टाचार-समूह नष्ट हो जाते थे। संभवतः यही कारण है कि तत्कालीन इतिहास में स्त्री को चिढ़ाना 'इव-टीजिंग' जैसे अपराध नहीं के बराबर थे। आज के स्वतंत्रता उद्घोषक प्रजातंत्रीय राज्य में महिलाओं पर जो जुल्म होते हैं -बलात्कार, छीना-झपटी, शील-भंग, छेड़खानी आदि उस तरह के अपराधों से तत्कालीन समाज मुक्त था। दण्ड के विधान के ही क्रम में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मनुस्मृति में न्याय का ऐसा उच्च आदर्श था कि जबतक चोर का अपराध सिद्ध नहीं हो, तब तक उसका वध नहीं किया जाए। यही आदर्श आधुनिक विधि-शास्त्र का है। परन्तु मनुस्मृति में सामाजिक अनुशासन की रक्षा निमित्त यह भी संकेत मिलता है कि चोरों को आश्रय देनेवालों को भी दंडित किया जाए। इस भय से समाज में चोरों को संरक्षण नहीं मिलता था, जबकि आज यह बड़े-बड़े नेता अधिकारीगण स्वयं अवाच्छित तत्वों को संरक्षण देते हैं।

मनुस्मृति में राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की भावना भी उच्च स्तर की रही है। मनु ने भौगोलिक सीमा को स्पष्ट करते हुए उस देश का नाम आर्यावर्त रखा, जिसके साथ राष्ट्रीयता की भावना जुड़ी रही है- आसुमुद्रात्तु वै पूर्वादासासमुद्रात्तु पश्चिमात् । तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त विदुर्बुधाः ॥

मनु ने ब्रह्मवर्त का भी उल्लेख किया है। सरस्वती तथा दृष्टूती जैसी, जो देवनदियों के मध्य का क्षेत्र है, उसे देव-निर्मित ब्रह्मवर्त कहा है। सदाचार के आदर्श इसी क्षेत्र के ब्राह्मणों द्वारा स्थापित है। सदाचार ही सर्वोच्च राष्ट्रीय शक्ति है। इन्द्रियों पर विजय, राजा-प्रजा सभी के हेतु, अपेक्षित था। चरित्र के निर्माण पर भरपुर बल दिया गया है। गुरुजनों तथा श्रेष्ठ जनों के सम्मान पर विशेष बल दिया गया है। द्वितीय अध्याय के विभिन्न श्लोकों द्वारा मनुस्मृति ने आदर्श गुरु शिष्य संबंधों को दिखाया है। द्वितीय अध्याय के श्लोक संख्या 202-203 के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार से गुरु के गुरु के साथ बर्ताव, विद्या गुरु के साथ बर्ताव, गुरु पत्नियों के साथ बर्ताव आदि सभी की चर्चा इसमें मिलती है। इससे सिद्ध होता है कि शिक्षा के स्वरूप और शिक्षकों की किस प्रकार की मर्यादा रही है।

मनु जिस व्यवस्था की बात करते हैं, वह उनके मस्तिष्क की उपज नहीं है, वह सनातन व्यवस्था है। मनु की सभी मान्यताओं और व्यवस्थाओं का आधार वेद ही है। अतः मनु द्वारा दी गई व्यवस्था वस्तुतः वैदिक व्यवस्था है। उन्होंने वैदिक व्यवस्था के 32 मूल तत्त्वों के आधार पर अपनी प्रस्तुति दी है। समाज व्यवस्था, सामाजिक संरचना पर आधारित रहती है। समाज व्यवस्था के अंतर्गत सामाजिक संस्तरण, संस्थाएँ एवं नियंत्रण जैसे तत्व आते हैं। मनुस्मृति की यह मौलिकता कही जाएगी कि इसमें समाज के आर्थिक और आध्यात्मिक आदर्शों के बीच सुन्दर समन्वय किया गया है। परिवार के संबंध में मनु ने जो विचार प्रतिपादित किया है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु की सामाजिक व्यवस्था के परिवार के सदस्यों के बीच सांसारिक संबंधों के साथ-साथ आध्यात्मिक संबंध भी होता है। मनु के अनुसार संतान उत्पन्न किए बिना मनुष्य पितृ-ऋण से ऊबर नहीं सकता। अतः सन्तानोत्पत्ति की क्रम बनाए रखना अनिवार्य है।

मनुस्मृति में प्रतिपादित नारी संबंधी यह विचार भी उल्लेखनीय है, क्योंकि इससे यह स्पष्ट होगा कि मनुस्मृति में ऐसे श्लोक भी हैं, जिनसे नारी को मनु कितना उच्च स्थान देते थे, इसकी झाँकी भी मिलती है। मनुस्मृति का यह विचार भारतीय सभ्यता और संस्कृति के उदात्त आदर्शों को उजागर करता है। “जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवताओं का वास होता है। जहाँ उनका अपमान होता है, वहाँ सभी यज्ञादि कर्म निष्फल हो जाते हैं।”

“यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

यत्रेतास्तुं न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः ॥”²

मनुस्मृति के राजदर्शन में भी कोटिल्य अर्थशास्त्र और याज्ञवल्क्य स्मृति सद्दश राज्य के सप्तांगों को स्वीकार किया गया है। मनु ने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है कि राज्य के सात अंग हैं -

स्वाम्यामात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।

सप्तप्रकृतयो देयते सप्तांगं राज्यमुच्यते ॥

कुछ विद्वानों ने सप्तांग के सिद्धान्त का सर्वप्रथम विवेचना करने का श्रेय गौतम-धर्मसूत्र को दिया है; परन्तु ऐसा लगता है कि सप्तांग की अवधारणा मनुस्मृति में अर्थशास्त्र से आई है। मनुस्मृति में वर्णित ये सात अंग हैं- 1. स्वामी, जो राजा का पर्यायवाची है। 2. मंत्री, 3. पुर, 4. राष्ट्र, 5. कोष, 6. दण्ड, 7. मित्र। ये सात राज्य प्रकृतियाँ हैं और इन सभी से मिलकर सप्तांग बनता है। जहाँ तक सप्तांग को स्वीकारने की बात है, प्रायः सभी आचार्यों ने उसे स्वीकारा है। विष्णु धर्म सूत्रोत्तर पुराण में स्वामी एवं अमात्य के बदले साम एवं दाम नामक दो नए अंगों का उल्लेख मिलता है।⁴ किन्तु यह अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के संदर्भ में है।

राज्य के उपर्युक्त अंगों में सभी अंगों का सुदृढ़ और स्वस्थ होना आवश्यक है। इन सभी अंगों के परस्पर सहयोग से ही राज्य का संचालन सुचारू रूप से होता है। ये सातों अंग महत्व की दृष्टि से भले ही एक समान हों, परन्तु एक अवयव में जिस प्रकार एक अंग के विकृत होने से समस्त शरीर को आघात होता है और उसकी कार्यक्षमता प्रभावित हो जाती है, उसी प्रकार राज्य के इन प्रकृतियों में से किसी एक के बिगड़ जाने से शरीर रूपी पूरे राज्य का संतुलन प्रभावित हो जाता है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य के अंगिक सिद्धान्त का जो प्रतिपादन आधुनिक राजशास्त्र में मिलता है, मनुस्मृति और अन्य ग्रंथों में भी राज्य का स्वरूप उसी सिद्धान्त के अनुरूप है। यह स्मृतिकार की विलक्षणता प्रदर्शित करता है।

वास्तव में मनु का राजनीतिक चिन्तन दार्शनिकता एवं व्यवहारिकता का फल है।⁵ मनुस्मृति की दार्शनिक और यथार्थ परक विवेचना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, परन्तु दार्शनिकता का जो आधार लिया गया है, उससे हटकर यह कहा जा सकता है कि मनु ने सृष्टि-रचना के निमित्त विराट-पुरुष की कल्पना की है। संपूर्ण जगत को विराट पुरुष के अंगों से मानकर सृष्टि की रचना के सावयव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। उक्त दार्शनिकता को मनु राज्य की परिभाषा के निर्धारण में प्रयुक्त करते हैं। परन्तु दार्शनिकता का जो आधार लिया गया है, उससे हटकर यह कहा जा सकता है कि विराट-पुरुष के प्रति सार्वजनिक सम्मान हो, इसी दृष्टि से विभिन्न अवयवों की चर्चा की गई। और यह भी कैसे मान लिया जाए कि सृष्टि में सिर्फ मनुज्य की ही कल्पना की गई होगी। अतः श्रेष्ठता दिखाने के लिए ही संभवतः मनुस्मृति का यह रूप प्रदर्शित हो। हाँ, जिस काल खण्ड की यह रचना है उसकी पृष्ठभूमि में जिस प्रकार की राज्य-व्यवस्था का चित्र है, वैसे ही राज्य की आवश्यकता थी। मनुस्मृति का राज्य एक विशाल राज्य था, जिसके उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विंध्य पर्वतों के मध्य पूर्वी और पश्चिमी सागरों तक विस्तृत था और उसमें सम्मिलित प्रदेश थे- पांचाल, कुरुक्षेत्र, मध्यप्रदेश आदि।

मनु ने जिस आर्यावर्त का चित्र उपस्थापित किया है, वह राजनीति के ऐसे दौर से गुजार रहा था, जिसमें कई जनपद सम्मिलित थे, क्योंकि ऐसा न होने से राष्ट्रीय एकता विखण्डित हो सकती थी। मनुस्मृति के अध्ययन से स्वराष्ट्र, पर राज्य मित्र और शत्रु-राष्ट्र, मण्डल-राष्ट्र का उल्लेख मिलता है। उच्चकोटि के आदर्श पालन-हेतु, धर्म के महत्त्व को स्थापित करने तथा परम्परा का अनुपालन करने के लिए ही मनुस्मृति में राज्य का सप्तांग रूप उपस्थित किया गया है। याज्ञवल्क्य और मनु दोनों ने समस्त जीवन को व्यक्ति और समाज के जीवन को राज्य से जोड़ा है। तभी तो राज्य के कार्य क्षेत्र इतने व्यापक हैं, जिसमें आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक सभी का समावेश हुआ है।

मनुस्मृति की शासन व्यवस्था में राजा के सभी निर्णयों में एक तो जनहित, राजकोष और आर्थिक समृद्धि के लक्ष्यों का ध्यान रखा जाता था। दूसरे राजा जनमत के प्रभाव से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सतत् प्रभावित होता था। गुप्तचरों के द्वारा राजकर्मचारियों के अनुचित कार्यों अथवा जनता के हित के विरोधी क्रियाकलापों की सूचना प्राप्त होने पर राजा अविलम्ब अपराधी, भ्रष्ट मंत्रियों तथा सरकारी कर्मचारियों को कठोर दण्ड देता था। दण्ड देना उसका राजधर्म था, जिसका पालन वह अवश्य करता था।

राजा धर्म और कर्तव्यबोध के प्रभाव से समाज में सुख-सौहार्द, शांति-सुव्यवस्था प्रदान करने में सक्षम था। प्रतिस्पर्धा और पारस्परिक संघर्ष की संभावना वैसे राजतंत्र वाली प्रणाली में प्रजातंत्र की अपेक्षा बहुत कम थी, क्योंकि प्रत्येक जाति का चतुर्वर्ण व्यवस्था में कार्य विभाजन सुस्पष्ट था। समाज

की समस्त आवश्यकताएँ इस प्रकार के कर्तव्य विभाजन से पूर्ण हो जाती थी, किसी वैमनस्य की गुंजाईश नहीं रहती थी। यदि किसी विकृति या चरित्रगत दुर्बलता के कारण अपने कर्तव्य से च्युत होकर कोई सामाजिक संगठन की शांति और व्यवस्था को भंग करता था, तो राजा उसमें दंडित कर व्यवस्था को उचित मार्ग पर लाता था। दण्ड की महत्ता और दण्ड के दायित्व का ऐसा उदान्त आदर्श मनु ने रखा था कि वह आज के शासकों के लिए भी अनुकरणीय है ।

प्राचीन भारतीय व्यवस्था में राज्य को सुचारू रूप से चलाने के लिए चार नीतियाँ प्रचलित थीं। 1. साम, 2. दाम, 3. दण्ड और 4. भे। मनुस्मृति में इन चारों में दण्ड को ही सर्वाधिक महत्त्व इस कारण दिया गया है कि दण्ड के भय से चर और अचर सभी प्राणी अपने उपार्जित धन का उपयोग करते हुए नियम से कभी विचलित नहीं होते थे। वास्तव में दण्ड की जैसी विवेचना मनुस्मृति में की गई है, वैसा यदि दण्ड-विधान राज्य में भी हो, तो समाज में रोच विघटन भी नहीं आ सकता है। दण्ड की दुर्बलता और दण्ड धारण करनेवाले की नियम तथा नैतिकता की खोट के कारण ही समाज में अशांति पैदा होती है। मनुस्मृति में कहा गया है-

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वादण्ड स्वामि रक्षति ।

दण्डः सर्वेषु जागृति दण्ड धर्मविदुर्बुधाः ॥”⁶

तभी तो मनु ने दण्ड को ही ‘राजा’ यानी शासक कहा है । डॉ. यू. एन. घोषाल की इस टिप्पणी से लगता है कि राजधर्म संसार में वैसे ही नियंत्रण रखता है, जैसे लगाम घोड़े को नियंत्रण में रखती है।⁷

राजधर्म के गुण के संबंध में कहा जाता है कि इससे चारों पुरुषार्थ – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी एक साथ प्राप्त हो जाते हैं। मनुस्मृति के सातवें अध्याय में भी राजधर्म की विस्तार से व्याख्या हुई है, जो यह सिद्ध करती है कि राजधर्म विद्वान और जन साधारण दोनों के जीवन को प्रभावित करने वाला ऐसा शास्त्र रहा है, जिससे शांति और सुव्यवस्था की गारंटी हो सकती थी।

संदर्भ :

1. मनुस्मृति, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2009, (7/357-358)
2. मनुस्मृति अध्याय तीन, श्लोक संख्या-56
3. मनुस्मृति अध्याय 9, श्लोक संख्या-294
4. Shastri, J.L, Political Thoughts in the Puranas, Lahore, 1944. Page-163
5. मनुस्मृति में राजधर्म (K.K. Mishra)
6. मनुस्मृति (7/18)
7. यू.एन. घोषाल, History of Indian Political Ideas Page-1881



भारतीय दर्शन में पारिस्थितिक चेतना

□ मन्मीत कौर

हमारी धरती ब्रह्मांड का सबसे मूल्यवान उपहार है तथा इसकी रक्षा ही मानव जाति के भविष्य की कुंजी है। इसकी रक्षा करना प्रत्येक का कर्तव्य एवं दायित्व है किंतु वर्तमान में हमारे पर्यावरण का जो हास हो रहा है, उसका सीधा संबंध हमारी विकास की प्रक्रिया तथा पर्यावरण संतुलन के प्रति हमारी अज्ञानता से है। ऐसे में पारिस्थितिक चेतना हमारे प्राकृतिक जगत और मानव पर उसके प्रभाव को समग्रता से समझने में मदद करता है तथा सम्पूर्ण मानव जाति को सचेत भी करता है ताकि पृथ्वी के सीमित संसाधनों के बल पर मानव सभ्यता को जीवित रखा जा सके, जिससे किसी का अहित न हो। भारतीय दर्शन में इस पर व्यापक विचार-विमर्श हुआ है।

1500 ई. पू. के आसपास अथर्ववेद की रचना हुई। किसी भी आध्यात्मिक परंपरा में यह अपनी तरह का पहला ग्रंथ है, जिसमें धरती के प्रति सम्मान की अवधारणा प्रतिपादित की गयी है। समूचे भूमिसूक्त में 63 मंत्र हैं जो धरती माता को समर्पित हैं। वेदों के प्रख्यात अमरीकी विद्वान एवं विचारक डॉ० फ्रॉली के अनुसार अथर्ववेद का भूमिसूक्त पारिस्थितिक विचारधारा के बेहतरीन उदाहरणों में से है जिसमें पृथ्वी को दिव्यता के अवतार के रूप में ब्रह्मांडीय चेतना तथा धार्मिक नियमों में स्थित माना गया है। अथर्ववेद के भूमिसूक्त का ग्यारहवां मंत्र है -

“गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तेऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु।

बभ्रूं कृशणं रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्टां पृथिवीमहम्।”

अर्थात् हे धरती माँ, तुम्हारे पवित्र पर्वतों और हिमाच्छादित पर्वतों और तुम्हारे घने जंगलों में तुम्हारे शत्रु कभी न रहें। तुम उर्वर, कृषि के योग्य और सबका पोषण करने वाली बनी रहो। तुम हर रूप लेती हो अर्थात् सभी देशों और जातियों को सहारा देती हो। हम पर विपत्ति न आए अर्थात् तुम्हारा क्रोध हम पर न बरसे और हम हर प्रकार की उच्चता प्राप्त करें और तुम्हें हर प्रकार से अपनाएँ। भूमिसूक्त के 35 वें मंत्र में कहा गया है,

“यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।

मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पितम्।”

अर्थात् हे धरती माँ, तुममें से जो कुछ भी खोदकर निकालें उसका फिर से तुरंत विकास हो। हे पवित्र करने वाली, हम तुम्हारे मर्म या तुम्हारे हृदय को कोई आघात न पहुँचाएँ। इस मंत्र में पृथ्वी को एक जीवित इकाई के रूप में देखा गया है जिसका मर्म हृदय है और किसी भी प्रकार की खुदाई करते

हुए ध्यान रखना है कि मर्मस्थलों या हृदय को कोई आघात न पहुँचे। यहाँ पृथ्वी को बराबर का सम्मान दिया गया है। यह मनुष्य केंद्रित दृष्टिकोण नहीं अपितु जैव केंद्रित दृष्टिकोण है जिसके अनुसार जीवन को हर वस्तु में उपस्थित माना गया है जिसमें पृथ्वी भी आती है। यह विशुद्ध परिस्थितिक अभिवृत्ति है। भूमिसूक्त के छोटे मंत्र में कहा गया है,

“विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशिनी ।

वैश्वानरं विभ्रति भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ।

अर्थात् सबको धारण करने वाली, खजानों को रखने वाली, हमें सुदृढ़ आधार प्रदान करने वाली, स्वर्ण के वक्षों वाली अर्थात् समृद्धि से भरपूर, हर प्रकार के गतिमान जीवन को धारण करने वाली पृथ्वी, पवित्र सार्वभौमिक अग्नि को वहन करती है। हमारी मातृभूमि हमारे नेताओं, ज्ञानियों और हम सब को सभी प्रकार की समृद्धि प्रदान करें।

स्पष्ट है, पृथ्वी कोई एक वस्तु का नाम नहीं है। वह भूमि मात्र नहीं है, वह भूमा है, एक पूरा परिवार है, एक पूरे परिवार की माँ है। वेदों में भी कहा गया है, ‘माता पृथ्वी पुत्रोऽहं पृथिव्याः।’ इस कथन के पीछे एक पूरी पारिवारिक अवधारणा थी। आज का पारिस्थितिक विज्ञानी जब उसे एक समुदाय कहता है तो उसके पीछे भी वही संकल्पना कार्यरत रहती है। सबसे कठिन है यह महसूस करना कि यह ब्रह्मांड सिर्फ हमारा ही नहीं है, उस पर दूसरे प्राणी भी रहते हैं जो हमारी ही तरह प्राणवान् हैं। हमारे प्राचीन मनीषियों ने इस तथ्य को आत्मसात् किया था। अतः उन्होंने उनमें एक ही परमात्मा का अंश देखते हुए सदा समभाव से रहने का प्रयास किया था। कबीर ने उसी परंपरा के अनुसार कहा था – साईं के सब जीव हैं कीरी कुंजन दोऊ। वेदों में बलि का विधान है, पर जीव-दया भी कम नहीं है। ‘छांदोग्य उपनिषद्’ में कहा गया है – ‘अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावोगाव उदगीथोऽश्वः प्रतिघर-पशून न निन्देत्तदवतम्। बकरी हिंकार है, गाय उदगीथ और अश्व प्रतिहार-पशुओं की निंदा न करें। हमारे देश में भगवान नरसिंह, कच्छप, कूर्म आदि के रूप में अवतरित हुए। कई पशु-पक्षी देवी-देवताओं के वाहन के रूप में मान्य हुए। गाय की ही नहीं, नाग की भी पूजा हुई; कृष्ण गोपाल कहलाए, हनुमान वानर थे। ये तथ्य इस बात के सूचक हैं कि हमारी धार्मिक परंपरा में पशु-पक्षियों का आदर्श इतना तूल पकड़ता गया कि अहिंसा ही परमधर्म माना जाने लगा। यह सब कुछ अन्धविश्वास या कायरता का सबूत नहीं था, बल्कि इसके पीछे वह सूक्ष्म दृष्टि थी जो जीवन को व्यापक अर्थ में ग्रहण करती है और जो सहकार अथवा पारस्परिक निर्भरता का ज्ञान रखती है ।

पृथ्वी के लिए धरती माँ तथा प्रकृति के लिए देवत्व की भावना भारतीय परंपरा की विशेषता रही है। ऐसा कहकर उनके प्रति सम्मान एवं श्रद्धा व्यक्त की जाती है ताकि मानव उनकी संपदाओं का दोहन न करे। ‘श्वेताश्वेतरोपनिषद्’ में कहा गया है,

“यो देवाऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।

योषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः”

(श्वेताश्वेतरोपनिषद् 2/17)

अर्थात् जो अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश, औषधि एवं वनस्पतियों में विद्यमान है, उस देव को हम नमस्कार करते हैं।

ऋग्वेद दशम मण्डल के एक सम्पूर्ण सूक्त (146) में वन की देवी अरण्यानी का वर्णन बहुत अन्नों वाली, सबसे महान् तथा समस्त वन्य जन्तुओं की माता के रूप में प्राप्त होता है,

“आञ्जनगंधिं सुरभिं वह्नन्नामकृषीवलाम् ।
प्राहं मृगाणां मातरमरज्यानिताशसिनीम् ।”

(ऋक 10/146/6)

पर्यावरण के संदर्भ में वनों एवं वृक्षों के महत्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता। वेद, आरण्यक, उपनिषद् एवं स्मृतियों का मनन एवं चिंतन वनों में हुआ है। जब भी इस साहित्य में प्रसंगों के विभाजन का अवसर आया, तो वनों का आश्रय लिया गया। रामायण में काण्ड है, महाभारत में पर्व और स्कन्ध शब्द का प्रयोग हुआ है, इन तीनों का क्रमशः अर्थ तना, पौर, एवं प्रधान शाखा हुआ। कठोपनिषद् में ‘वल्लरी’ शब्द आया है। इतना ही नहीं रामायण में अरण्यकांड एवं महाभारत में वनपर्व का नाम वृक्षों के प्रति श्रद्धा एवं आस्था का प्रतीक है।

भारत में रहने वाली कई आदिम जन-जातियाँ हैं जो किसी विशेष पशु या पेड़-पौधे को महत्वपूर्ण मानकर उनके नाम पर अपने गोत्रीय नाम का निर्धारण करती हैं जिसके प्रति उनके मन में आदर एवं श्रद्धा का भाव रहता है। ग्रामीण क्षेत्रों में व्यक्ति अपने मिट्टी के मकानों में पशु-पक्षी, पेड़ आदि के चित्र बनाकर उन्हें सजाता है, अर्थात् सजावट में एवं पूजा-अर्चना में प्रकृति ही होती है। प्रकृति उनके लिए साधन भी है और साध्य भी। किंतु उत्तर आधुनिकवाद के इस दौर में मानव केवल पर्यावरण को नुकसान ही पहुँचा रहा है। ऐसे में हमें इन आदिम समाज एवं ग्रामीणों में सबक लेना चाहिए। हमारे राष्ट्रीय गान में भी कहा गया है, ‘सुजलां सुफलां, मलयज् शीतलाम्’ अर्थात् जहाँ शीतल, शुद्ध और ताजा हवा होगी, वहीं पल्लवित और पुष्पित होगा।

अनेक दशक पहले महात्मा गाँधी ने ऐसे ग्राम समुदायों की कल्पना की थी जो पर्यावरण के टोस प्रबंध पर आधारित हों। उन्होंने मनुष्यों और पशुओं के मलोत्सर्जन के पुनर्चालन पर आधारित स्वच्छता की और पुनर्चालन योग्य सामग्रियों से बने हवादार झोंपड़ों की आवश्यकता पर जोर दिया था। उन्होंने साफ और धूलरहित सड़कों की कल्पना की थी। उनका मुख्य उद्देश्य औद्योगिक वस्तुओं की जगह गाँव में बनी वस्तुओं का उपयोग करना था। ये सभी सिद्धांत अब किसी भी गंभीर दीर्घकालिक विकास रणनीति के अंग हैं। ये धारणाएँ जब आम सोच का हिस्सा नहीं बनी थीं तब भी गाँधीजी ने अपने लिए एक निर्वाहनीय जीवन-शैली विकसित की थी। अनेक दशक पहले गाँधी जी ने विकास की जिस रणनीति का सुझाव दिया, उसे अब संसार भर में विकास के विशेषज्ञ अधिकाधिका स्वीकार करने लगे हैं। महात्मा गाँधी को संसाधनों के संरक्षण की आवश्यकता की गहरी समझ थी। इसलिए तो उन्होंने कहा था कि ‘हमारी पृथ्वी मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है किंतु उसके लालच को नहीं।’

इसी तरह, रवींद्रनाथ ठाकुर ने भी पर्यावरण संरक्षण का अपने तरीके से प्रयास किया है। उन्होंने पश्चिम बंगाल में शांतिनिकेतन नाम से एक विश्वविद्यालय बनाया जो पर्यावरण आधारित दर्शन की शिक्षा देता था। उनकी शिक्षा मनुष्य और उसके पर्यावरण के बीच एक सामंजस्य भरे संबंध की आवश्यकता पर केंद्रित थी। इसके लिए उन्होंने युवाओं को प्रकृति की ओर उन्मुख किया। इसका अर्थ अपनी जड़ों की ओर वापस जाना था। प्राचीन भारत में गुरुकुल दूरदराज के जंगलों में होते थे। श्री रवींद्रनाथ ठाकुर ने इन धारणाओं को संगीत, नृत्य, नाटक और काव्य के माध्यम से प्रकृति के गुणगान से जोड़ा था। उन्होंने बहुत पहले ही, 1928 में वृक्षारोपण आरंभ किया था तथा आज भी वहाँ पर हर मौसम में उत्सव मनाये जाते हैं तथा पेड़ लगाए जाते हैं।

अंततः, कहा जा सकता है कि समस्त मानव एवं मानवेतर जीवन के प्रति अहिंसा ही भारत का वह बुनियादी दर्शन है जिसे आरंभिक दार्शनिकों तथा बाद में बुद्ध, महवीर, महात्मा गाँधी जैसे मनीषियों ने प्रतिपादित किया। अहिंसा तथा जीवन के सभी रूपों का महत्व तो बौद्ध एवं जैन दर्शन का केंद्र है। मानवेतर प्राणियों का महत्व केवल इसलिए नहीं है कि वह हमारे लिए उपयोगी है बल्कि इसीलिए भी है कि वे पृथ्वी की उस एकता का अंग है जिससे हमारा अपना जीवन जुड़ा हुआ है। भारतीय दर्शन में स्वयं पृथ्वी भी सम्मान एवं उपासना की वस्तु है। प्रकृति के शुद्ध उपयोगितावादी या वैज्ञानिक शोषण से हटकर प्रकृति से सामंजस्य की दिशा में बदलाव तभी आ सकता है जब हममें से हर व्यक्ति प्रकृति की एकता का बोध एवं सम्मान करे। उपनिषद् में लिखा हुआ है, 'इयं पृथ्वी सर्वेषाम् भूतानाम् मधु, अस्थाईं पृथ्वाइ सर्वाणि भूतानि मधु।' अर्थात् यह पृथ्वी सभी जीवों के लिए मधु के समान है और इस पृथ्वी के सारे जीव मधु के समान हैं। अतः वर्तमान की आवश्यकता को देखते हुए हमें आत्मपरिपूर्णता के मूल्यों और आयामों की खोज करनी है, उन्हें प्रासंगिक बनाना है तथा प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक शोषण को खारिज करना है।

संदर्भ:

1. इस्पातिका (पत्रिका), सं. अविनाश कुमार सिंह, अंक - 2 , वर्ष 2, जुलाई-दिसंबर 2012, पृ. 37
2. वही, पृ. 38
3. वही, पृ. 44
4. पर्यावरण प्रदूषण और इक्कीसवीं सदी, डॉ. सुजाता विष्ट, तक्षशिला प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1992, पृ. 44-45
5. आयुर्वेद में पर्यावरण और समाज, डॉ. निधि मिश्रा, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009, पृ 16-17.
6. वही, पृ. 17
7. पर्यावरण अध्ययन, इराक भरुचा, ओरियंट लांग्मेन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2006 , पृ. 164



1857 के विद्रोह की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म का सच

□ जितेन्द्र कुमार

सन् 1857 ई० का ऐतिहासिक क्रांति भारतीय इतिहास की एक युगान्तकारी एवं पहला सशस्त्र राष्ट्रीय महाविद्रोह के रूप में चर्चित है। इसे पहला राष्ट्रीय संग्राम कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि भारत के बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक जनता को उद्बोधित करते हुए बहादुरशाह द्वारा जारी घोषणा-पत्र का वीर विनायक दामोदर सावरकर ने अपनी पुस्तक '1857 का भारतीय स्वतंत्रता समर' में कहा है, "भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों उठो, भाइयों उठो। परमात्मा के सभी वरदानों में स्वराज्य ही उनका दिया हुआ सर्वोत्तम वरदान है। जिस शैतान ने उसे हमसे छल से छीन लिया है, देखें, वह कब तक उसे संभाल सकता है।"¹

इस तरह इसे लोकक्रांति कहने में मुझे तनिक भी हिचक नहीं है क्योंकि प्रसिद्ध भारतीय कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता में भी यह जनक्रांति मौजूद है -

चमक उठी सन सतावन में वह तलवार पुरानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।

इसे जनक्रांति का अमलीजामा पहनाने में लॉर्ड कैनिंग का गाय एवं सूअर के चर्बी वाला कानून भी प्रामाणिक है, क्योंकि सर जॉन ने भी इस बात का समर्थन किया है कि "इसमें कोई संदेह नहीं कि इस मसाले के बनाने में गाय और सूअर की चर्बी का उपयोग किया गया था।"

इस प्रकार भारतीयों में भारतीयता लोकक्रांति का द्योतक था। इसे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहना अतिशयोक्ति नहीं है।

यही कारण है कि यह क्रांति बैरकपुर से निकली और मेरठ, लखनऊ, कानपुर, दिल्ली से बिहार तक पहुँच गई।

इस स्वतंत्रता संग्राम का एक झण्डा और एक गीत था। इसके दो प्रतीक थे कमल का फूल और चपाती। इसके दो नारे भी "दीन। दीन। हर हर महादेव और **मारे** फिरंगी को।" लेकिन हम इस बात से भी इंकार नहीं कर सकते हैं कि अंगरेजों ने इस आन्दोलन में मतभेदों की चाल चली। डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने इस बात की पुष्टि की है - अंग्रेजों ने पंजाबी (विशेषतया सिख) और हिन्दुस्तानी में तथा हिन्दू और मुस्लिम में मतभेद उत्पन्न किए जिनमें कहा गया था कि लड़ाई में जीत होते ही प्रत्येक सिख का वध कर दिया जायेगा।"²

वास्तव में देखा जाय तो 1857 के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का एक लम्बा इतिहास है। 31 दिसम्बर 1600 में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना का लक्ष्य साम्राज्य की वृद्धि एवं आर्थिक शोषण था। व्यापारिक क्षेत्र में फ्रांसीसी, पुर्तगीज, डच कम्पनियों से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का संघर्ष रंग लाया और कंपनी वर्चस्व स्थापित करने के बाद राजनीतिक खेल शुरू हो गया। लोगों में कंपनी के प्रति घृणा और द्वेष की भावना पनपी। यही कारण है कि ब्रिटिश संसद ने शासन में सुधार लाने के लिए अनेक कदम उठाए उनमें प्रमुख हैं -

- 1773 का रेगुलेंटिंग एक्ट
- 1784 में पिट का भारतीय अधिनियम

इस तरह 1993, 1813, 1833, 1853 का चार्टर एक्ट भी इस दिशा में सराहनीय कदम था। क्योंकि, 1770 से 1857 के बीच भारत 12 बड़े अकाल पड़े एवं अनेक छोटे अकाल पड़े। तकरीबन 19 वीं सदी के पूर्वाद्ध में 15 लाख लोग मरे और उत्तराद्ध में 2 करोड़ 85 लाख लोग मरे।³

अतएव जनसाधारण का अंग्रेजों के प्रति विद्रोह का तिथि वार जिक्र आवश्यक है - संन्यासी विद्रोह (1770), राजा विजय नगर विद्रोह (1794), कौल विद्रोह (1820-50), पागलपंथी विद्रोह (1825), बिहार और बंगाल की संधाल जातियों का विद्रोह (1853-56) आदि।

इस तरह 1857 के विद्रोह की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जनक्रांति का मिशाल था। इतिहासकार विपिन चन्द्र ने लिखा है - “1857 का विद्रोह सिपाहियों के असंतोष का परिणाम मात्र नहीं था। वास्तव में यह औपनिवेशिक शासन के चरित्र उनकी नीतियों, उसके कारण कंपनी के शासन के प्रति जनता के संचित असंतोष का और विदेशी शासन के प्रति उनकी घृणा का परिणाम था।”⁴

1857 के विद्रोह का सिंहावलोकन करने पर हम पाते हैं कि निम्नांकित क्रांतिकारियों के योगदान इतिहास के पन्नों में स्वर्णांकित हैं -

1. बहादूरशाह जफर (1775-1862) :

31 मई 1857 को देशव्यापी जनक्रांति के अग्रदूत थे। 24 सितम्बर, 1857 को इन्हें अंग्रेजों ने बन्दी बनाकर रंगून भेज दिया, जहाँ 7 दिसम्बर 1862 को इनकी मृत्यु हुई।

2. नानासाहेब पेशवा :

1824 ई में महाराष्ट्र के वेपुगाँव में जन्म हुआ था। माधवराव नारायण भट्ट इनके पिता तथा माता का नाम गंगाबाई। 7 जून 1828 को बाजीराव ने इन्हें गोद लिया। 28 फरवरी, 1851 को उत्तराधिकारी का पद संभाला। उनके दीवान अल्ला जी मुन्ना ने उनका अन्त तक साथ दिया तथा स्वतंत्रता संग्राम के शंखनाद में इनका सर्वोच्च स्थान है।

3. लक्ष्मीबाई :

16 मई 1835 में जन्म हुआ। पिता का नाम मोरोपंत, माता का भागीरथी बाई। मनु उर्फ लक्ष्मी बाई का विवाह 1842 में झांसी के राजा गंगाधर राव से, लेकिन 1851 में उनकी मृत्यु हो गई। मनु उर्फ लक्ष्मीबाई के दत्तक पुत्र दामोदर राव को अंग्रेजों ने उनका उत्तराधिकारी मानने से इन्कार किया। रानी लक्ष्मीबाई का बलिदान भारतीय इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में अंकित है।

4. तात्या टोपे :

1814 में जन्मे एक महान कूटनीतिज्ञ सेनापति थे। इनको फांसी इनके मित्र मानसिंह द्वारा अंग्रेजों के छल-कपट द्वारा हुआ।

5. वीरकुँवर सिंह :

वीरकुँवर सिंह गुरिल्ला युद्ध में माहिर थे। बुढ़ापे के बावजूद उनमें जोश-खगोश की कोई कमी नहीं थी। इस मामले में वे आज के युवाओं के लिए प्रेरणास्रोत बन सकते हैं। उनका कथन था कि जबतक देह में एक बूंद भी खून रहेगा, वे फिरंगियों का मुकाबला करते रहेंगे। घाघरा नदी के पार डगलस के साथ मुठभेड़ हुई। जब गंगानदी में नाव से पार कर रहे थे गोली इनके हाथ में लगी इन्होंने हाथ को काटकर गंगा में समर्पित कर दिया। इस तरह 26 अप्रैल 1858 को इनका देहावसान हुआ।

इनके अतिरिक्त प्रथम स्वतंत्रता के संग्राम के महिलाओं की भूमिका भी अग्रगण्य रही हैं :

1857 के स्वतंत्रता संग्राम में बेगम जीनत महल का योगदान महारानी लक्ष्मीबाई की तरह ख्याति प्राप्त है। सरकार ने इन्हें 19 सितम्बर 1857 में बहादुर शाह को नजरबंद किया और जीनत महल पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया। इतिहासकारों का कहना है कि जीनत महल बादशाह को परदे के पीछे से सलाह मशविरा दिया करती थीं। इसके अतिरिक्त कुछ भूली विसरी क्रांतिकारी महिलाएँ भी 1857 के विद्रोह में फाँसी के तख्ते पर झूलीं, जिनमें प्रमुख है - आशा देवी, भगवती भगवानी हबीबा, जमीला, इन्द्रकौर मामकौर, रहीमी, राजकौर, रणवीर, शोभा देवी, देवरिया की देवी रानी। उत्तरप्रदेश के मुजफ्फनगर के असगरी बेगम को जिंदा जला दिया और यहीं के भगवती देवी को गोली मार दी गई। प्रथम शहीद मंगल पाण्डे पर मुकदमा चलाया गया और 1857 को फाँसी दे दी गई। बिहार के अमर सिंह एक उद्भूत वीर, कुशल योद्धा थे। यद्यपि अंग्रेजों द्वारा अमर सिंह पकड़े नहीं गए थे। उनका अंतिम दिन कहाँ बीता इसका कोई ठोस साक्ष्य नहीं है, लेकिन 5 फरवरी, 1860 को पेचिस के कारण उनकी मृत्यु हो गई। बिहार के अन्य क्रांतिकारी पीर अली लखनऊ के निवासी थे। लेकिन पटना में आकर बस गए। अंग्रेज कमीशनर टेलर ने स्वयं लिखा है कि पीर अली एक वीर व्यक्ति था। इन्होंने हँसते-हँसते मृत्यु का आलिगन किया। अजीमुल्ला खाँ भी क्रांति के आधार स्तंभ थे। इन्होंने रंगो बापू से मिलकर भावी राष्ट्रीय क्रांति की योजना बनाई। नेपाल के राजा जंगबहादुर ने अंग्रेजों से मिलकर इनके जीवन लीला को समाप्त कराया। अतः इसके बलिदान को भूलना एक बेईमानी होगी। इसी कड़ी में वारिश अली ने भी संग्राम में बड़ी भूमिका अदा की। इनपर भी राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया और 6 जुलाई 1857 को फाँसी पर लटकाया गया। राणावेनी माधव सिंह राजपूतो के सरदार थे। इनके पास चार हजार सैनिक, दो हजार घोड़े तथा चालीस तोपे थीं। ये युद्ध में पराजित होकर नेपाल में छिप गए लेकिन नेपाल के राजा जंगबहादुर, जो अंग्रेजों के मित्र था, की सेना से लड़ते-लड़ते मर गये। 1857 के इसी संग्राम में वृदावन्द्र तिवारी प्रमुख थे। इन्हें भी 8 जून 1857 को फाँसी पर लटका दिया गया। एक घुमक्कर साधू बंसूरिया बाबा भी प्रमुख हैं। कहते हैं कि “संत न होते तो जल जाता संसार, ये बाबू वीर कुँवर सिंह के भी उपदेशक थे। इसी कड़ी में इश्वरीय पाण्डेय को सैनिक अदालत ने 22 अप्रैल 1857 को फाँसी पर लटका दिया गया। बलिदार खान गौर राजा शंकर साह भी स्वतंत्रता संग्राम के प्रमुख योद्धा थे। मौलवी अहमद शाह अद्भुत व्यक्ति थे महान देश भक्त भी थे।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 1857 का स्वतंत्रता संग्राम सफल नहीं रहा, फिर भी इतिहास का एक शानदार पड़ाव है। विपिन चन्द्र ने लिखा है “सन् 1857 के वीरतापूर्ण तथा देश भक्ति विद्रोह ने तथा उसके पहले के अनेकों विद्रोहों ने भारतीय जनता के मन पर एक अमिट छाप छोड़ी। उन्होंने ब्रिटिश शासन के प्रतिरोध की शानदार स्थानीय परंपराएँ कायम की तथा आगे के स्वाधीनता संग्राम में भारतीय

जनता के लिए प्रेरणा का एक अक्षुण्ण स्रोत प्रदान किया। इस विद्रोह के वीरों की गाथाएँ जल्द ही घर-घर में गूँजने लगी। भले ही उनके नामों के उच्चारण मात्र से शासक बौखलाते रहे हों”⁵

यह सर्वविदित है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना दिसम्बर 1885 में हुई। इस स्थापना का राज बड़ा ही रहस्यपूर्ण है। एक अवकाश प्राप्त अंग्रेज ए. ओ. ह्यूम ने इसे स्थापित किया। कांग्रेस की स्थापना ह्यूम की दूरदर्शी सोच का परिणाम है। वस्तुतः भारत में जन आक्रोश चरम पर था। लोगों का गुस्सा इस कदर था कि विस्फोट अवश्यभावी लगता था। अस्तु, अंग्रेज अफसर द्वारा तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन के ही इशारे पर राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म होता है। इसके पीछे यह भावना थी कि जनता के बढ़ते आक्रोश को रोका जा सके। और अंग्रेजी हुकूमत को बचाने के लिए राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे संस्था का इस्तेमाल हितकर साबित होगा।

दूसरी सच्चाई इसके पीछे यह भी है कि भारतीय सुधारवादी आंदोलन में भी लोगों में राष्ट्रीय चेतना जगायी, जिसके फलस्वरूप अंग्रेजों को ऐसी संस्था का निर्माण करना आवश्यक प्रतीत हुआ। इस तरह की चर्चा वीपीन चन्द्र ने अपनी पुस्तक भारत का स्वतंत्रता संघर्ष में की है। वेडरबर्न की किताब के भारतीय धार्मिक नेता शीर्षक से छपे अध्याय के है इस अध्याय की शुरुआत में ही वेडरबर्न ने लिखा है कि आसन्न खतरे की एक चेतावनी ए. ओ. ह्यूम को अति विशेष स्रोत से मिली।⁶

अतएव महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना मुख्य ध्येय अंग्रेजी हुकूमत को आसान तरीके से चलाना एवं गुप्तचर की तरह इसे इस्तेमाल करना था। लेकिन वैसा नहीं हो सका। जैसे एक भिखारी को छत पर से एक सिक्का इस कदर छोड़ा गया कि उसका सिर फट जाये, लेकिन वह सिक्का उसके झोली में जा गिरा यही बात राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का भी है। लेकिन भारत के समाजसुधार आंदोलन भारत के तमाम लोगों को एक राष्ट्रीयता की चेतना उभारा। 1828 का ब्रह्म समाज की अभिव्यक्ति इसका ही द्योतक है 1843 ई० में बंगाल में ‘ब्रिटिश’ इण्डिया सोसाईटी सभी वर्गों के हित को ध्यान में रखकर मार्ग प्रशस्त किया। 1876 में ही आनन्द मोहन बोस के नेतृत्व में इण्डियन एसोसियेशन का गठन। 1883 ई० में इण्डियन एसोसियेशन ने अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया था। ये सभी के सभी राजनैतिक एवं सामाजिक जागृति के अन्वेषक बने। इस तरह कांग्रेस की स्थापना का सच भूत के प्रयत्नों की परिणति थी इस बात की पुष्टि प्रो. विपीन चन्द्र के कथन से होती है।”

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना न तो अप्रत्याशित घटना थी और न ही कोई ऐतिहासिक दुर्घटना। 1860 और 1870 के दशक से ही भारतीयों में राजनैतिक चेतना पनपने लगी थी कांग्रेसी की स्थापना इस बढ़ती चेतना की पराकाष्ठा थी।⁷

रजनी पामदत्त भी इस बात से सहमत है कि कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश सरकार के सीधे नेतृत्व में गुप्त ढंग से बनी थी, लेकिन इसका मकसद था कि ब्रिटिश शासन को सफल बना कर स्थायित्व प्रदान करना; जैसा कि रजनी पामदत्त का कथन है कि इसके पीछे इरादा यह था कि जनता के बीच बढ़ते हुए असंतोष और ब्रिटिश विरोधी भावना से अंग्रेजी हुकूमत को बचाने के लिए इस नई संस्था का इस्तेमाल किया जाए।⁸

ब्रिटिश शासन ने 1857 के विद्रोहों को बड़े निर्दय पूर्वक दमन किया था इसकी पृष्ठभूमि में भी मानव समुदाय संगठित का पाठ पढ़ाया। पुखराज जैन ने अपनी पुस्तक में हवाला देते हुए कहा है “ब्रिटिश शासन ने 1857 के जन विद्रोह का दमन करने में अमानुषिक कार्यवाही की थी दमन के दौरान

गाँव जला दिए गए और निर्दोष गाँव वालों का कल्लेआम किया गया। दमन की अमानुषिक कार्यवाही ने जनता के असंतोष को पहले से बढ़ा दिया गया इन अत्याचारों ने सभी भारतीयों के मन में यह भावना भर दी की संगठित होकर अंग्रेजी शासन को समाप्त करने की चेष्टा पुनः की जानी चाहिए।⁹

अन्त में निष्कर्ष के तौर पर हम यह कह सकते हैं कि सबकुछ को बिसरा देनेवाला एक ही गीत गूँजना था।

बजो रणभेरी, जगा बेटों को,
मातृभूमि हित संग्राम छिड़ा।
सब है स्वतंत्र, आज नव सूर्य उगा।
जग गये सभी गर्व से भाल उतुंग उठा।
भारतवर्ष अब फुफकार उठेगा।
क्रोधानल में सब होगा स्वाहा
बंगला कवि हेमचन्द्र वंद्योपाध्याय का एक गीत। (1838-1903)

संदर्भ:

1. वीर विनायक दामोदर सावरकर की पुस्तक “1857 का भारतीय स्वतंत्रता समर” पृष्ठ 13, पाद टिप्पणी देखें पुखराज जैन की पुस्तक ‘स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास’ प्रकाशक एस. चन्द्र एंड कम्पनी, प्रा. लि., यमनगर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1988, पृष्ठ संख्या 15.
2. डॉ. ईश्वरी प्रसाद, अर्वाचीन भारत का इतिहास, पृ. 303
3. रजनी पाम दत्त, आज का भारत, मैकमिलन पब्लिशर्स, इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली 1977 पृ. 326.
4. विपीन चंद्र, आधुनिक भारत, अनुवादक : श्याम बिहारी कश्यप, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, मई 1990, नई दिल्ली पृष्ठ 108
5. विपीन चंद्र, आधुनिक भारत, म. शै. अनु. और प्रशि. परिषद्, अनुवादक : श्याम बिहारी, मई 1990, नई दिल्ली, पृ. 125.
6. विपीन चंद्र “भारत का स्वतंत्रता संघर्ष” हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 1990 पृष्ठ संख्या 33
7. विपीन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, वही।
8. रजनी पाम दत्त, आज का भारत, मैकमिल पब्लिशर्स ई. लिमिटेड, 1977 पृ. संख्या 320.
9. पुखराज जैन, स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, एस. चन्द्र एण्ड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण-1988, पृष्ठ 38
10. पाद टिप्पणी, मोतीलाल नेहरू में इतना साहस आ जाना कि आनंद भवन के ऐश्वर्यपूर्ण और शांत जीवन को टुकरा दे और बेटे जवाहरलाल की सहमति से इस भवन को, जिसे आगे चलकर स्वराज्य भवन कहलाना था, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भेंट कर दें। देखें पृष्ठ-15 अ-गोरेव व0 जिम्यानिन” नेहरू एक जीवनी अनुवादक बुद्धि प्रसाद भट्ट, प्रगति प्रकाशन 1982 पृष्ठ : 15



बिहार का गठन और राजनीतिक लामबंदी

□ अर्चना कुमारी

भारत एक विशाल प्रजातांत्रिक देश है। यहाँ विविधता चारों ओर दिखाई देती है। इस देश में कई समुदाय एवं जाति, धर्म के लोग रहते हैं और इसका गठन कई राज्यों को मिलाकर किया गया है, जिसके कारण भारत के कई राज्यों की सीमाएँ कई बार परिवर्तित हुई हैं। उनमें से बिहार अग्रगण्य है। बिहार की राजनीतिक, भौगोलिक और प्रशासनिक सीमाओं के अतिरिक्त उसके अधिकार में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है, जिसका मुख्य कारण राजनीतिक शक्तियों की लामबंदी है।

राजनीतिक लामबंदी संचार के उस व्यवस्था का ज्ञान है, जिसके माध्यम से राजनीतिक अभिजन, राष्ट्रीय या प्रांतीय निर्णय-निर्माता जनता को या मतदाताओं को उनकी आवश्यकताओं, उद्देश्य एवं आकांक्षाओं की प्राप्ति के लिए जागृत करते हैं। राजनीतिक लामबंदी का अर्थ समाजिक संसाधनों का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों को उपार्जित करने के लिए करना है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशियाई एवं अफ्रीकी बहुत से राष्ट्र स्वतंत्र हुए। जिसके पश्चात राजनीतिक परिवर्तन एवं विकास को भी अध्ययन का विषय बनाया गया। परिवर्तन के पूर्व लामबंदी की अहम भूमिका होती है। डेविड ए. विल्सन ने इसे राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया के रूप में दर्शाया है। लामबंदी की प्रक्रिया मानवीय कर्म शक्ति का पूरा उपयोग करता है और सहभागियों को नए मानसिक संदर्भों, विश्वासों, मूल्यों और संगठनों को समझने की दिशा प्रदान करता है तथा अंततः राष्ट्र का निर्माण करता है।¹ बिहार की राजनीतिक सीमाएँ पिछले कई दशकों में कई बार परिवर्तित हुई हैं। इसका मुख्य कारण राजनीतिक लामबंदी है, क्योंकि बिहार का उद्भव सन 1905 में राष्ट्र चेतना के उद्भव तथा प्रसार के कारण अंग्रेज सरकार अत्यधिक चिंतित थी। इस सैलाब को रोकने के लिए राष्ट्रीय गतिविधियों के केन्द्र बंगाल को लार्ड कर्जन ने 7 जुलाई 1905 को दो प्रान्तों पश्चिम बंगाल और पूर्वी बंगाल में विभाजित करने की घोषणा की। पश्चिम बंगाल में बिहार, उड़िसा तथा पूर्वी बंगाल में असम को शामिल किया गया। प्रशासनिक रूप से विभाजन की घोषणा 20 जुलाई 1905 को किया गया, इसके पीछे प्रांतों का बटवारा का मुख्य कारण इसके बड़ा होना बताया गया। यह अंग्रेजों का भारतीयों द्वारा लामबंदी छल्लयोजित संचार को खत्म करने के उद्देश्य से की गई कार्रवाई का नतीजा था।² अंग्रेजी शासन के कारण बिहार पीछे जा रहा था इस समय बंगाल विभाजन लोगों के दिमाग में घर कर गया इस समय बिहार की शासन-व्यवस्था काफी खराब हो चुकी थी। इसी समय 1889 सचिदानंद सिन्हा ने बिहार को एक अलग राज्य का दर्जा दिलाने का प्रयास शुरू कर दिया।³ बिहार को एक अलग राज्य का दर्जा दिलाने में बिहार टाइम्स के प्रकाशित होने से जन संचार काफी तेज हो गया। महेश नारायण एवं सच्चिदानंद सिन्हा के द्वारा 1994 ई. में तत्कालीन गवर्नर (उप-राज्यपाल) सर चार्ल्स इलियट को सौंपे गए एक ज्ञापन के द्वारा बिहार को पृथक करने की माँग की गई, जिसे उन्होंने अस्वीकार दिया। ऐसा होने के बाद पृथक बिहार की माँग में और तीव्रता आ गई।⁴ 1903 ई. में लार्ड कर्जन बंगाल

का विभाजन करना चाहता था। इसका विरोध संपूर्ण भारत में हुआ 1904 ई. में डा. सचिदानंद सिन्हा ने हिन्दुस्तान रिव्यू में एक लेख प्रकाशित किया - 'दि पार्टिशन ऑफ दि लोअर प्रोविन्सेज एन अल्टरनेटिव प्रोपोजल'। 1905 में महेश नारायण ने दूसरा लेख प्रकाशित किया। इन्हीं लेखों के आधार पर एक पुस्तक की रचना की गई। 1906 ई. में राजेन्द्र प्रसाद के द्वारा पटना में बिहारी छात्र सम्मेलन का आयोजन हुआ। मजहूरूल हक अली इमाम और हसन इमाम ने पृथक बिहार के निर्माण की माँग को प्रस्तुत करने में सहयोग किया। इससे बिहार को अलग प्रांत के रूप में स्थापित करने का प्रयास और अधिक तीव्र हुआ। यह एक राजनीतिक लामबंदी का परिणाम था। बिहार प्रादेशिक सम्मेलन में बिहार राज्य बनाने की माँग की गई 12 दिसम्बर 1912 में शाही दरबार में अलग प्रांत बनाने की घोषणा की गई।⁵ बिहार और उड़ीसा को सम्मिलित बिहार प्रांत की घोषणा के बाद 1 अप्रैल 1912 को इसका विधि पूर्वक उदघाटन हुआ। बिहार की राजधानी पटना को बनाया गया। बिहार को एक बार फिर पृथक प्रांत बनाकर एक स्वतंत्र राजनीतिक और प्रशासनिक मान्यता प्रदान किया गया इसमें छोटानागपुर और मैदानी भाग एक रखा गया 1948 ई. में सराइकेला तथा खाड़सावाँ को बिहार का अंग बनाया गया। 1956 ई. में भारतीय राज्यों का पुर्नगठन हुआ फिर इसके भौगोलिक क्षेत्र में परिवर्तन के कारण राजनीतिक परिवर्तन भी हुआ। पूर्णियाँ और मानभूम के कुछ हिस्से बंगाल की सीमा में आ गए। बिहार में चार कमिश्नरी और 16 जिले थे। 1972-73 में बिहार राज्य का पुर्नगठन हुआ इसके बाद 5 प्रमंडल और 33 जिले हुए। यहाँ विभाजन और पुर्नगठन एक बार फिर 1997-98 ई. में 13 कमिश्नरी और 54 जिले हुए।⁶ 15 नवम्बर 2000 ई. को बिहार के मानचित्र में एक बार बदलाव आया। राजनीतिक, भौगोलिक और प्रशासनिक बदलाव भी हुआ। यहाँ एक बार फिर से जनजातीय गुटबंदी और आदिवासी पिछड़े लोगों के हित के लिए किया गया राजनीतिक लामबंदी संचार का उदाहरण है। जो कि अपने क्षेत्र और समाज के उत्थान, विकास को मुद्दा बनाकर इसका विभाजन किया गया। 28वें राज्य के रूप में झारखण्ड को बिहार राज्य से पृथक कर बनाया गया। छोटा नागपुर के पठारी भू-खण्ड और इसके सम्बद्ध जनजातीय बाहुल्य आबादी वाले क्षेत्र को झारखण्ड नामक नए राज्य में संगठित किया गया है।⁷

वर्तमान में बिहार राज्य व्यवस्था चरणबद्ध तरीके से विकसित हुई है। और यह भारत के राज्य व्यापी व्यवस्था का एक अभिन्न अंग है। सन 1912 में बिहार-उड़ीसा बंगाल से अलग हुए। यहाँ का शासन व्यवस्था लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के ऊपर छोड़ा गया और शासन संबंधी कार्यों में सलाह देने के लिए एक व्यवस्थापिका सभा थी। उसके उपरांत 1919 ई. में और 1935 ई. के भारत सरकार अधिनियमों के प्रांतीय शासन से संबंधित प्रावधानों का बिहार के प्रशासन में भी क्रियान्वयन हुआ। 1947 ई. में आजादी मिलने के उपरांत भारतीय संविधान की रचना हुई तथा 26 जनवरी 1950 ई. को लागू कर दिया गया। और भारत के लिए संघीय व्यवस्था निर्धारित किया गया। वर्तमान में बिहार का राज्य व्यवस्था संविधान के ही प्रावधानों पर आधारित है।⁸ सन् 1936 को अप्रैल से उड़ीसा बिहार से अलग कर दिया गया और बिहार एक अकेला प्रांत रह गया। सन् 1937 में नया शासन सुधार लागू हुआ। इसके अनुसार द्वैध शासन खत्म कर दिया गया। नए विधान ने राज्यों को न सिर्फ वित्तीय, प्रशासनिक एवं विधान संबंधी स्वतंत्रता प्रदान की, अपितु ग्यारह में से छः राज्यों में विधान सभा के गठन का भी प्रावधान किया। प्रांत में एक के बदले दो व्यवस्थापिका सभाएँ कायम हुईं। निचली सभा का नाम लेजिस्लेटिव एसेम्बली और ऊपर की सभा को लेजिस्लेटिव कौंसिल प्रांतीय एसेम्बली के 152 सीटों की व्यवस्था की गयी तथा लेजिस्लेटिव कौंसिल 30 सीटों की व्यवस्था की गई।⁹ इस विधान के अंतर्गत बिहार में पहले विधानसभा

के लिए चुनाव 1937 ई. में हुआ। राज्य में 152 में से 70 निर्वाचन क्षेत्र सामान्य नागरिकों के लिए 15 अनुसूचित जाति, 7 अनुसूचित जनजाति, 39 मुस्लिम, 4 महिला, 2 एंग्लो इन्डियन समुदाय, 2 यूरोपीय समुदाय तथा 13 विशिष्ट क्षेत्र व्यवस्था उद्योग बगान, भू स्वामियों, विश्वविद्यालय शिक्षक तथा भारतीय मूल के इसाईयों के लिए स्थान आरक्षित किए गए। सन 1934 के निर्वाचन में श्री डब्ल्यू जी. लेसी थे। इस चुनाव में 98 स्थानों पर उन्होंने सफलता प्राप्त की। मुस्लिम लीग 20 स्थानों के साथ दूसरी सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरी श्री कृष्ण सिंह कांग्रेस के नेता चुने गए। कांग्रेस हाईकमान की आज्ञा अनुसार श्री कृष्ण सिंह ने मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त होने से पहले सरकार से राजनीतिक स्वायतता के आश्वासन की मांग की। तत्कालीन गवर्नर के नकारात्मक रवैये से दुखी होकर श्री कृष्ण सिंह ने मंत्रीमंडल बनाने से इंकार कर दिया।¹⁰ इस स्थिति को खत्म करने के लिए इंडिपेन्डेंस पार्टी के श्री मोहम्मद युनुस के मार्च 1937 ई. में एक कार्यकारी सरकार बनाने का भार सौंपा गया। इस तरह श्री युनुस बिहार के प्रथम मुख्यमंत्री बने। उस समय में प्रांतीय मुख्यमंत्री के लिए प्रधानमंत्री का पद प्रत्युक्त होता था। किन्तु मुख्यमंत्री युनुस विधान सभा की बैठक नहीं बुला सके और न ही सदस्यों के शपथ ग्रहण की अवधि निश्चित कर सके। कांग्रेस हाईकमान और गवर्नर जेनरल इन दोनों में सहमति हो जाने के उपरांत 20 जुलाई 1937 ई. को श्री कृष्ण सिंह के नेतृत्व में बिहार में प्रथम कांग्रेस सरकार का गठन हुआ।

डा. सच्चिदानन्द सिन्हा बिहार विधान सभा के पोटेम स्पीकर नियुक्त हुए। 23 जुलाई 1937 को श्री रामदयालु सिन्हा को अध्यक्ष चुना गया। 31 अक्टूबर 1939 ई. को भारत को द्वितीय विश्वयुद्ध में बिना सहमति के सम्मिलित किए जाने के मुद्दे को लेकर सभी कांग्रेसी सरकारों ने अपना विरोध जाहिर करते हुए इस्तीफा दे दिया और राज्य विधान सभा भंग कर दी गई। 1939 ई. से 1945 तक विधान सभा के अन्तर्गत पुनः 1946 में चुनाव हुआ और फिर अप्रैल 1946 ई. में श्री कृष्ण सिंह ने बिहार के मुख्य मंत्री का पद संभाला। इस विधान सभा से संविधान सभा के लिए 36 सदस्यों का निर्वाचन हुआ। जिसमें डा. सरोजनी नायडु, डा. सच्चिदानन्द सिन्हा, डा. राजेन्द्र प्रसाद, श्री जगजीवन राम तथा श्री तजझूल हुसैन के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात प्रथम आम चुनाव 1952 में हुआ। जिसमें विधान सभा के सदस्यों की संख्या 350 निर्धारित की गई थी। एक मनोनीत सदस्य का भी प्रावधान था। श्री कृष्ण सिंह ने मुख्यमंत्री का कार्य भार संभाला और जीवन पर्यंत (31 जनवरी, 1961 तक) राज्य के मुख्यमंत्री बने रहे।¹¹

निष्कर्षतः राजनीतिक लामबंदी के द्वारा समाजिक, भौगोलिक, राज्यव्यवस्था कैसे प्रभावित होती है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजनीतिक लामबंदी संचार द्वारा राज्य, राष्ट्र के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जो बिहार के गठन और राज्यव्यवस्था में दिखती है। कई बार बिहार की सीमा रेखा में परिवर्तन विभाजन इसका उदाहरण है। बिहार में 1947 से 1967 के राजनीतिक लामबंदी प्रक्रिया को हम कांग्रेस के एकाधिकार युग के रूप में देखते हैं। यह एक ऐसा दौर था। जहाँ केन्द्र में भी कांग्रेस का वर्चस्व था। वही प्रान्तीय शासन में भी इसका एकाधिकार था।

संदर्भ:

1. शशि शर्मा, राजनीतिक समाजशास्त्र की रूप रेखा, PHi- Learning Private Limited, पृ. संख्या 499
2. रविन्द्र कुमार वर्मा, डाइमेन्सन ऑफ स्टेट ए स्टडी आफ बिहार पोलिटिकल सिस्टम, अनीता प्रिंटिंग प्रेस पटना पृ. संख्या 17

3. विश्वेश्वर दास, राकेश बहादुर सिंह, विफल कुमार मिश्रा, बिहार एक परिचय, जी.बी.ए. प्रकाशन, पटना, 2007, पृ. 36
4. नन्देश्वर शर्मा, बिहार की भौगोलिक समीक्षा, वसुन्धरा प्रकाशन, पृ. संख्या 2
5. विश्वेश्वर दास, राकेश बहादुर सिंह विजय कुमार मिश्रा बिहार एक परिचय, पृ. संख्या 36
6. विश्वेश्वर दास, राकेश बहादुर सिंह, विजय कुमार मिश्रा, बिहार एक परिचय, पृ. संख्या 37
7. कुमार परमानन्द मिश्र, रत्नासागर समान्य ज्ञान, रश्मि प्रकाशन, 2005, पृ. संख्या 478
8. इमत्याज अहमद, कमर अहसन, बिहार एक परिचय नेशनल प्रकाशन, पृ संख्या 125
9. आर.सी. अग्रवाल, भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, एस. चन्द्रा प्रकाशन नई दिल्ली 2001, पृ. संख्या 305, 306, 309
10. गदाधर प्रसाद, बिहार-दर्पण, ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर प्रकाशन, विक्रम संवत् 1996 पृ. संख्या 169, 170, 171
11. विजय कुमार मिश्रा, राकेश बहादुर सिंह विश्वेश्वर दास, बिहार : एक परिचय, जी.बी.ए. प्रकाशन पटना पृ. 433



भारत में प्रजनन की स्थिति : दशा और गति

□ संगीता कुमारी

भारत की जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्ति की तरफ ध्यान दिया जाए तो स्पष्ट होता है कि भारत की जनसंख्या संबंधी स्थिति वास्तव में भयावह है। भारत की जनसंख्या वर्ष 1996 की जनगणना के अनुसार 84.6 करोड़ थी जो बढ़कर 2001 में 102.7 करोड़ हो गयी। भारत से अधिक जनसंख्या वाला दुनिया में एक ही देश है वह है- चीन। भारत की जनसंख्या के वृहत आकर का अनुमान हम इस तथ्य से लगा सकते हैं कि उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका दोनों की जनसंख्या मिलाकर भी भारत की जनसंख्या से कम है। अकेले उतरप्रदेश की जनसंख्या ब्रिटेन की जनसंख्या से ढाई गुणा से भी अधिक है। वास्तव में पृथ्वी पर हर 'छठवाँ व्यक्ति' भारतीय है।

भारत को जनसंख्या वृद्धि दर वास्तव में सनसनी पैदा कर देने वाली है। यहाँ जनसंख्या वृद्धि की दर भारत के अपने जनांकिकीय इतिहास के लिए भी भयानक और अभूतपूर्ण है। 1981 से 2001 तक के केवल 20 वर्षों में भारत की जनसंख्या वृद्धि इसकी उस जनसंख्या से अधिक थी जो की मानव के आदि काल से 1941 तक भारत में हो पायी थी। 1981 में जनसंख्या 68.4 करोड़ थी जो 2001 में बढ़कर 102.7 करोड़ हो गयी। वही 2011 में यह करीब सवा करोड़ हो गयी है। इस प्रकार यह 30 वर्षों में यह 56.4 करोड़ कि वृद्धि हो गई है। (सिंह, 2006)

भारत की जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है। यह तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या देश के आर्थिक विकास में प्रमुख अवरोध बन कर खड़ी हो गई है। तीव्र गति से बढ़ती इस जनसंख्या के परिणाम स्वरूप नियोजित आर्थिक विकास के प्रयास निष्फल सिद्ध हो रहे हैं तथा देश में भोजन, वस्त्र तथा आवास की कमी की समस्या विकराल होती जा रही है। अदभुत औषिधियों के अन्वेषण और आर्थिक संपन्नता के सतत सुधार के फलस्वरूप मृत्यु की सम्भावना आश्चर्यजनक रूप से घटती जा रही है। परन्तु उसी अनुपात में प्रजनन दर में कमी दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। फलस्वरूप जनसंख्या में अभूतपूर्व वृद्धि होती जा रही है। मृत्युदर घट गयी है और घटती जा रही है अतः जनसंख्या वृद्धि दर को घटाने के लिये जन्म दर को भी उतना ही अधिक घटाना होगा। इस तरह विगत कुछ वर्षों एवं आने वाले वर्षों में जनसंख्या वृद्धि की दर प्रजनन दर पर निर्भर करेगी। भारत में विवेकपूर्ण जनसंख्या नियोजन एक तात्कालिक आवश्यकता है अन्यथा जनसंख्या वृद्धि आर्थिक प्रगति को पुरी तरह निगल जाएगी। गरीबी के विरुद्ध संघर्ष करने एवं आर्थिक संवृद्धि के प्रयास के सफलता प्राप्ति के उद्देश्य से भारत सरकार ने जनसंख्या वृद्धि दर पर नियंत्रण हेतु राष्ट्रीय कार्यक्रम अपनाया तथा एक उद्देश्यपूर्ण, सघन एवं सतत अभियान चला रखा है। इस कार्यक्रम पर अब तक अरबों रुपये व्यय किए जा चुके हैं तथा लोगों को अनेक तरह के प्रलोभन दिए जा रहे हैं तथा लोगों को जन्म रोकने के लिए प्रेरित करने का प्रयास किए जा रहे हैं, परन्तु जनसंख्या वृद्धि की दर में कोई कमी दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। इसका तर्क संगत कारण

यही है कि जनसाधारण अभी भी इन कार्यक्रमों के प्रति उदासीन है तथा उसको अपनाने में आशा के अनुरूप उत्साह नहीं दिखा पा रहे हैं, अर्थात् लोगों में अभी भी चेतना एवं प्रेरणा का अभाव है। प्रजननता पर नियंत्रण करके अनचाहे जन्मों को रोका जा सकता है। इससे स्वतः ही परिवार का आकार सीमित हो जाएगा और अन्ततः जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित किया जा सकता है ।

भारत में जनसंख्या की वृद्धि-दर :

वर्ष	जनसंख्या (करोड़ में)	दशक	प्रति दशक (वृद्धि दर)
1901	23.84	1901-1910	5 .75
1911	25.21	1911-1921	0 .31
1921	25.13	1921-1931	11 .00
1931	27.90	1931-1941	14 .22
1941	31.87	1941-1951	13 .31
1951	36.11	1951-1961	21 .64
1961	43.92	1961-1971	24 .80
1971	54.82	1971-1981	24 .66
1981	68.33	1981-1991	23 .87
1991	84.64	1991-2001	21 .54
2006	102.87	-----	-----
2011	-----	-----	-----

Sources – (i) census of India 2001 (ii) India 2007 publication division

गिरती हुए मृत्यु दर का भारत में जनसंख्या वृद्धि और आर्थिक विकास ऊपर संभावित प्रभाव का स्पष्ट विवेचन कोल और हुपर के द्वारा किया गया है। उनका अनुमान है कि जन्म की जीवन संभावना 32 वर्षों (1951 से 1986) में दर्शाता है, जो कि 1986 तक जनसंख्या 775 मिलियन होगा यदि चालू प्रजनन दर में परिवर्तन नहीं हुआ तो यह संभावना व्यक्त किया था कि 1956-1981 या 1996-1981 के बीच में 50 प्रतिशत प्रजनन दर में कमी होगा तो जनसंख्या का स्वरूप 586 और 634 मिलियन होगा। यदि प्रजनन दर नहीं गिरा तो 1986 तक प्रति व्यक्ति आय 38 प्रतिशत होगा और यह 95 प्रतिशत तब होगा जब 1956 से प्रजनन दर में गिरावट का करण प्रारम्भ रहे। कोल और हुपर का संभावित जनसंख्या विश्लेषण काफी सटीक था।

भारत एक विकासशील देश है और जनसंख्या विस्फोट की गंभीर समस्या से जूझ रहा है। वर्ष 1981 से भारत की जनसंख्या 2.20 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हो रही है। 22 मिलियन बच्चों का जन्म भारत में प्रतिवर्ष हो रहा है, जबकि 8 मिलियन व्यक्ति ही प्रतिवर्ष मर रहे हैं। इस प्रकार भारतीय जनसंख्या में प्रतिवर्ष 14 मिलियन की वृद्धि हो रही है और भारतीय जनसंख्या में प्रतिवर्ष एक नया पंजाब जुड़ता जा रहा है।

भारत में जनसंख्या वृद्धि, मृत्यु दर, शिशु दर जीवन प्रत्याशा को निम्न सारणी द्वारा समझा जा सकता है।

भारत मृत्यु दर, शिशु दर और जीवन प्रत्याशा (1901-2006) :

प्रत्याशा	मृत्यु दर	शिशु मृत्यु दर	जीवन प्रत्याशा
1901-1910	42.6	287	23.80
1911-1920	48.6	291	22.95
1921-1930	36.3	241	23.71
1931-1940	31.2	211	26.73
1941-1950	27.4	183	31.37
1951-1960	18.0	146	32.05
1961-1970	19.2	129	41.27
1971-1980	15.0	84	46.35
1981-1990	11.4	77	53.40
1991-2000	8.2	68	61.25
2006	7.5	57	65.40

Sources – (i) census report and S.R.S Bulletin Jan Registrar General of India 2001

(ii) Economic survey, 2003-2004.

जनसंख्याशास्त्रियों के अनुसार निकट भविष्य में मृत्युदर में और अधिक गिरावट नहीं आयेगी। भविष्य में उच्च जन्म दर ही जनसंख्या वृद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगी। अतः जनसंख्या नियंत्रण के लिए आवश्यक है कि जन्म दर को नियंत्रित किया जाय। इसके लिए जैसे चरों पर नियंत्रण आवश्यक है जो प्रजननता को प्रभावित करते हैं। प्रजननता प्रत्यक्ष रूप से तीन चरों - सम्भोग, गर्भधारण और सफलतापूर्वक संतानोत्पत्ति से प्रभावित होते हैं। ये तीन चरों अनेक सामाजिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक कारकों से प्रभावित होते हैं और भारत जैसे देश जहाँ सामाजिक कारक के रूप में पुत्र प्राप्ति को मोक्ष का कारण बताया गया है इस कारण प्रजननता में वृद्धि होती है। वही सांस्कृतिक कारक भी उच्च प्रजननता को बढ़ावा देता है।

Reference

1. Satish Balram & señ ratio patterns in Indian population Afresh eñploration, new Delhi, Sage publication 2000.
2. B.K. Roy – Social Demography in India Trend Report In A survey of Research in Sociology and social Anthropology Vol -I, ICSSR, Publication.
3. Censuses of India 2001
4. Chandrasekher S& How India is tacking her population programme
5. Coole. A.J & E. M. Hoover - population growth and Economic development in low income countries
6. Census of India 1981
7. Economic survey 2003-2004
8. Human Development Report united nations development program Joñford university press oñford 1994, 2004.



शिवानी के उपन्यासों के प्रमुख नारी चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

□ ज्योतिर्मय

शिवानी के सभी उपन्यासों में नारी को प्रमुखता से दिखाया गया है। इनके सभी उपन्यासों में नारी चरित्र का विकास मनोवैज्ञानिक धरातल पर हुआ है। शिवानी जी अपने सभी उपन्यासों में नारी के विविध-समस्याओं को विविध-चरित्रों के माध्यम से सामने लेकर आती हैं। उनके नारी चरित्र 'कहीं अपनी पहचान बनाने में तमाम बाधाओं को लौघती हैं, कहीं वासना के खेल में होम होती हैं, तो कहीं अपने दायित्व को पुरा करने में अपनी सारी जिन्दगी दांव पर लगाती रहती हैं।'¹

शिवानी के उपन्यासों की प्रमुख नारी पात्र आधुनिक युग की नारी हैं। मगर भारतीय संस्कृति में जकड़ी हुई उन समस्याओं को भावनात्मक ढंग से भरा गया है। इनकी प्रमुख नारी पात्र शिक्षित और आत्म निर्भर होने के बावजूद उपन्यास में शुरू से अंत तक मन की व्यथा से पीड़ित है। इनके उपन्यासों में जो अशिक्षित नारी है वह बोलकर लड़कर अपने मन को शांत कर लेती है मगर शिक्षित नारियों को इन्होंने भारतीय संस्कृति की बेड़ी पहना रखी है। जो उपन्यास की महत्ता को बढ़ा देती है।

अन्य उपन्यासों की तरह शिवानी जी का उपन्यास भी पारंपारिक एवं सामयिक समस्याओं से जुड़ा है। सांस्कृतिक बर्बरता के युग में इनकी नायिका अपने आप को पीसती हैं। संदियों समाज और परिवार की व्यक्तित्वहीन इकाई रहने के बाद इंसानी शकल और पहचान बनाने में जुटी हुई हैं।

अतिथि की जया :

शिवानी की उपन्यास अतिथि की प्रमुख नायिका का चरित्र एक राजनैतिक परिवार के विरुद्ध एक चुनौती की कहानी है। जया एक मध्यम परिवार की सुशील और शिक्षित कन्या है। शिवानी जी अपने उपन्यास में जया को एक आदर्श पुत्री के रूप में दिखाया है। शादी की इच्छा न होते हुए भी उसे शादी करनी पड़ती है, वहाँ उसे आदर्श-पुत्री का रूप दिखाया है मन के अन्दर की इच्छाओं को दबाकर वह अपने जीवन को अपने माता-पिता की इच्छा के लिए कार्तिक से शादी करती है जो उसे शादी के पहले से पसंद नहीं था, जिसे वह शादी से पहले कह चुकी थी, "सुनिए मैं आपकी कोई भी बात सुनना नहीं चाहती। मुझे यदि आप मेरे उत्तर सुनने ही लाए थे तो अब आपने मेरा उत्तर पा लिया है। मुझे घर जाना है मुझे देर से घर पहुँचने की आदत नहीं अम्मा", और सहसा माँ का नाम लेते ही उसका गला भर आया, आँखों में विवशता के आंसू टपकने लगे।²

जया को विवशता में जीवन बीताने की क्या मजबूरी थी? भारतीय संस्कार ने उसके आचरण में शादी के सम्बन्ध अपनी कोई भी राय अपने ही माता-पिता को नहीं देना है वह उसके धार्मिक माता-पिता का दिया हुआ संस्कार था। जहाँ आज नारियों को स्वतंत्र रूप से जीने के लिए तलाक जैसे

हद तक गुजरना पड़ रहा है वही शिवानी जी की नायिका 'जया' अपने संस्कारों को अपनी मर्यादा को अपनी लज्जा को समेटे हुए अपने माता-पिता की इच्छाओं को सर्वोपरि मानती हैं।

प्राचीन युग में की सुशिक्षित बुद्धिमती नारी ने भी कहा था “यो माँ जयति संग्राये थे में दर्प व्यापोहति” जो मुझे संग्राय में हर ले, मेरा दर्प चुर कर दे उसी से विवाह करूँगी। यह धरना अस्त्र शस्त्र सज्जित बाहुबल से भी प्रिय था बौद्धिक शास्त्रार्थ में भी कहा गया है।³

आज शिक्षित नारी जिसका भरण-पोषण एक धार्मिक परिवेश में होता है वह अपने अन्दर अनेक कुण्ठाओं को दबाकर रखती है। अपनी स्वतंत्रता को अपनों के सामने रखने में डरती है, क्योंकि उसमें उसकी मर्यादा भंग होते हुए दिखता है और 'जया' भी इसी तरह की नायिका है जो अपने मन के अन्दर अनेक कष्टों को छिपा कर रखती है। माता-पिता के इच्छा के अनुसार जया की शादी कार्तिक से हो जाती है तब वह अपने पति के साथ एक आदर्श पत्नी के रूप में अपने ससुराल चली जाती है।

बल खुसरों घर आपनै :

सेवा, कर्तव्यबोध, प्रेम और समाजिक बंधनों के बीच घिरी 'कुमुद' इस उपन्यास की नायिका है, जो 600 रु० प्रति माह वेतन पर काम कर ही है। अपनी विधवा माँ, छोटी बहन उमा और छोटा भाई लालू के जीवन को चलाने के लिए। लेकिन अपने भाई बहन के कुकर्मों के कारण लखनऊ शहर कुमुद को छोड़ना पड़ता है वह एक वियावान स्टेशन के सन्नाटे में जाती है, जहाँ हर दिन दहशत से गुजरता है। परिवार की जरूरत, छोटे भाई बहन के भविष्य को देखते हुए कुमुद को छः सौ रु० से भी अधिक रुपयों की जरूरत थी मगर कुमुद को अपने को छोड़ लखनऊ शहर से कसबे उपन्यास के एक स्थल में अपने जीवन बिताने की मजबूरी बन जाती है। पिछले पन्द्रह दिनों के कटु अनुभवों ने उसे बुरी तरह तोड़कर रख दिया था। उदण्ड भाई की अवाध्यता, छोटी बहन का निर्लज्जय आचरण निरीह माँ की विवशता-किसी को भी व क्षमा नहीं कर पा रही थी। यह सब ना हुआ होता तो वह शायद लखनऊ कभी नहीं छोड़ती।⁴

जिस तरह से व्यक्ति की इच्छाओं की कोई सीमा नहीं होती उसी तरह समस्याओं की कोई सीमा नहीं होती व्यक्ति नित्य नयी इच्छाओं को जन्म देता है और नित्य नयी समस्याओं से घिरता है। घर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मन में कई तरह का बोझ लिए वह जीवन जीने के लिए मजबूर है उपन्यास में हर समय कुमुद की आत्म-पीड़ा दिखाई देती है।

उपन्यास में कुमुद की माँ के मुख से लेखिका कहती है, “तुने मुझे जो सुख दिया है कुमुद वह सुख तेरे बाबू जी भी मुझे कभी नहीं दे पाए। उनके पास इतनी रकम रहती ही कब थी? फिर एक ना एक रिश्तेदार हमेशा हमारा गाल-ग्रह बना रहा। दुख यही होता है कि अब जब तेरी कमाई ने सब सुख-साधन हमारे कर्तव्य पर रख दिए हैं तब भोगने को तेरे बाबूजी नहीं हैं।⁵

उपन्यास में कुमुद की छोटी बहन उमा की शादी बड़े धूम-धाम से हो जाती है कुमुद का मन खिन्न हो जाता है खिन्न होना स्वाभाविक है माँ बड़ी पुत्री को कौमार्य को बड़ी उत्साह से लाँघ माँ छोटी बहन के विवाह की योजना बड़े उत्साह से मनाने लगती है। कुमुद की आँखों में विवशता के आँसू झलक आये। जीवन में ऐसी असहाय स्थिति वह पहली बार अनुभव कर रही थी। यह उस नारी की अन्तर्व्यथा है जो प्रायः आज के समय में देखने को मिलती है। जो शिक्षित है तथा सेवा, प्रेम, कर्तव्य की भावना से भरी है लेकिन घटना चक्र उसके जीवन को उस मोड़ पर ला खड़ा कर दिया है, जहाँ सिर्फ घुटन ही घुटन है। जिसे हंस कर कुमुद स्वीकार रही है।

भैरवी :

उपन्यास की नायिका 'चन्दन' है। वह अपनी माँ के साथ कुमाऊँ के पहाड़ी प्रदेश में रहती है। लेखिका ने इस उपन्यास में निहायत खिन्न एवं अपरिचित परिवेश के माध्यम से 'चन्दन' के नवीन जीवन के अनुभवों को चित्रित किया है। सम्पूर्ण उपन्यास चन्दन की स्मृति कथा है। चन्दन एक सुशिक्षित और सौन्दर्य की स्वामिनी है। चन्दन संस्कारपूर्ण वातावरण में पली और बड़ी हुई थी। अपनी माँ के अनुशासन में रह कर चन्दन बाहर की दुनिया को समझ नहीं पायी थी। माँ के द्वार के बाद पति को घर ही उसका अपना है। यही शिक्षा दी गई थी। मगर पति के साथ ट्रेन में सफर के समय ही चन्दन का बलात्कार हो जाता है और वह गलानि और शर्म से अपना प्राण त्यागने के लिए चलती ट्रेन से कुद पड़ती है। अंत में भैरवी 'नन्द' के आश्रम में आ जाती है। जिस माहौल से वह परिचित न थी, उसे अचानक यह सब झेलना पड़ता है। वहाँ की जलती हुई धुनी, कड़वी दुर्गन्ध से दम घुटने लगता है। चन्दन वहाँ से भागना चाहती है मगर वह भागकर कहाँ जाएगी, यह प्रश्न उसके मन में बार-बार उठ रहा है क्योंकि शादी के बाद ससुराल ही उसका घर है उसे ऐसी शिक्षा मिलती है, ऐसा माँ और मामा ने कहा था। पति के घर जाने में संकोच हो रहा है, क्योंकि पति के सामने ही बदमाशों ने उसका बलात्कार किया था। अब किस मुँह से वह अपने पति के घर जायेगी। चन्दन के मन में प्रश्न बार-बार उठता है कि वह यहाँ कैसे पहुँची? चन्दन को मौन देखकर आश्रम में आने की कहानी आश्रम की सेविका चरन बताती है। चरन के शब्दों में, "तुम्हारा भाग्य अच्छा था, जो गुरु उस दिन शिवपुत्र के महाशमशान में, बट तले साधना करने चले गये थे। नवेन्दु घोषाल के जवान लड़के की अधजली चिता छोड़कर ही लोग तुम्हें हवा में तैरती लाश समझ भूत-भूत कहते भाग गए, तो गोसाईं नें तुम्हें कन्धा पर रख कर आधी रात को द्वार खटखटाने लगे। मैंने ही द्वार खोला। पहले तो घबरा गई। ऐसे मुर्दा घर लाकर तो कभी शव साधना नहीं करते थे गुरु, फिर आज कन्धे पर मुर्दा कैसे ले आए? फिर तुम्हें मेरे खाट पर सुलाकर लगे हांक लगाने, माया। माया। "ससुरी एक बार दम लगाकर फिर क्या कभी इस में रहती है।"¹⁶

चन्दन अपने ससुराल गृह को छोड़ अपने पति के साथ पति के गृह स्थल पर जा रही थी। जहाँ उसका पति विक्रम नौकरी करता था। मगर चन्दन का दुर्भाग्य इस स्थल पर पहुँचा दिया, जिससे वह अनजानी और अनदेखी थी। हर समय चन्दन को यह माहौल काटने को दौड़ता था। आश्रम में औरत, मर्द सभी चरस-गाँजा, चिलम हुक्का के नशे में धुत रहते थे। चन्दन अपने आश्रम आने की कहानी सुनती तो उसका मन खिन्न हो जाता। वह अपने आप को अचेतन अवस्था में ही रखना चाहती थी। चेतन अवस्था में उसे और भी मानसिक पीड़ा का सामना करना पड़ता था। माँ से पति से विछड़ने का गम, दूसरा अपने ऊपर बलात्कार का लगा कलक, तीसरा इस तरह का आश्रम जिसे वह पहली-पहली बार देख रही थी।

व्यक्ति अनेकानेक कष्टो दुखों के बावजूद प्राकृति के बनाए नियमों के सामने अपने अपने आप को बहुत असहाय पाता है। वह आश्रम में अपने आप को कायर और आसहाय महसूस करती है। भूख प्रकृति की देन है। जीवन जीने की विवशता है। जिसे चन्दन झेल रही है। कई दिन भूखे रहने के बाद भी चन्दन को मौत नहीं आती है, तो उसे विवश होकर उसी का सहारा लेना पड़ता है। जब चन्दन को रोटी दिखता है तो लपक कर थाम लेती है जैसे उसने वर्षों बाद रोटी दिखी हो। इन पंक्तियों में चन्दन की विवशता "चन्दन अपने जीवन का यह परिच्छेद खेलकर बहन अपने पितृकुल की महिमा धूमिल कर सकती थी न ससुरकुल की। चाहे अघोरी अखाड़ा हो या बल्लभी, अनजाने अनचाहे कंठ में पड़ गई रूद्राक्ष

की माला ही अब उसके लिए मंगल-सूत्र थी और गुरु के हाथ की लगी चिताभष्य की भभुत ही उसके सीमान्त की सिन्दूर रेखा।⁷

शिवानी जी ने चन्दन के माध्यम से भारतीय नारी की मनोदशा का वर्णन किया है। युग-युग से यह परम्परा चली आ रही है माता-पिता अपनी पुत्री की शादी जहाँ कहीं करे या पुत्री कहीं भी रहे अपने माता-पिता के साथ बिताये समय को कभी नहीं भूलती है। नारी का कोमल भाव और निस्वार्थ भावना सदैव माता-पिता के साथ रहता है। चन्दन इसी मनोभाव के साथ अपने जीवन को विवशता होकर जी रही है।

श्मशान चम्पा :

“चम्पा तुझमें तीन गुण
रूप रंग और बास
अवगुण तुझमें एक है
भ्रमर न आने पास”

इन पक्तियों के एक-एक शब्द ‘श्मशान चम्पा’ उपन्यास की प्रमुख नायिका ‘चम्पा’ की स्थिति से अवगत कराती है। ‘चम्पा’ अपने परिवार की भी प्रमुख सदस्य है। जिसके अन्दर दया, करुणा, क्षमा, त्याग, सम्पूर्ण आधुनिकता आदि गुण के साथ-साथ वह एक शिक्षित वर्ग की सम्मानित पद के रूप में डॉक्टर है। जो मनुष्य के अनेक दुःखों का इलाज करती है कष्टों से राहत पहुँचाती है मगर अपने कष्टों के कारण समझ कर भी उनका निदान नहीं ढूँढ़ पाती क्योंकि समस्याओं के चक्र भविष्य को कचरों के ढेर में खड़ा कर दिया है। जहाँ चम्पा समस्याओं को समझते और उसे सुलझाते सुलझाते अपने जीवन में किसी भी खुशी को आने का मौका नहीं देती। चम्पा आधुनिक विचार धारा की लड़की है। चम्पा एक स्थान पर कहती है- “हमारे साथ की कई लड़कियों ने अंतर्जातीय विवाह किए हैं। अपने समाज में यदि सुयोग पात्र नहीं जुटता तो दूसरे समाज को अपनाने में भला दोष क्या है? देखती नहीं अपने ही समाज में कन्यादान निभाने की मूर्खता के पीछे हमारा कुमाऊँ कैसे चौपट हुआ जा रहा है। यदि हमारा दृष्टिकोण ऐसा ही संकीर्ण बना रहा तो एक से एक हमारी पर्वत कन्याएँ।”⁸

उपन्यास में चम्पा द्वारा कहे गए इस वाक्य से यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि चम्पा आधुनिक विचारों वाली रूढ़िवादी लड़की है उसे वह तोड़ सकती है और तोड़ने वाले पर आक्षेप नहीं लगा सकती है। यहाँ चम्पा का आधुनिक युग की शिक्षित नारी का रूप देखने को मिलता है। जहाँ चम्पा प्राचीन रूढ़ि में घिसट-घिसट कर जीवन चलाने वाले मनुष्यों के कतारों से अपने को अलग रखती है।

चम्पा के हृदय में अपार दया और करुणा देखने को मिलता है। क्षमात्याग, प्रेम, दया, शिक्षित कर्तव्य परायण संस्कारपूर्ण भारतीय नारी होने के बावजूद विधाता ने चम्पा के साथ न्याय नहीं किया। सुन्दर, सुगंधित चम्पा फूल की तरह ‘चम्पा’ अपनी जिन्दगी गुजारने के लिए मजबूर हो जाती है।

चौदह फेरे :

चौदह फेरे रूढ़िचुस्त और रूढ़िमुक्त घर से बंधा पिता कर्नल और पुत्री ‘अहल्या’ के बीच अंतरद्वन्द्व की कहानी है। अल्मोड़ा में पले कर्नल अंग्रेजी साहित्य में एम. ए. कर उनका उपरी रहन-सहन आधुनिक रूप लिए रहता है मगर मन में पुरानी विचारधारा बनाए रखता है। अपने को आजाद रखता है मगर स्त्रियों के मामले में कड़ा शासन रखता है। पुत्री अहल्या उपन्यास की प्रमुख नायिका है जिसका

बचपन कुछ समय अपनी माँ नन्दी के साथ दादा के घर में फिर मामा के घर पर गुजरता है। नन्दी अहल्या का भविष्य बनाने के ख्याल से कर्नल के घर से कलकता लेकर चली आती है। अहल्या के बचपन में वह सब सामग्री देखी और खाया जिसके लिए वह तरसा करती थी। अहल्या के बड़े हो जाने पर उसके पिता कर्नल ने ऊँटी के कान्वेंट में उसे भेज दिया। 'अहल्या' के मुक्त वातावरण में रहने के कारण उसके विचार की स्वतंत्र रूप लिए उपन्यास में दिखता है। अहल्या की सुन्दरता के लिए उपन्यास के एक स्थान पर कहाँ गया है। "ऐसी सुन्दर और अटुट सम्पत्ति की उत्तराधिकारणी गुणी कन्या पाना भला कौन नहीं चाहेगा। सुन्दरी अहल्या के एक ही कटाक्ष में असंख्य हृदयों की लाशें बिछ सकती हैं।"

'अहल्या' बॉडिंग से लौटी तो कलकता में बहुत से दोस्त बना लेती है। जिसके साथ वह अकेलेपन को दूर करे। मगर उपन्यास में अहल्या का चरित्र किसी भी स्थल पर धूमिल नहीं दिखाया गया है। पिता कर्नल को अहल्या के दोस्तों से नफरत सा है। इस नफरत के कारण उपन्यास में अहल्या के मन में कई सवाल हैं जो अपने आप से पूछती है और मानसिक पीड़ा से ग्रसित है। हर पल अहल्या को लगता है सारे पुरुष मित्रता के बन्धन में बाँधकर क्यों सन्तुष्ट नहीं होते सब क्या चाहते हैं। इतने मित्रों के बावजूद अहल्या ने इन सब से मित्रता के अलावा कोई दूसरा नहीं रखा।

उपन्यास में अहल्या का चरित्र भारतीय संस्कृति में पली बढ़ी लड़कियों सा दिखाया गया है। अपनों की वह पूरी बात मानती है। चाचा के घर जा कर वो सारे काम किया करती थी जो उसने पिता के घर में भी नहीं किया था जैसे पहाड़ों की कन्याएं करती हैं।

उच्चशिक्षित स्त्रियाँ प्रायः दया, प्यार की भावना रखती हैं। अहल्या भी समय-समस पर उपन्यास में दया दिखाते हुए देखी गयी है। 'अहल्या' आधुनिक विचार रखती है इसलिए अपने रिश्ते की हर बात की जानकारी रखती है और आशा रखती अपने पिता से कि उसकी शादी अहल्या को बिना बताए तय नहीं किया जाए। मगर अहल्या के साथ ऐसी नहीं होता है सुभद्राताई को कर्नल (पिता) से की हुई बातों को सुन लेती है-

"यही कोई चार महीने हुए इन्हीं शिरोमणि को लड़का आई.ए.एस. में आया है अहल्या से विवाह करने में कोई आपत्ति नहीं है। जाने से पहले ही कन्या को वे टीका कर जायेंगे।"¹⁰

इन दोनों की बात से अहल्या स्तब्ध हो जाती है। वरामदे की काठ की रेलिंग पर उसकी मुट्ठी की पकड़ ऐसी कड़ी हो गयी कि अंगुलियाँ दुखने लगी। वह मन नहीं मन सोचती है-

"पहाड़ आकर पापा ने उसे पहाड़ की भेड़ बकरियाँ ही समझ लिया। जहाँ चाहें हाँक दिया देख लेगी वह भी।"¹¹

उपन्यास में अहल्या अपने प्यार को पाने के लिए मौन रहती है मगर पिता की इच्छा से शादी नहीं करती है वह मौन रह कर सबकुछ बता देती है क्योंकि पिता द्वारा पसन्द किया गया लड़का सर्वेश्वर बड़ा अहंकारी था। सर्वेश्वर का विचार अहल्या के विचारों से मेल नहीं खाता है इसलिए सर्वेश्वर से अहल्या नफरत करती है और बारात आगमन के तीन दिन पूर्व मण्डप छोड़ कर भाग जाती है। अहल्या के पीड़ा का निदान सिर्फ समस कर सकता था। वह समय भी उपन्यास में एक स्थल पर आता है कि परिस्थिति वश प्रेमी राजू से उसका विवाह हो जाता है सुख से अपने पति के साथ रहती है। आधुनिक विचारों को रखने के साथ-साथ पहाड़ी कन्या की तरह भारतीय संस्कृति के रूप में दिखाई गई है।

सुरंगमा :

उपन्यास की प्रमुख नायिका है वह सिर्फ सुन्दर ही नहीं उसका व्यक्तित्व भी उपन्यास में निखरा हुआ है सुरंगमा को देखकर विश्वास करना मुश्किल हो जाता है कि वह स्टेट बैंक की ऊँची कुर्सी में बैठ नौकरी कर रही है। सुरंगम को शिवानी जी ने एक शक्तिशाली स्त्री के रूप में प्रस्तुत किया है। वह परिस्थितियों का शिकार बन गई है।

वह अनजाने में मंत्री दिनकर के प्रेम की आड़ में सिर्फ संभोग का शिकार बन गई है। वह परिस्थितियों को सहते स्वयं कठोर और मर्यादाहीन बन गई है। इसलिए अपनी माँ की दुर्दशा होने के बावजूद वह मंत्री दिनकर का बेसब्री से इंतजार करती है। मिस्ट्रेस बनकर रहने में भी उसे कोई बुराई नहीं लगती है। सुरंगम को अकेलापन और परिस्थिति ने दुर्बल बना दिया है। उपन्यास के एक स्थान पर शिवानी ने स्त्री की कमजोरी और विवशता से परिचय करवाती है- “पुरुष नारी की इसी दुर्बलता का दिन रात लाभ उठाता है।” अपने अक्षम्य अन्याय से वह नारी को कितना ही क्यों न सता ले, जहाँ उसे बाहों में भर उसने पाँच मृत्युंजयी शब्दों का पंचतिक्त पिलाया, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, वही नारी अपनी हृदय की बड़ी-से-बड़ी व्याधि की व्यथा की भूल जाती है।”¹¹

सुरंगम की इस कमजोरी और दुर्बलता का फायदा मंत्री दिनकर उठाता है और सुरंगमा को इस्तमाल करता है। सुरंगमा को माँ और पिता का वैमनस्य धीरे-धीरे अस्वाभाविक रूप से उदासीन बना दिया है।

माँ की मृत्यु के बाद सुरंगमा अकेले रहने लगती है मीरा (सखी) उसे लेने आती है, कहती है- “दिमाग खराब हो गया है क्या? इस घर में अब तू अकेली कैसे रहेगी? अपना सामान ऐसे ही उठाकर रख ले, मैं तुझे लेने आई हूँ।”¹²

उपन्यास में छोटी-बड़ी घटनाएँ घटती रहती हैं जिसे पढ़कर सुरंगम के अच्छे भावों का पता चलता है।

शिवानी जी अपने उपन्यासों के माध्यम से बताना चाहती है कि सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विचारधारा से आक्रांत होकर मनुष्य का आपादमस्तक बदल चुका है अब हम सभी अपने सामाजिक जीवन में ही पथभ्रष्ट पथिक बने बुरी तरह से आतंकित दिख रहे हैं। सुरंगमा राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक रोग की शिकार हो गई है। जिसे हम मनोवैज्ञानिक धरालत पर देख कर ही सुरंगम की व्यथा को समझ सकते हैं।

कृष्ण कली :

कृष्णकली के सातवें संस्करण में शिवानी जी ने प्रस्तावना में लिखा है लेखक जब तक खुद नहीं रोता वह अपने पाठकों को नहीं रुला सकता जब पाठक किसी पात्र से एकत्व स्थापित कर लेता है, जब उसका दुःख उसका अपमान उसकी वेदना बना जाती है तब ही लेखनी की सार्थकता को हम मान्यता दे पाते हैं।

कृष्णकली काली रात के अंधकार में की गई काली करतूतों का प्रतिफल होकर कली रूप में उपन्यास से अवतरित होती है। सभी दिशाओं में रात में घोर अंधकार होता है ठीक वैसे ही कृष्णकली के जीवन उपन्यास में अंधकार दिखता है।

‘कृष्णकली’ के जन्म गुत्थी की वजह से उपन्यास में शुरू से लेकर अंत तक अस्वाभाविक रूप से क्रूर, हृदय हीन, तनावग्रस्त और विद्रोहिणी रूप में दिखती है। पूरे उपन्यास में ऐसा लगता है कि सुन्दर

कठपुतली के कमर में दो धागा एक स्वयं कृष्णकली के हाथ में है और दूसरा विधाता के हाथ में है। इसलिए चाहने पर भी उपन्यास में कोई अन्य पात्र कृष्णकली को अनुशासन में बाँध नहीं सकती।

अतः मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार बाह्य संघर्ष से हट कर अन्तः संघर्ष का चित्रण करता है। जिसमें पात्र बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होते हैं और जो पुरातन नैतिक और सामाजिक मूल्यों की अवहेलना करके नए मूल्यों के अभाव में व्यक्ति-स्वतंत्र्य की घोषणा करते हैं उपन्यासों में बाह्य संघर्ष का स्थान अन्तः संघर्ष ने ले लिया और उपन्यासकार अनुभूति के विविध स्तरों पर व्यक्ति के मानस में चलने वाले संघर्ष के अचेतन कारणों की खोज में मनोविश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुआ।

संदर्भ:

1. व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, अरुण कुमार सिंह, आशीष सिंह, नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ० 36
2. अतिथि, हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा० लिमिटेड, 1987, पृ० 45
3. अतिथि, पृ०- 6
4. भारतीय नारी अस्मिता और अधिकार, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दरियागंज, दिल्ली, 1986, पृ० 45
5. चल खुसरों घर आपने, शिवानी, हिन्द पॉकेट बुक्स, 1982, पृ० 8
6. भैरवी, हिन्द पॉकेट बुक्स, 2002 (नवीन संस्करण) पृ० 10
7. उपरिवत्, पृ० 76
8. श्मशान चम्पा, हिन्द पॉकेट बुक्स, 2001 (नवीन संस्करण), पृ० 13
9. चौदह फेर, हिन्द पॉकेट बुक्स, पृ० 49, 119
10. चौदह फेर, हिन्द पॉकेट बुक्स,, पृ० 119
11. सुरंगम, हिन्द पॉकेट बुक्स, 2002, पृ० 148
12. उपरिवत्, पृ० 155
13. कृष्णकली, हिंद पॉकेट बुक्स, 1997.



THE MAKING OF HINDUSTANI UNIVERSITY

□ **Shahid Perwez**

One of the important products of “Dar-ul-uloom Deoband”, Ubaidullah Sindhi was born on 10th March, 1872, as a posthumous child.¹ In 1889, he joined Deoband as a student and returned to Sindh after completing his education. He stayed in Sindh for twelve years where he was credited to have opened through his efforts a large number of madrasas. In 1908, he was appointed as a teacher and joined the assignment in Deoband.² At Deoband, he was introduced with the writings of Shah Waliullah.³ According to Ubaidullah Sindhi he was greatly influenced by **Taqwiat-ul-Iman** of Shah Ismail and Tuhfahtul-Hind of some Ubaidullah of Sindh.⁴

In this paper an attempt has been made to ascertain the efforts of Ubaidullah Sindhi in establishing Hindustani University at Kabul. Sindhi has recorded his political activities in his diary which provides considerable information of his contribution to the freedom struggle of India. Sindhi provides some details of the accession of Amir Amanullah which adversely affected the mission operating in Afghanistan under Ubaidullah Sindhi and his revolutionary partners.

After the revolution in Afghanistan, the activities of the provisional government of India in Kabul was banned by the Amir. Sindhi founded a Congress committee in Kabul and became its President. Dr. Noor Mohammad became its general secretary and other colleagues as member which was affiliated to Indian National Congress at Gaya session in 1922*.

This affiliation enhanced the position of Ubaidullah Sindhi in Afghanistan which prompted him to establish a Hindustani University (Jamia-i-Hindya) at Kabul. He prepared the constitution and programme of the university and sought help from Mahmud Beg Terzi, the foreign minister of Afghanistan who promised every help. Sardar Mohammad Nadir Khan permitted to establish a school in his estate and endowed the whole estate for the maintenance of the institution. Sindhi established the school with Urdu medium and it had to serve as a nucleus to the proposed university. In the beginning the expenses were met from the income of the estate given by Sardar Nadir Khan but in 1922, the school ran into trouble due to financial crisis. Sindhi received financial assistant from

Russian Embassy through the efforts of Khushi Mohammad.

The Russian contact later on proved to be very useful for Sindhi in Moscow.⁵ Unfortunately, the establishment of the school at Aaliyabad invited jealousy to some of the person who propagated that the newly proposed *Hindustani University* would destroy the Afghan Nationality from the Educational point of view and in consequence, Afghanistan would be subordinated to India. The anti-school lobby instigated, the head master of the school to inculcate the national feelings in Afghan students against the Hindustani teachers and Urdu language. Ayesha Jalal says that, 'Controversy over language taught him something about national pride'⁶ This led to a strike by Afghan students. The school was closed temporarily and the donor of the estate became indifferent due to new political trends. M. Hajjan Shaikh argues that he was probably trying to gain time as negotiation for treaty between Afghanistan and British Government was going on. After the confirmation of this treaty on 22nd November, 1921 which guaranteed the independence of Afghanistan, the establishment of Hindustani University in Kabul was refused.⁷

The dream of Ubaidullah Sindhi could not be fulfilled in establishing a Hindustain University in Kabul. It is however, interesting to not that the constitution which he had framed for the proposed university was secular in nature and national in character. The object of the university was to impart education to men, women, boys and girls of all nationalities without any distinction of race, religion, color and creed for the advancement of Art and Sciences, for elevating mankind in every possible manner.

The particular object of the university was stated to make Urdu and Hindi, the medium of instruction, to teach art and sciences in accordance with the residential system, to teach men and women of different countries by means of correspondence or by means of traveling teachers, to help poor student to start and continue their studies, to send student to foreign countries for advanced studies in certain branches of learning, to instruct young Indian Students in either of the religions, Islam and Hinduism, to translate important books on arts and sciences, to establish a university press for printing and publishing books on Arts and Sciences, to issue journals and pamphlets and papers for the propagation on the Aims of the University and not to charge any fee in any form from the student of Arts and Sciences.

It would be seen that the object of the University was purely humanitarian with a view to spread knowledge to people of not only of Afghanistan but also of distant places. The emphasis on teachings of Islam and Hinduism as objects of the university, is interesting. It is well known that an institution could be managed without adequate financial resources. Conscious of this situation Sindhi had a plan. According to the plan, subscription were to be collected from all parts of the world. He also made it clear that gifts and financial help for the University would be welcomed. Sindhi had also in mind to establish auxiliary educational institutions and affiliate them to institutions in any part of the world which were in harmony with the objects of Hindustani University. For the establishment and running of the university, Sindhi had estimated that ten lacs pounds were required and this money would be deposited in Royal Treasury of Afghanistan as

a Trust. Sindhi had prepared an elaborate scheme for the foundation committee, its power and functions and duration of the university with the Afghan Government.⁸

Unfortunately Sindhi's efforts did not bore fruit due to political upheavals and the British Government hawk like eyes on the activities of Sindhi. Although Sindhi and his revolutionaries could not completely succeeded in their mission, it is note worthy that their activities benefited the ruler of Afghanistan and their efforts made a poor and weak nation like Afghanistan to wage a war against powerful British regime and attained freedom.⁹

References :

1. Ubaidullah Sindhi, *Zaati Dairy*, Lahore, 1946, p.9.
 2. Z.H. Faruqui, *The Deoband School and the Demand for Pakistan*, Bombay, 1963. Pp. 56-57.
 3. See, Hakim Anees Ahmad, *Introduction to Mehmood Ahmad's Barkatis*, Shah WaliUllah Aur Unka Khandan, Lahore 1976. p. 12, where he argues that Hujjat-ullahil-Baligha found place in the curriculum of Deoband in the early decades of the 20th century and its introduction was not only welcomed but many teachers showed keen interest in teaching it. For different view see, M. Akhlaque Ahmad, *Traditional Education Among Muslims*, Delhi, 1985. Pp. 72-73 where he argues that this particular book of shah Sahib did not find place in the curriculum of Deoband.
 4. S.P. Sen, *Dictionary of National Biography*, Calcutta, 1974, Vol. III, p. 277
 5. Sir Percy Sykes, *A History of Afghanistan*, London, 1940, Vol. II, pp. 236-38.
 6. Ayesha Jalal, *Partisans of Allah*, New Delhi, 2009, p. 215.
 7. M. Hajjan Shaikh, *Maulana Ubaidullah indhi, A revolutionary Scholar*, Islamabad, 1986, p.97.
 8. Hajjan Shaikh, pp. 97-107.
 9. Zafar Hasan Aibek, *Aap Biti*, Vol. 1, Lahore, n. d., pp. 250-53.
- * At Gaya, Qazi Ziauddin Ahmad of Dinara (Shahabad) also participated at the behest of Anugrah Narayan Singh. The invitation given to him indicates that Qazi Ziauddin Ahmad had been actively engaged in freedom struggle in Bihar.



ROLE OF VALUE EDUCATION AND SPIRITUALITY IN GENDER EQUALITY AND WOMEN EMPOWERMENT

□ **Pushpalata Kumari**

Abstract:

Gender equality and women empowerment are the central issues in the process of development for many countries of the world in general and India in particular. Present paper is an analytical attempt to study gender equality and women empowerment. Gender equality is necessary precondition for equitable and sustainable human development. United Nations Development Fund for Women has conceptualized gender equality as “equal access to resources and opportunities, a value system based on the belief in equality, equal participation in decision making and equal control over resources and benefits for both women and men.”

Empowerment of women is also in reality is the urgent need of the society. It is the best way to stop the degeneration of the society and to bring about harmony, happiness, progress, prosperity and peace in the world. Gender equality and women Empowerment are closely interrelated to each other. On the one hand women are liable to achieve empowerment when there is gender equality and on the other hand gender equality can be achieved in reality only when women are really empowered. This paper attempts to analyses the concept of Gender Equality and Women Empowerment and role of value education and spirituality to minimize gender inequality and promote women empowerment.

Key Words: Gender Equality, Women Empowerment, Value Education, Spirituality, Gender Budget.

Gender inequality poses a serious threat and a significant development challenge in India. The Global Gender Gap Index 2014 ranked India at 114 out of 142 countries. The ranking is based on a country’s ability to reduce gender disparities in four areas: (i) economic participation and opportunity (ii) education (iii) political empowerment (iv) health and survival.

As a response to these challenges, India adopted 'Gender – responsive budgeting' (GRB) in 2005. GRB is a method of planning, programming and budgeting that helps in advancement of gender equality and women empowerment. It also serves as an indicator of government's commitment to meeting those objectives. So far, 57 government ministries/ departments in India have set up Gender Budgeting Cells. It is a major step that could potentially impact the lives of crores of women.

The UN committee on Elimination of Discrimination against women has emphasized the need for increased investment for the Ministry of Women and Child Development and for gender budget across ministries. It has also reiterated the need to strengthen institutions such as National Commission of Women and the State Commissions. But the sad part of it is that schemes focused exclusively on women either received reduced allocations or were not implemented as seen from the budget estimates of Government of India. So the emphasis must be on the one hand to allocate proper resources for gender budgeting and on the other hand it is also important to strengthen the key institutions (for women and child development), adequate investments for schemes that address gender concerns and the effective implementation of those schemes. But here the key point of discussion could gender equality and women's empowerment will achieve only through these measures. The answer is absolutely no! Because apart from these measures the need of the hour is to strengthen the institution of society and community (both men and women) to imbibe, inculcate and promote value education and spirituality in our personal and social life. This is the only panacea for gender equality and women's empowerment. First of all it is important to know the concept of value education and spirituality.

Concept of value Education:

According to Webster's Dictionary, "A value is a principle, standard or quality regarded as worthwhile or desirable."

A value is a belief or recognition that a specific mode of conduct, behavior and its outcome is good, desirable and beneficial for oneself and also for others and for society, not only for the present generation but for future generations as well.

Rajyogini B K Dadi janki stated, "Values are the treasures of life, making us wealthy and rich. Values are our friends bringing happiness. A life filled with values is a life of self – respect and dignity... Values bring independence and freedom, expand our capacity to be self-sufficient and protect us from external influences."

The erosion of values in present day society is a matter of great concern for educationalists. Since independence various commissions and committees have been set up by the Government of India and other bodies to suggest reforms in the field of education. They emphasis the necessity for education in values in order to inculcate universal and human values like truth, peace, love, justice and cooperation.

UNESCO set up an International commission under the chairmanship of Jacques Delors. It included educators from around the world. The Delors report identified four pillars of education: Learning to know, Learning to do, Learning to be and Learning to live together. The first requires intellectual ability, the second an acquisition of skills, and the third and fourth require inculcation of values.

Value fall into three main classifications: (i) Universal Values (ii) Human Values and (iii) Temporal Values. Universal values are accepted by all the people at all times. It is the ideals and anchors of human values. Human Values ensure harmonious continuity of civilized life and it is the interface between universal values and temporal values. Temporal values are based on material world and are usually subject to rapid change.

The core human values are – honesty, non- violence, Justice, love, peace, purity, truth, compassion, respect, harmony and happiness etc. These are the core values because they are at the core of what makes us human. They enable the greatest good of the greatest number over the largest period of time.

The International Society for Human values in Geneva, in its declaration on human values proposes, ” the common survival in harmony and peace to be the highest human value that should be observed in the place...because it offers all other human interests the best chance to develop.”

Concept of Spirituality:

Spirituality, in essence means to know how to live. It does not mean to be no longer concerned with the world of the physical and be deprived of worldly pleasures and devote the self to the ethereal. True spirituality is about awareness and behavior. It is not a system of worship or ritual but a positive attitude towards the self and others which makes life a joy rather than a struggle. Positivity gives us the inner strength to cope. The more positive we are towards ourselves then that attitude is expressed towards others and in all situations. Happiness or lack of it does not come from external things but from what is inside. It is simply a matter of perception. For example, money is not the means to happiness nor it is the cause of unhappiness. The individual's own attitudes and values determine the use and misuse of external things, whether it is money, a person, an event or an object. Modern disease of human consciousness is to look only to the external as a means to achieving happiness without examining inner personal values, attitudes and motives; relying and depending on the external, hoping for the best. However, life cannot be created with such hopes. No person and nothing can create a permanent state of well-being inside us .That is our personal work and our own responsibility. The external can contribute, guide and inspire but ultimately life is what we make out of it. We have to examine our deeper self and from this understanding gained through this process, begin to re-create a better life. A life that has value and is worthy of living is only possible when there is reflective examination. Otherwise, the

crisis and problems do not find solutions and they even aggravate.

Bringing spirituality into action has a direct and positive effect on at least four specific areas of life: (i) our (inner) well - being (ii) our understanding as a person (iii) our leadership potential (iv) our professional profile. All four of these arenas feed directly into our life and our ability to live it. This is in contrast with the popular held assumption that spirituality should deal separately from life. In fact, all four of these aspects are examples of how spirituality is to be used in life and how spirituality and action are interconnected.

It is also taken into consideration that value education and spirituality should be developed together. It is symbiotic. When spirituality is developed, value emerges; and when values are developed, they increase spirituality. They are interdependent and it flourishes best in the fertile ground of higher consciousness.

Concept of Women Empowerment:

Empowerment is a multi-faceted, multi-dimensional and multi – layered concept. Women Empowerment is a process in which women gain greater share of control over resources – material, human and intellectual like knowledge, information, ideas and financial resources like money – and control over decision making in the home, community, society and nation, and to gain power.

According to country Report of government of India,” Empowerment means moving from a position of enforced powerlessness to one of power. It would promote women’s inherent strength and positive self-image. On the other hand Nath and Chatterjee state that for true empowerment, what is most significant is the control of ideology, i.e., control over thoughts and perceptions that shapes individual beliefs, values and attitudes – ways of perceiving, thinking, feeling and analyzing.

To be empowered is to become aware of the magnificent potential that lies in each one of us but scarcely known to us. Nuernberger has rightly quoted,” By being aware of one’s own potential and abilities, one can become a perfect citizen, help the nation and serve humanity.’ The empowerment is empowering the self –recognizing one’s own capacities and contribution to the family, community and society at large in order to create a positive self-image and build self-confidence. As Promila Kapur has rightly said that, “To be Empowered the women has to have belief in her own self – in her latent capacities and capabilities and has to have confidence that she should be able to resolve and solve any problems that come in her way. She has to have belief in her innate right to dignity and justice and in her ability to fight against injustice and discrimination and demand and achieve injustice.”

Concept of Gender Equality:

Gender equality is necessary precondition for equitable and sustainable human development. It means equality between women and men at all levels of society. United Nations Development Fund for Women has conceptualized gender equality as “equal access to resources and opportunities, a value system based on the belief in equality, equal participation in decision making and equal control over resources and benefits for both women and men.”

Strategies and Approaches to Gender Equality and Empowerment of Women:

Gender equality and women Empowerment are closely interrelated to each other. On the one hand women are liable to achieve empowerment when there is gender equality and on the other hand gender equality can be achieved in reality only when women are really empowered.

Gender equality and empowerment can only be achieved through strengthening of key institutions which help in empowering women, adequate investments for schemes that address gender concerns and the effective implementation of those schemes, programmes, plans and strategies recommended for women empowerment on the one hand and on the other hand changing the attitude to make them equalitarian and egalitarian. The changing of attitude should be done both at the macro level and micro level. It means we have to change the attitude of men towards women and towards women to one self. It can only be done through imparting of value education to inculcate human, moral, social and spiritual values among members of the society and community.

Gender equality and empowerment of women can also be achieved through the path of Spirituality. Bringing spirituality into life means taking the time to explore and put into practice the qualities of the self, and through this, developing the abilities to enhance one's own goodness and put that to work in relationship and behavior. It involves getting to know what's happening within our own mind so that we can become the master in charge of our thoughts, feelings and experiences and also use these qualities in interrelation between men and women in a positive manner.

There are three steps of bringing spirituality into our life and our relationships. The first step is to be able to see the self, the second step is to be able to understand how to generate power within the self and the third step is to use this power in one's own life. It is only through spirituality we can gain self-esteem, transform our attitude from negative to positive and balance our personal and professional life.

So it can be said that to restore balance between gender equality and women empowerment imparting value education and spirituality for men and women alike. Both need to be aware of their own inner dignity and worth and their deepest identity as spiritual beings. Only then we will be able to work together, empowered oneself, make positive impact in society and in our day to day relationships between and among human beings , so that we can make a better world for all.

References:

1. Sen Amartya, *Development As Freedom*, Oxford University Press, New Delhi, 1999.
2. Batliwala, Srilatha, *Women's Empowerment in South Asia- Concepts and Practices*, Asian – South Pacific Bureau of Adult education, New Delhi, 1994.
3. Nath, Kamla and Milly Chatterjee, *Why Women? What Politics?*, Centre for Social Research, New Delhi, 1996,
4. Government of India, *Fourth World Conference on Women, Beijing, 1995, Country Report*, Department of Women and Child development, Ministry of Human Resource Development, 1995.
5. Kapur, Promilla, “Family, Social, Human and Spiritual Values for women’s Empowerment and Gender Equality” paper presented in the International Conference on ‘Gender Equality Through Women’s Empowerment-Strategies and Approaches’, Lucknow, 1997.
6. Bhasin Kamla, ”Education for Women’s Empowerment : Some Reflections’, Talk given at the First General Assembly of the Asia Pacific Bureau of Adult Education, Philippines, 1991.
7. B.K.Kiran, ‘Human Values Education for 21st Century, in *Purity*, vol. XX, No.3, December, 2000.
8. Sri Sri Ravishankar, ‘Fostering Universal Understanding’ address at the Millennium submit of Religious and Spiritual Leaders, United Nations, August 28, 2000.
9. Varma, Rameshwari and Mariette Correa, ‘ Gender Equality’ a chapter in *Education in Values: A Source Book*, NCERT, 1992.
10. *A Book on Value Education and Spirituality*, Published by Annamalai University, DDE, Annamalai Nagar, Tamilnadu, 2016.



READING AND WRITING : TWO SKILLS OF LANGUAGE LEARNING

□ **Archana Jaiswal**

It has been rightly said by Francis Bacon “Reading makes a full man, conference a ready man and writing an exact man.”

But in India where English is learnt and taught as a second language, people find it a herculean task when they wish to pen down something. At this juncture reading can prove to be an effective, natural and authentic tool that can help them on their writing skills.

While both reading and writing have been admitted to be the pillars of language acquisition, there has been little overall focus on the inter-relationship and in particular, focus on the role of reading in framing and assessing students’ writing capacity. Reading ,in particular plays an important role in developing students’ explicit understanding.

The most important points one must remember while writing are :

1. What is he writing ?
2. For whom is he writing ?
3. What is the purpose of writing?

But with any empty mind one cannot think of writing. So reading is a must for writing. We cannot think of constructing any thing if there is no raw material.

While reading activities have been included in most of the major approaches to literacy education they have rarely and evenly been balanced. In spite of the fact that teaching READING and WRITING has always been part of the components of school education, traditional approaches have always treated reading and writing as separate and apparently, unrelated skills. It has been a basic concern to address some of the issues in the light of what role reading plays in the students’ writing in the second language classroom situation; and how personal experiences, creativity and reading input have their effect on writing.

IMPORTANCE OF READING IN LANGUAGE ACQUISITION

Diverse opinions are expressed by the great linguists about the definition of reading.

‘Reading can be defined loosely as the ability to make sense of written or printed symbols’ or ‘Reading is a complex cognitive skill consisting of psychological process that together produce a understanding of a text’.

Reading is an activity of mind as well as body. It is an act of recognising graphic symbols, words and sentences and understanding their meaning in the context and thereby comprehending ideas presented on the sentences. The physical activity here concerns the visual skills and the mental work dealing with the innumerable calculations and processing that occur in the brain of a reader.

Reading involves a number of skills such as:

- Recognising the script of a language.
- Deducing the meaning and use of unfamiliar lexical items.
- Understanding explicitly stated information.
- Understanding conceptual meaning.
- Understanding the communicative value of sentences and utterances.
- Understanding relation within the sentence.
- Understanding relations between the parts of a text through lexical cohesion devices.
- Interpreting text by going outside it.
- Recognising indicators in discourse.
- Identifying the main point or important information in a piece of discourse.
- Distinguishing the main idea from supporting details.
- Extracting salient points to summarize (the text, an idea etc.)
- Selective attraction of relevant points from a text.
- Basic reference skills.
- Skimming.
- Scanning to locate specifically required information to diagrammatic display.

The learners of a language are involved in diverse activities in schools and colleges, by language pedagogues which are geared in preparing pupils for language usage. Receptive skills of language entail acquisition of language teachers develop

these skills among students. But classroom teaching alone cannot develop these skills, the student should supplement with his or her own reading outside.

As there are various kinds of texts students should be exposed to a variety of styles of English language with the variety of texts. It is through reading, the learners of a second language, learn vocabulary get familiarize with different sentences structures, usage of words in different contexts, etc.

IMPORTANCE OF EXTENSIVE READING

Extensive reading in general means reading widely and in large quantity. In the early twentieth century, extensive reading took on a special meaning in the context of teaching modern language through reading. Pioneers such as Harold Palmer, and Michael West worked out the theory and practice of extensive reading as an approach to the learning of English as a Second Language. The purpose of extensive reading programmes is to train the students to read directly and fluently in the target language for enjoyment without the aid of teacher. The style of writing in extensive readers should entail a certain amount of repetition without monotony. Novelties of vocabulary should not coincide with difficulties of structure. The readers must be attractive in appearances with clear print and the stories and articles should divide naturally into sections which are not too long, so that students have a sense of achievement as they reach the end of a new section. These factors of physical arrangement of material may seem trivial, but their importance is increasing the students' enjoyment in reading must not be underestimated.

Extensive Reading serves as the much needed inputs provided for the students these inputs should be meaningful and comprehensible so that it enables the students in their writing skills. Besides they should be interesting and relevant to their everyday activities so that they can identify themselves with the input.

IMPORTANCE OF WRITING

Writing is undoubtedly the least taught and most feared skill when compared to listening, speaking and reading. While reading is for pleasure and comprehension, writing is a reflection of thought. Writing demands training and practice. Meticulous training is given by the teacher at writing at the first level by making a student trace or copy written symbols or sentences in the class room. Quite often, at primary stage, pupils are given homework to practice, writing at home or outside the classroom. Later, it includes teaching of the rudiments of grammar. At the advance level, it includes writing of composition with simple words, idioms and phrases, clauses and sentences. The thought of a person is fabulously expressed in writing. It involves umpteen abilities of a person like choosing right words, framing them in sentences, maintaining coherence among sentences, developing his ideas and concluding with appropriate end.

Writing is not like speech. In writing the context is created. Written language is

permanent and it can be read and re-read as often as one likes. It contains vast vocabulary and tends to be more formal. The ability to write reflects one analytical capacity, broad thinking and imaginative empathy with the subject. Therefore, it is highly valued in educational settings.

Writing skill is the best of all language skills. It is a blessing and talent. One can mesmerize the readers. The impressive creativity literary art of writing brings one laurels and international recognition.

RELATIONSHIP BETWEEN READING AND WRITING SKILLS

Reading contributes to the development of writing ability. The habit of reading enables one to write effectively. Reading is compulsory. The brain of a reader grasps vocabulary, understands different sentence patterns and retains them instead of taking lessons to improve writing skills. One can just rely on reading because a writer who does not teach in concrete appearance, will be teaching indirectly vocabulary, syntax and essence of thought to the reader. Hence reading a text either for amusement or understanding moulds a reader into an efficacious writer. Below are five fundamental relationships between Reading and Writing skills that seem more significant.

- 1) Reading and writing are interdependent. Readers would be at a loss if there were no writers to produce texts. Writers would be at a loss if there were no readers for whom to produce texts.
- 2) Reading and writing are personal and social activities and are driven by a need to communicate.
- 3) Reading and writing are reciprocal processes. Both are purposeful, are dependent on background knowledge and experiences, and are focussed on the construction of meaning.
- 4) Reading and writing are parallel. Both are purposeful, are dependent on background knowledge and experiences, and are focussed on the construction of meaning.
- 5) Reading and writing naturally insist on the processes of learning about the world. As writers explore topics, they often find the need to read. As readers explore topics, they often find the need to write.

As one of the four skills, writing has traditionally occupied a place in most English language syllabus. Given the importance of English as an international language today, more and more people need to learn to write in English for occupational or academic purposes.

Though, in terms of students' need, writing may be seen to occupy an equal role with other language skills. Written form is used in all the educational institutions to examine the progress of every student. Such is the importance of English writing skill in our syllabus.

Writing is not a natural activity; all physically and mentally normal people learn to speak a language. Yet, all people have to be taught how to write. There are various reasons why writing merits a place in the language syllabus. To begin with, writing remains the common way or rather the only mode of examining the students' performance in English. All public examinations require some competence in the written language. Consequently, ability to write remains a key to success in examinations. Further, in the eyes of both parents and teachers, ability to write may be associated with evidence of having learned the language. In other words, writing is tangible – parents and students can see what has been done and what has been achieved. So it has high 'face validity.'

Our pupils rarely get the opportunity to practice the skills of listening and speaking in actual communication situations and, as such we can not hope to develop in them native like competence in these two skills but it is not so in the case of reading and writing. Our pupils can always be exposed to written or written communication situations where these two skills are used naturally. Therefore through reading good English we can develop such feel and insight into the working of the language that we can even hope to surpass the native speaker so far as these two skills are connected.

References :

- Byrne, D. 1979. Teaching Writing Skills. London: London.
- Grellet Francoise 1987. Developing Reading Skills. Cambridge : Cambridge University Press.
- Hedge, T. 1988. Writing, Oxford: Oxford University Press.
- Tickoo, M.L. 2004. Teaching And Learning English: A sourcebook for Teachers and Teacher-trainers. Orient Longman.



NEED PATTERNS OF DRUG ABUSERS AND NON-ABUSERS AMONG YOUTHS

□ **Namita Sinha**

The present investigation has been aimed to study the need patterns of drug abusers and non-abusers among youths of Gaya district – a historically well known city of Bihar State. Having surveyed the youth population using drug abuse questionnaire schedule only N=100 youths were selected comprising drug abusers (n=50) and non-abusers (n=50). Then thereafter, to see the significance of difference on different dimensions of need patterns using Personal Preference Schedule developed by Tripathi (1973) were administered individually on the group of drug abusers and non-abusers. After tabulating the data according to procedures, obtained results indicated that out of 15 dimensions only eight dimensions on the basis of high socio-economic status have been found highly significant statistically between the group of drug abusers and non-abusers. They are “need for deference”, “need for exhibition”, “need for intraception”, “need for succorance”, “need for dominance”, “need for nurturance”, “need for change” and “need for heterosexuality”. Only one dimension namely, “need for endurance” has been found significant in terms of low socio-economic status between the group of drug abusers and non-abusers.

It seems that our youths are becoming more drug abuser according to their needs. Maslow (1954) stated that when needs that have greatest potency and priority are satisfied, the next need in the hierarchy emerge and press for satisfaction. This hierarchical order from most potent to least potent in view of the Maslow is physiological needs, safety needs, need for belongingness and love, esteem needs, needs for self-actualization, cognitive needs and finally aesthetic needs model is dynamic. Basically, it represents motivation as a constantly changing force, expressing itself through the constraints striving for fulfillment of new and higher order needs. Thus, it seems our youths are never satisfied. It is because of the fact that when one goal is reached there is always on effort towards attainment of still higher goals. However, needs do not operate in complete isolation from each other and the nature of this interaction seem to be as crucial theoretical importance.

Having reviewed the survey of literature on the problem, some important aspects of drug abuse have attracted the attention of present researcher to study the need patterns of drug abuser and non-abuser among youths with particular reference to

Gaya district – a historically well known town of Bihar state. Here, it is important to point out the meaning of drug abuse in a nutshell. Drug abuse is defined as taking a drug for reasons other than medical, in an amount, strengths, frequency or manner that damages the physical or mental functioning. The term itself conveys the notion of social disapproval and use of drug usually by self administration (Jaffe, 1991). Drug abuse is still growing at an explosive and in just little over a decade it has spread its harmful for long flexible organs to almost every part of the globe to deal with a difficulty successfully almost all barriers of race, caste, creed, religion, sex, educational status, socio-economic strata etc. with astounding ease. Increasing evidences are pouring in to suggest that a large percentage of students and youths are being hooked on dependence producing drugs and have succumbed to the illusory panacea of drugs (Ahmad & Sen, 1998; Ahmad, Et al, 1995; Ahmad, et al, 2001; Jiloha & Munjal, 1985; Arneja & Sen, 1990). Moreover, it is witnessed the importance of environmental factors that certain individuals develop certain personality traits, especially during adolescence, which predispose them to subsequent drug-abuse. It is generally observed that no one personality type appears to be definitely predisposed to drug abuse, but psychologists accepts the possibility of vulnerability in several different personality types (Rosenberg, 1969; Boyd, 1970). Many researchers have also reported some personality traits prevalent among drug abusers as viewed by Fedric, Resinek and Wittlin (1973). They described the depressive and self destructive attributes in addicts. Glossop (1976) reported considerable deficiencies in self esteem among drug abusers. Gerfick, Grady, Sexton and Lyons (1981) also reported that drug abusers have personality characteristics like social non-confirmation, low self esteem, depressive feelings, sensation seeking, and external locus of control but none of the studies are found with regard to need patterns of drug abuser and non-abusers with special reference to youths.

Purpose :

The present piece of research work is aimed at studying the need patterns of drug abusers and non-abusers which will fill the void of knowledge in the area concerned.

Hypothesis :

On the basis of the objective of the present study the following hypothesis has been formulated :-

- None of the variables of Personal Preference Schedule developed by Tripathi (1973) will differ between the group of drug abusers and non-abusers belonging to high and low socio-economic status.

Method :

(i) Sample : Total sample in this study consisted of 100 subjects comprising drug abusers (N=50) and non-abusers (N=50) were selected from different socio-economic strata of Gaya district. Half of the subjects in each sub-sample were from high SES and the remaining half from low SES. Subjects age ranged between from 15 to 20 years who participated in the study.

(ii) Tools used : The following tools were used in the present study to collect the data :-

1. Biographical Information Blank (BIB) : Biographical Information Blank was also prepared and on the basis of this age, education, income, occupation, etc. were ascertained to interpret the results obtained.

2. Drug Abuse Survey Schedule : To find out the drug abusers a “Drug Abuse Survey Schedule” developed by Ahmad and Sen (1995) was used.

3. Personal Preference Schedule developed by Tripathi (1973) was used. This schedule comprises of 225 items which measure 15 personality variables, namely, achievements, deference, order, exhibition, autonomy, affiliation, interception, succorance, dominance, abasement, nurturance, change, endurance, heterosexuality and aggression. The internal consistency coefficients of the variables range between .82 and .99.

(iii) Procedure of Data Collection : For collecting the data, the above mentioned schedules in printed forms were administered individually on all subjects and the data tabulated according to norms and principles of the schedules. The subjects in each category, namely, drug abusers and non-abusers were divided into high and low socio-economic status on the basis of income. It is important to be mentioned here that to find out the drug abusers in the universe is too difficult job, hence, near about three hundred survey schedule were administer among youth of Gaya District by taking them into confidence and they were assured that the information provided by them will be kept strictly confidential and will be used only for research purposes. In this way only fifty youth were selected as drug abuser who were using drugs, viz., cannabis, alcohol, tady, tobacco chewing/smoking, Gutkha, etc. and rest of youth (N=50) were also selected who were not using any type of drugs even soft drugs so, the term given here as non-abusers in the present piece of research work.

Results and Discussion :

In quest of obtaining the results of the present study the data were analyzed by descriptive as well as by inferential statistics. The means, SDs and t-test of the variables among the group of drug abusers and non-abusers of high and low socio-economic status (SES), are shown in table-1. From the table-1, it could be observed that the groups have much similarity than differences in the values of Means and SDs. The obtained data were further analyzed by t-test to see the differences between the group of drug abusers and non-abusers and have been found statistically significant. So far as the high socio-economic status is concerned, it is to be stated that out of fifteen variables mentioned in the table-1, eight variables namely, need for deference, need for exhibition, need for intraception, need for succorance, need for dominance, need for nurturance, need for change and, need for heterosexuality have been found highly significant as their t-values are 5.85, 4.5, 3.18, 2.40, 2.10, 3.07 and 3.90 respectively (Table-1). On the other hand, it can also be seen from the table-1 that only one variable between the group of drug abusers and non-abusers belonging to low socio-economic status i.e.

need for endurance has been found significant as t-value 2.04 is significant at 0.05 level of confidence. Hence the proposed hypothesis i.e. none of the variables of Personal Preference Schedule developed by Tripathi (1973) will differ between the group of drug abusers and non-abusers stand rejected. The obtained results seem to be logical that addiction to any substances whether it is hard drugs (alcohol, cannabis, Ganga, cocaine, heroin, smack or soft drugs (tobacco chewing/smoking, gutkha, tadi, etc.) is a physical, emotional and spiritual disease. It has a progressive deteriorative course giving rise to chronic health problems. It affects the nervous system, the gastrointestinal, the respiratory, and the cardio-vascular systems and also does great damage to the liver. That's why such type of significance of difference between drug abusers and non-abusers has been found on different variables as shown in table-1. It can also be observed from the table that the drug abusers have more or less higher needs in comparison to non-abusers. It is because of the fact that drugs provide a pseudo spiritual security and a trip of an imaginary world. It is also observed that it also alienate the person to take refuge in temporary pleasure. As disorientation and disassociation from reality and normalcy follow in quick succession, and make the individual unsociable, depressed, suicidal and indulgent in manipulative behaviour and compulsive lying. Thus it has its effects on the body as well as on the mind. Efficiency of a person who becomes a drug addict is drastically reduced. His mental and physical capabilities are adversely affected resulting in poor performance while he is engaged in any type of work. Drug abusers relationship with his family members, relatives, friends and all other members of the society, becomes poor and indifferent as observed during the investigation from where the sample has been drawn. It is also observed that an account of financial constraints, an addict also not be in a position to afford the drugs with his limited income. He may start indulging in malpractice and go to the extent of committing serious crimes. Since it is a progressive disease, it can be chronic and fatal, if not treated and arrested at the right time. It is undoubtedly fact that no person wants to develop "dependency",. Even those who decide to experiment with drugs, do so only with the attitude that "it will never happen to me". Yet there is a systematic progression towards drug dependency affecting the life style and the personality of the drug dependent person. The person is emotionally immature and rigid to new ideas. He has high level of frustration, anxiety and depression. Either he becomes very happy or in the pits of depression. He is either jovial and loving, or angry and hostile. He does not know why he feels as he does. Drug abuse studies in relation to different aspects of human life is a continuous process, hence, the results of this present study suggest behavioral and psychological therapeutic intervention, at an early stage, so that there is quick recovery from maladaptive need pattern.

□

References :

Table-1

Drug Abusers and Non-Abusers' Mean, SDs and t-values of the Variables in terms of their levels of SES

VARIABLES	LEVEL	DRUG ABUSERS (N=50)		NON-ABUSERS (N=50)		t-value
		Mean	SD	Mean	SD	
Need for Achievement	High	13.4	4.35	14.29	4.62	0.94
	Low	14.92	2.33	14.13	3.18	1.41
Need for Defence	High	15.13	4.47	10.1	4.03	5.85*
	Low	13.49	3.22	12.28	3.53	1.78
Need for Order	High	14.71	4.12	13.24	4.21	1.75
	Low	14.34	3.19	14.28	2.79	0.09
Need for Exhibition	High	14.33	3.17	12.09	2.48	4.00
	Low	13.08	2.09	13.18	2.73	0.20
Need for Autonomy	High	14.58	3.61	14.78	2.68	0.31
	Low	13.72	3.63	14.10	4.08	0.49
Need for Affiliation	High	14.43	4.02	13.89	4.19	0.65
	Low	14.40	3.89	13.76	3.18	0.89
Need for Intraception	High	12.68	2.09	15.28	2.99	5.00
	Low	14.03	3.17	14.23	2.93	0.32
Need for Succorance	High	14.85	3.14	12.49	4.16	3.18*
	Low	14.41	2.89	13.14	4.95	1.55
Need for Dominance	High	12.8	6.66	15.3	2.98	2.40**
	Low	14.0	3.17	15.0	3.16	1.58
Need for Abasement	High	16.34	3.77	15.93	3.49	0.56
	Low	16.19	4.35	15.53	2.86	0.89
Need for Nurturance	High	16.08	4.05	14.42	3.85	2.10**
	Low	15.43	3.24	15.55	3.86	0.03
Need for Change	High	14.10	3.33	15.42	3.12	3.07*
	Low	13.03	2.72	13.99	3.64	1.48
Need for Endurance	High	14.63	3.57	14.10	4.81	0.62
	Low	14.89	3.54	13.97	3.03	2.04**
Need for Heterosexuality	High	11.25	3.56	14.10	3.68	3.90*
	Low	12.79	3.53	13.24	3.67	0.60
Need for Aggression	High	12.49	2.54	12.69	3.53	0.32
	Low	12.10	2.57	12.63	3.79	0.82

Note * indicates the level of significance at .01 levels.

** indicates the level of significance at .05 levels.

Work site :

- Ahmad, Anis & Sen, A.K. (1998), Prevalence of drug abuse among the students of Jamia Millia Islamia, *A Survey Report*, Disabilities and Impairments, 12(1), 31-39.
- Ahmad, Anis; Sen, A.K. & Chadha, N.K. (1995), Prevalence of drug abuse among Aligarh Muslim University Students – *A Survey Report*, Disabilities and Impairments, 9(2), 85-95.
- Ahmad, Anis; Sen, A.K., Khan, G.H. & Ahmad, Fuzail (2001), Prevalence of drug abuse among L.N. Mithila University Students – *A Survey Report*, Disabilities and Impairments, 15(1-2), 121-132.
- Arneja, I & Sen, A.K. (1990), Prevalence of drug abuse among Delhi University students – *A Survey Report*, Disabilities and Impairments, 3, 99-107.
- Boyd, P. (1970), Heroin addiction in adolescence, *Journal of Psychosomatic Research*, 14, 295-301.
- Frederick, C.J.; Resinek, H. and Wittlin, B.J. (1973), Self destructive aspects of hard-core addiction, *Archives of General Psychiatry*, 28, 579-585.
- Gersick, K.E.; Grady, K.; Sexton, E. and Lyons, M. (1981), Personalities and Socio-demographic factors in adolescent drug use, *N.I.D.F. Research Monograph*, 38, 39-56.
- Glossop, M. (1976), Drug dependence and self esteem, *International Journal of Addiction*, 11, 741-753.
- Joffe, J.H. (1991), Drug addiction and Drug abuse. In Gilman, A.G.; Roll, T.W. & Nies, A.S. (ed) & In Pharmacological Basis of Therapeutics, Pergamon press, 8th edition, 522-573. Jiloha, R.C. & Munjal, G.C. (1985), Adolescent heroin smokers of Delhi, *Child Psychiatry Quarterly*.
- Maslow, A.H. (1954), *Motivation and Personality*, Harper, New York.
- Rosenberg, C.M. (1969), Young drug addicts; Background and Personalities, *Journal of Nervous and Mental Disease*, 148, 65-73.
- Tripathi, R.R. (1973), Tripathi Personal Preference Schedule, *Rupa Psychological Corporation*, Varanasi.



STUDY OF JOB SATISFACTION AMONG INDUSTRIAL WORKERS

□ **Alok Ranjan**

Job satisfaction is a primary factor on which the success of a factory depends whether it is small or big. It is an emotional response of workers which can not be seen but it can be measured. It may be named as “Job attitude”. The present study was carried on 100 workers of Public and Private sectors working at Barauni Industrial Area (Bihar). There is a clear finding that workers in Public Sector are better job satisfaction in comparison to the workers of Private Sector.

Job satisfaction may be defined as pleasurable positive emotional state resulting from the appraisal of one’s job experience. Interest of Industrial psychologists in job satisfaction came into light nearly hundred years back to at least 1911, when Taylor began to study employees and their job duties to develop better ways to train work. By 1927, the study of employee’s positive or negative reaction to their jobs was the most important issue when Mayo first studied the effect of lighting at the western electric Hawthorne work in Chicago. These studies showed that lighting had little connection to worker productivity which created the fundamental groundwork for future studies. The Hawthorne studies continued until 1932 and in the five year interval, the research widened to include factors such as temperature, fatigue, breaks and working hours. Mayo discovered that the mere act of studying works and providing them with more attention increased their motivation and productivity. Mayo had stumbled upon the essence of human motivation, marking a new era of humanistic job satisfaction research and revolutionizing the research and theories of job satisfaction.

More recently, Lambert, Barton and Hogan (1999) defined the term as “the fulfillment or gratification of certain needs that are associated with one’s work.” Specter (1999) defines it as “the extent to which people like (satisfaction) or dislike (dissatisfaction) their jobs. Some important characteristics emerge out of these definitions.

Job satisfaction can thus be understood as an important job attitude. As an attitude, it has three elements affective, cognitive and behavioural. The affective component is the emotional response to the job situation and is reflected in the statement. “I feel good about my job.” The cognitive element is the appraisal on the extent to which the job fulfills important needs associated with one’s work. It is illustrated in the statement. “My job helps me to achieve my goals.” The behavioural aspect is manifested

in productivity, absenteeism, turnover and forms of organizational citizenship. It is reflected in the statement “I want to give my best on the job.”

The term job satisfaction refers to the affects part of the three components. As such the statement “I like my job” is the best expression of job satisfaction and signifies that it is primarily an individual’s affective reaction to particular job that results from the person’s comparison of actual outcomes with those that are desired, anticipated, or deserved.

Job satisfaction is a primary factor for the success of an industry whether small or big. Blum and Naylor (1984) were of the opinion that attitudes the employee holds toward his job, toward related factors and toward life in general show the degree of job satisfaction that means job satisfaction is directly related with the workers opinion towards the nature of the job and its organization.

Bourne (1982), Rhodes (1983) have concluded that young employees had generally poor job satisfaction in comparison to senior employees. As the work experience increases, job satisfaction becomes higher and higher.

Glenn and Weaver (1982), Morse (1953) were of the opinion that job satisfaction and education had negative correlation as highly educated employee had higher expectation which were never fulfilled causing negative job satisfaction.

Morse (1953) suggested that when the nature of work rotates in different orders results into better job satisfaction. Hoppock (1935) found that teacher’s had more job satisfaction in comparison to textile workers. King, Murray & Atkinson (1982), Roach & Davis (1973) did their studies on nearly 1000 managers taken as a whole concluded that with the increase in hierarchy in the organization, Job satisfaction increased accordingly. Bengé (1944) found in the study that worker’s in small industrial organization get more job satisfaction.

PURPOSE :

The main purpose of the study was to find out the degree of job satisfaction among the workers of public sector and private sector located in Barauni industrial area. Job satisfaction is the most frequently measured variable which is generally used in industrial organizations for making reforms in the work environment. In several studies it had been clearly concluded that work environment served as a major factor of job satisfaction.

HYPOTHESIS :

It was hypothesised that workers of public and private sector would differ significantly in job satisfaction.

METHODOLOGY :

(a) Sample :

Sample consisted of 100 workers including 50 from the public sector (Barauni Thermal Power Station) and 50 from private sector; 25 from universal hydrocarbon factory and 25 from Mahabir Petro Products.

	Name of organization	No. of sub
Public sector	Barauni Thermal Power Station	50
Private sector	Universal Hydro Carbon Factory Barauni	25
	Mahabir Petro Products Barauni	25
	N	100

(b) Tools :

(i) Personal Biodata-sheet-indicating name, age, sex, experience, etc.

(ii) Job Satisfaction Instrument (JSI) : constructed and standardized by Mishra, Tiwari and Pandey was used to measure job satisfaction level of the subject. The reliability co-efficient of JSI was .78 (Split-half) and .69 (test-retest), respectively.

(c) Research Design : The entire study was divided in two different session – first of all a personal data-sheet was provided to all subjects for getting information regarding age, sex, education, work-experience etc. Secondly, job satisfaction scale was provided to each subject separately and individually.

The study was conducted on 100 workers in total comprising 50 from public sector and 50 from private sector. All the workers were supplied with Job satisfaction scale separately with an instruction to answer all the items carefully. They were also assured of secrecy. They were also asked to ask meaning of items if required.

Results and Discussion :

Results were shown in Table-1 given below.

Table –1

	Name of organization	N	Mean	S.D	df	t-value	P
Public Sector	Barauni Thermal Power Station	50	159.27	22.17			
Private Sector	Universal Hydro Carbon Factory, Barauni	25	102.61	20.16	98	61.12	.01
	Mahabir Petro Products, Barauni	25					
	N =	100					

From figures noted in table-1, it is clear that in Barauni thermal power station the working environment was more congenial in comparison to private sector namely Universal Hydro Carbon Factory, Barauni and Mahavir Petro Products. The average score on job satisfaction scale of workers at Barauni Thermal Power Station were 159.27 whereas the average score of workers in private sector that is in universal Hydro Carbon factory and Mahavir Petro products was 102.61 only. As such there was

clear difference of 56.67 points in the degree of job satisfaction. Public sector provides more opportunity to its workers in participation of decision – making, framing the policy of the organization and betterment of work-environment.

The difference between the mean scores of both the groups was highly significant beyond .01 level of significance.

Summary and Conclusion :

The present study was conducted on 100 workers selected from Barauni Thermal Power Station, Universal Hydro Carbon factory and Mahavir Petro Products. Barauni Thermal Power Station, a unit of Bihar state electricity Board is a public sector where 50 workers were selected in random order, in which each and every worker of the organization had equal chances of being selected. Likewise, workers from universal Hydro Carbon factory and Mahavir petro products 50 workers were selected randomly, 25 from each.

Job satisfaction scale was applied on all the above mentioned 100 subjects individually. The result and discussion clearly showed that workers in public sector had better job satisfaction in comparison to the workers of private sector. As such the Hypothesis was confirmed in the present study.

References :

- Edmin. A. Lacke (1976) : “The nature and causes of job satisfaction” in Malvin D. Dunnette (Ed) *Handbook of Industrial Organizational Psychology*.
- Mishra, R.S. Tiwari, M. Pandey D.H. (2010) : Job Satisfaction Instrument (Revised), *M/S National Psychological Corporation*, Agra-282004
- Singh M. and Peston Jee D.M. (1980) : Job involvement sense of Participation and job satisfaction : A study in Banking Industry, *Indian Journal of Industrial Relation*, 26, 159, 169.
- W-Clay Harper and Dennil W. Organ (1979) : Organizational behaviour, *An Applied Psychological Approach*.
- Weaver C.N. (1980) : Job satisfaction in the United States in 1970's, *Journal of Applied Psychology*, 50, 41, 50.
- Luthans, F (1995) : *Organizational Behaviour* (7th Ed) New Delhi, McGraw Hill.
- Judge, T.A. & Church A.H. (2000) : *Industrial and Organizational Psychology* (P.P. 166-198) Oxford, UD : Black well.
- Kaha, R.L. et al (1975) : Organizational stress studies; in Role conflict and Ambiguity, *Journal of Applied Psychology*, 59, PP. 334-339.
- Kumari, P. and Singh, A.P. (2000) : Life stress and some personality variable : A comparison of working women and House winger; *Journal of the Indian Academy of Applied Psychology*, Vol. 2G No. 1-2, PP 25-31.
- Lazarus R.S. (1960) : *Psychological stress and the coping process* : New York, McGraw Hill.



FEMININE PERSPECTIVE IN THE PLAYS OF JOHN OSBORNE

□ Suman Mohan

John Osborne (1929-1994), the English dramatist, after leaving school at 16, tried his hand at journalism, but soon turned to acting, a profession that he pursued for ten years. During this period, he was engaged in writing as well. Osborne is an autobiographical playwright. He interprets his own concerns, beliefs and desires in his plays. Hence, his plays are mostly centered upon his own experiences.

The Second World War was a great shock for Britain resulting in profound changes in values and attitudes of the people. There was a great impact on family, marriage and sex. The young generation was depressed, wanted something new at every sunrise. Hence, the outcry of anger didn't come from the sky, it was the part of the intellectual atmosphere of the 1950's. The realities of life were handled by a large number of other playwrights also like Wesker, Backet and Pinter.

Television influenced the stage and proved favourable for the theatre. The plays of John Osborne have a kind of intensity rarely found in any modern playwright. His first play *Look Back in Anger* (1956) catapulted him into fame. This play has been called by Christopher Innes as 'an autobiography'. The married life of John Osborne and his wife, Pamela is presented through Jimmy Porter and Alison. In addition to it, in his childhood, he had watched the rude behaviour of his mother and could not erase away the memory of his observations. In his truly controversial way, John Osborne projects the image of women, which is generally held in a male dominated society. Jimmy Porter has got right to pour out his anger on his wife. Instead of letting time heal the wound that had occurred in his childhood, Jimmy feels that the torture inflicted by him upon his wife would teach her to feel the same pain that he had experienced in his life. Not only this, he convinces his wife to conceive and then to lose her child so that she may come to realise and understand his agony. When he comes to know (through Helena) that Alison is going to have a baby, his reaction is:

*"I don't care if it has two heads...And you think I should be overcome with awe because that cruel, stupid girl is going to have a baby...
(p73)*

Finally, he realizes that a happy married life with his wife would help him to get over all problems. In this context, the conversation between Alison and Jimmy can be observed:

*“Alison: Well, you’re a jolly super bear too. A really marvellous bear.
Jimmy: Bears and squirrels are marvellous.
Alison: Marvelous and beautiful”.* (p34)

Helena leaves Jimmy when Alison returns because through the experiment of her affair with him, she wants reconciliation between Jimmy and Alison. Her success in this experiment shows supremacy of female and happy ending of the play is noted. *In the Entertainer (1957)*, again post war British society is depicted. Archie Rice is an unsuccessful entertainer and a sufferer of loneliness. He is unfit as an artist and as a human being in the family. Archie’s frustration not only expresses his emotive feelings but also the fact that he and his wife are not truly compatible. He is not devoid of emotions, but the problem with him is that he can’t communicate his emotions fluently and convincingly.

Archie Rice continues railing against his wife because she is frigid and he couldn’t get rid of her twenty years ago. But the old harsh facts automatically show that one can’t hold on to a woman for 20 long years and can continue the conjugal relationship and then complain about frigidness. Thus, Archie’s ranting about the stupidity and frigidity does not necessarily etch out Phoebe’s character. It is only due to inadequate communication of emotions and feelings with his wife. A note of nostalgia felt by Archie in the play is worth noted:

“Come on love, pull yourself-together, that is what we should have done years ago.....Let’s pull ourselves together and happier we’ll be!” (p58)

Archie Rice asks the audience for the response he is not getting in his domestic life. In the end, Phoebe waits for him on the stage to give him his coat and hat and Archie staggers off the stage to seek solace in her arms. He realizes that his full and enduring relationship with his wife can be continued only by sharing both, the pleasures and the darker side of life too.

Similarly, Osborne’s *Luther* (1961) is based on the life of Martin Luther, the German reformer swimming against the currents of customs, religions etc. in the society. Martin feels lack of encouragement and admiration from his father. He is always conscious of his father’s disapproval over everything. There, he needs his mother for the support. It shows that the root cause of his depression or despair is due to lack of his mother in his life. He becomes a sufferer of mental strain and helplessness, he is pathetic and completely isolated figure. In the moments of helplessness, he tries to adopt the path of religion and ask for the same from God. Martin describes three ways out of despair to Staupitz:

“One is faith in Christ, the second is to become engaged by the world and make its nose bleed for it, and the third is the love of women”.

The third one is to be laid emphasis because Luther has always been in want of love of woman either by his mother or by his wife. He has been missing his mother and her affection since his childhood. Hence, he seeks affection in the arms of

his nun. At the end of the play, he calls on his wife to drag him out of despair. Here, it is noted that moral support of either mother or wife is unwarily wonderful to the males. *Time Present* (1968) is Osborne's first play that has a female protagonist, Pamela. She cannot adjust herself with her 'feeble' husband like Murray, who is 'spineless'. Pamela undergoes a lot of sufferings in her pregnancy, but there is no effect on Murray that he might be the father of the child, rather he has an affair with Constance, the very near friend of Pamela. This shows the fickleness of male's mind. And that is why Pamela rejects her husband. This shows her supremacy over Murray. According to Pamela, "Marriage must be pretty academic too." (p32) Pamela tries to prove that she can do every good task without the company of a male. In this way she is free to do any work and can earn name. She is not incomplete without a male. John Osborne has tried to show in his plays that in lack of love and response from a female's side, a male becomes frustrated, but it is not the case with females. They can flourish even in the absence of their support. They are always optimists. In the plays of John Osborne, it is noted that because of talent and will power women flourish, but males become pessimist when they don't get their desired response.

Hotel in Amsterdam (1968) presents group of four cheerful & satisfied couples sharing each other's happiness. Margaret is optimist and her pregnancy causes a little more joy to her. The couples are making merry in a relaxing atmosphere. These are 'blessed days' for them. Though they have certain anxieties, but taken as normal routine of life, is shared by everyone to find a unanimous solution. Hence, everyone is cheerful because he is with his spouse.

In the same way, in *A Place Calling Itself Rome* (1973), Osborne's Coriolanus is influenced by his mother. She is a support in the matter of taking decisions. In the play, volumnia's character is of a typical mother. She reminds him of his duty as a husband and as a father. She prohibits her son to go in the war because its end is uncertain. She makes him aware of his duty towards Rome:

"No, don't go in this way. You know, my son, the general, the end of any war's uncertain, but this much is certain, that if you do overcome Rome, there will be no name like Coriolanus written in it for you. All that will be said is fine he may have been but his last expedition was no less of a ruin than his own country, think of a name for that. Have you nothing to say? Do you think it a good thing for a man like yourself only to remember wrong?" (p73)

The End of Me Old Cigar (1975) expresses the abnormalities of men, may be due to the evil powers of materialistic value that have ruined true love. Hence, sacredness of marriage is also vanished from the society, due to which women are the sufferers. To be treated as a human being and have equal rights has been desired by the women. Importance and status of a woman in 20th century is mainly stressed here by Osborne. A woman is 'half the world', says Regine. She says:

"Remember, think of us. Us. Women. Half the world. That rocked the cradle could bring down the chap for all time..." (p20)

In the play, Regine's assertion is that men are totally dependent on women and in return women are ill-treated by men. Hence, they are annoyed and raise their voice to make men of their own kind:

"We'll make our own paradise. Our own kind of men." (p27)

Jog wants a true lover who may love her from the core of his heart and can give her importance and realise her identity. She wants to kick out such males who use women only for their physical hunger. Len's assertion about marriage is:

"Marriage should be a vision of excellence. EXCELLENCE!!" (p50)

In this way, we see that the feminine aspects of the plays of John Osborne are interwoven with feelings having great emotional depth. Women are blamed for the cause of frustration and failure for which, Osborne's autobiographical elements are also responsible to some extent. But women play vital roles in one's life. They have always been supportive. They have tremendous power to share one's despair and dejection and convert them into amazing fabulous moments. This is what Osborne has tried to present in his plays and ultimately the fact is realised by the sufferers at the end.

References:

1. Osborne, John. Look Back in Anger, Faber & Faber Ltd., London, 1956
2. Osborne, John. The Entertainer, Faber & Faber Ltd., London, 1957
3. Osborne, John. Luther, Faber & Faber Ltd., London, 1961
4. Osborne, John. Time Present, Faber & Faber Ltd., London, 1968
5. Osborne, John. Hotel in Amsterdam, Faber & Faber Ltd., London, 1968
6. Osborne, John. A Place Calling Itself Rome, Faber & Faber Ltd., London, 1973
7. Osborne, John. The End of Me Old Cigar, Faber & Faber Ltd., London, 1975
8. Osborne, John. Almost a Gentleman-An Autobiography: Vol. II, 1955-1966 Faber & Faber, 1991.
9. Osborne, John. A Better Class Person-An Autobiography: 1929-1956 London, Faber, 1981.
10. Gomez, Christine: The Alienated Figure in Drama, From Shakespeare to Pinter, Reliance Pub. House, New Delhi 1991.
11. Nicol, Allardyce: 'Somewhat in a New Dimension' in Stratford-Upon-Avon Studies; Contemporary Theatre. Edward Arnold (pub.) Ltd. London, 1962.
12. Chambers, Colin & Prior, Mike: Playwright's Progress, Patterns of Postwar British Drama, Amber Lane, Press, 1987.
13. Innes, Christopher: "John Osborne: The rhetoric of social alienation" in Modern British Drama 1890 to 1990, Cambridge University Press, 1992



Work Salience and Job Involvement Among Bank Employees

□ Sunil Kumar Singh

A study was conducted to get a comparative picture of work salience and Job involvement among nationalized and non-nationalized Bank employees of India. The employees of nationalized and non-nationalized Bank differ with regard to their service conditions and promotional opportunity. Nationalized Bank are managed and maintained by Central Government, whereas non-nationalized Banks have been left at the mercy of managing committees. The employees of non-nationalized Banks have negligible avenue of promotion whereas in nationalized Banks every employees gets at least promotions. Based on this differential modes of service conditions and promotional avenue it was hypothesized that nationalized and non-nationalized Banks employees would significantly differ with regard to work salience and involvement. The findings of the study were in the hypothesized direction.

Growing decline in educational standard has become a matter of concern for leaders, administrators and social scientists. The leaders have been occurring the employees for their lack of motivation commitment and devotion. The employees on the other land have been blaming the Government for not creating an academic environment conducive to proper education, poor job conditions, lack of promotional opportunity and interior wage structure, have dampened their spirit. The basic question in this regard is do we have employees having strong work motivations what importance do the employees attach to their primary work ?

The term work salience has been interchangeably expressed as work commitment (Nevill & Super, 1984), Work motivation (Pareek, 1974), work involvement (Kanungo, 1981), work values (Rao, 1974), Job involvement (Lodah & Kejner, 1965). There is an agreement among social scientists that work salience has cognitive, affective and activity components. But work involvement consists only activity and affective components. The affective component is regarded as Commitment while the activity component is regarded as ‘participation’.

In India there are two types of Banks, namely nationalized and non-nationalized Bank. Nationalized Banks are maintained and managed by the India government directly. Whereas, non-nationalized Banks are managed by the private committees. The employees

of nationalized Banks are granted time bound promotion. Whereas the employees of non-nationalized Banks are deprived of this promotional avenue.

Hypothesis :

Since these two different types of Banks have different mode of salary payment and promotional opportunities it was hypothesized that the employees of these two types of Banks would differ with regard to work culture and work involvement. The employees of nationalized Banks would show better work culture and quality would be involved in their primary work as compared to this employees in non-nationalized Banks.

Method :

(a) Sample : The sample of this investigation consists Bank employees, (N=400) of Patna town namely, Central Bank of India, SBI, Allahabad Bank (Nationalised) and Axis Bank, HDFC, ICICI (Non-nationalised) 200 from each Bank.

(b) Instruments :

(i) The Job satisfaction instruments : Affective component is a major component of work culture. Higher satisfaction on one’s job means the person is deriving pleasure from his job. To measure job satisfaction a Hindi version (Mishra, et al, undated) of this scale was administered.

(ii) Job Involvement Scale : Following the rating scale of (Odal and Kejner 1965), Job involvement of the Bank employees in different life areas was measured.

Result and Discussion :

The obtained results are presented in Table-1 & 2.

Table-1

Mean, SD and t-value of Nationalised and Non-Nationalised Bank employees with Job Satisfaction

Group	N	Mean	SD	t-value (df = 398)	p-value
Nationalized Bank Employees	200	12.96	2.63	14.30	.01
Non-nationalized Bank Employees	200	9.41	2.29		

It appears from Table-1 that the two groups of Bank employees, namely Nationalized Bank Employees and Non-Nationalized Bank Employees differ significantly with regard to job satisfaction ($t=14.39$, $df= 398$, $p =.01$). The findings reveal that nationalized Bank employees are more satisfied with their Job as compared to their counter parts in Non-nationalized Bank employees.

Both the groups of Bank employees were compared with regard to their scores on job involvement which is presented in Table-2.

Table-2

Mean, SD and t-value of Nationalised and Non-Nationalised Bank employees with Job Involvement

Group	N	Mean	SD	t-value (df = 398)	p-value
Nationalized Bank Employees	200	12.88	3.02	10.49	.01
Non-nationalized Bank Employees	200	0.74	2.69		

Table-2 shows that the Nationalized Bank Employees scored higher on job involvement Scale (M = 12.88) than the Non-Nationalized Bank Employees (M = 9.74). In order to examine the significance of difference between nationalized and non-nationalized Bank Employees scores as job involvement scale t-ratio was worked out. The findings shows that the two group of Bank employees differ significantly with regard to job involvement (t = 10.49, df = 308, p = .01). Thus it is obvious that Nationalized Bank Employees attach more importance to their primary work as compared to Non-nationalized Bank Employees.

The findings of this study suggest that the difference between employees of nationalized and non-nationalized Bank Employees with regard to job satisfaction and job involvement is because of the differential modes of management and promotional opportunity order to enhance the satisfaction level and degree of job involvement among Non-nationalized Bank Employees it is essential that they should be freed from private management system and all facilities available to Nationalized Bank Employees should be extended to Non-nationalized Bank Employees also.

References :

- Kanungo, R.N. (1981) : “Work alienation and involvement problems and prospects”, *International Review of Applied Psychology*, 30, 1-15.
- Lodal, T.M. and Kejner, M. (1965) : “The definition and measurement of job involvement”, *Journal of Applied Psychology*, 49, 24-33.
- Mishra, R.S., Tiwari, M.D., Pandey, D.N. (undated) : *Agra Psychological Research Cell*, Tiwari Kothi Belanganj.
- Nevill, Dorothyd & Super, D.E. (1984) : Career maturity and commitment to work and home in college students, *Unpublished Manuscript*, Gainesville, Floride, University of Florida.
- Pareek, U. (1974) : “A conceptual model of work motivation”, *Indian Journal of Industrial Relations*, 10, 15-32.
- Rao, T.V. (1974) : “Work values patterns of Indian Medical Students”, *British Journal of Medical Education*, 8, 224-29.






satraachee